

हे नारद ! जल की अपेक्षा तेज अधिक श्रेष्ठ है । जिस समय यह वायु तत्त्व को निश्चल करके आकाश को चारों ओर से तस करता है, तब सभी कहते हैं कि गर्मी बहुत अधिक हो रही है, ताप बहुत बढ़ रहा है, अब वर्षा होगी । वह तेज ही सर्वप्रथम प्रकट होता है, तत्पश्चात् जल की रचना करता है । तेज ऊर्ध्व एवं तिर्यक् दिशा की ओर गमन करते हुए विद्युत् के साथ गर्जना करता है । इस तेज से ही विद्युत् प्रकट होती है, गर्जना होती है तथा प्रायः लोग कहते हैं कि वृष्टि होगी । चूँकि तेज सर्वप्रथम स्वयं प्रकट होकर जल की रचना करता है, इस कारण हे नारद ! तुम तेज की ही उपासना करो ॥ १ ॥

स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते तेजस्वी वै स तेजस्वतो लोकान्भास्वतोऽपहततमस्कान-  
भिसिद्ध्यति यावत्तेजसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते ऽस्ति  
भगवस्तेजसो भूय इति तेजसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

(हे नारद !) जो (व्यक्ति) तेज को ब्रह्म के रूप में समझकर उसकी उपासना करता है । वह तेजवान्, प्रकाश और अन्धकार से रहित लोकों को प्राप्त करता है । जहाँ तक तेज की गति है, वहाँ तक उसकी स्वेच्छानुसार गति होती है । नारद जी ने पूछा- भगवन् ! तेज की अपेक्षा कुछ अन्य श्रेष्ठ है क्या ? सनत्कुमार ने कहा- हाँ है, इससे भी श्रेष्ठ है । तब हे भगवन् ! कृपा करके मुझे उसी श्रेष्ठ तत्त्व का उपदेश करें ॥ २ ॥

## ॥ द्वादशः खण्डः ॥

आकाशो वाव तेजसो भूयानाकाशो वै सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युत्रक्षत्राण्यग्नि-  
राकाशेनाह्वयत्याकाशेन शृणोत्याकाशेन प्रतिशृणोत्याकाशो रमत आकाशो न रमत आकाशो  
जायत आकाशमभिजायत आकाशमुपास्वेति ॥ १ ॥

(हे नारद !) तेज से भी अधिक उत्कृष्ट आकाश है । आकाश में ही सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत्, नक्षत्र एवं अग्नि स्थित हैं । आकाश द्वारा ही हम आपस में एक दूसरे को बुलाते हैं, आकाश द्वारा ही श्रवण करते हैं । आकाश के माध्यम से ही प्रतिश्रवण करते हैं । आकाश में ही सभी क्रीड़ा करते और नहीं भी करते हैं । (सभी पदार्थों) की उत्पत्ति आकाश में ही होती है तथा आकाश में ही (जीव एवं अङ्गुर) अभिवर्द्धित होते हैं । अतः हे नारद ! तुम आकाश तत्त्व की ही उपासना करो ॥ १ ॥

स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्त आकाशवतो वै स लोकान्प्रकाशवतोऽसं-  
बाधानुरुग्यवतोऽभिसिद्ध्यति यावदाकाशस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य  
आकाशं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आकाशाद्वय इत्याकाशाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे  
भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

(हे नारद !) जो व्यक्ति आकाश को 'यही ब्रह्म है' ऐसा मानकर उसकी उपासना करता है । वह प्रकाशवान्, आकाशवान्, कष्टरहित तथा अति विस्तृत लोकों को प्राप्त करता है । जिस क्षेत्र तक आकाश की सीमा है, वहाँ तक उसकी स्वेच्छा से गति (पहुँच) हो जाती है । (ऐसा सुनकर नारद जी ने प्रश्न किया- ) हे भगवन् ! क्या आकाश से भी श्रेष्ठ है ? सनत्कुमार ने कहा- हाँ है, आकाश से भी श्रेष्ठ है । (नारद जी ने कहा- ) तो भगवन् ! कृपा करके मुझे आप उसी तत्त्व का उपदेश करें ॥ २ ॥

## ॥ त्रयोदशः खण्डः ॥

स्मरो वावाकाशाद्बूयस्तस्माद्यद्यपि बहव आसीरन्न स्मरन्तो नैव ते कंचन शृणुयुर्न  
मन्वीरन्न विजानीरन् यदा वाव ते स्मरेयुरथ शृणुयुरथ मन्वीरन्नथ विजानीरन् स्मरेण वै  
पुत्रान्विजानाति स्मरेण पशून् स्मरमुपास्वेति ॥ १ ॥

हे नारद! स्मरण आकाश से अधिक श्रेष्ठ है। इसी से जहाँ बहुत से व्यक्ति (किसी स्थान विशेष पर) बैठे हुए हों; किन्तु फिर भी स्मरण न करने पर वे सभी न कुछ सुन सकने में, न मनन कर सकने में और न ही कुछ विशेष जान सकने में समर्थ हो सकते हैं, जब वे सभी स्मरण करते हैं, तभी वे सुन सकने में समर्थ हो सकते हैं, तभी मनन और विशेष जानकारी प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं। स्मरण मात्र से ही मनुष्य अपने बच्चों और पशुओं को पहचानता है। (इसलिए हे नारद!) तुम स्मरण की उपासना करो ॥ १ ॥

स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते यावत्स्मरस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः  
स्मरं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः स्मराद्बूय इति स्मराद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे  
भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

(हे नारद!) जो (व्यक्ति) स्मरण (स्मर) की 'यही ब्रह्म है' अर्थात् ब्रह्म रूप में उपासना सम्पन्न करता है। जहाँ तक (स्मर) स्मरण का विषय (सीमा) है, वहाँ तक उस (व्यक्ति) की गति (पहुँच) हो जाती है। (इस प्रकार सुनने के पश्चात् नारद जी ने प्रश्न किया-) हे भगवन्! क्या स्मरण से भी श्रेष्ठ कुछ है? (तब सनकुमार जी ने कहा-) हाँ है, इससे भी श्रेष्ठ है। नारद बोले- हे भगवन्! कृपा करके उसी श्रेष्ठ तत्त्व का उपदेश करने की कृपा करें ॥ २ ॥

## ॥ चतुर्दशः खण्डः ॥

आशा वाव स्मराद्बूयस्याशेद्ब्दो वै स्मरो मन्त्रानधीते कर्मणि कुरुते पुत्रांश्च  
पशूःश्वेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छत आशामुपास्वेति ॥ १ ॥

हे नारद! स्मरण की अपेक्षा आशा कहीं अधिक श्रेष्ठ है। आशा द्वारा ही वृद्धि को प्राप्त हुआ स्मृतिभूत वह (व्यक्ति) स्मरण करता हुआ ही मन्त्रों के पाठ में संलग्न होता है। अपने कर्मों में रत हुआ पुत्र एवं पशुओं की तथा लोक एवं परलोक की भी इच्छा करता रहता है। (अतः हे नारद!) तुम इस श्रेष्ठतर वस्तु आशा की उपासना करो ॥ १ ॥

स य आशां ब्रह्मेत्युपास्त आशायास्य सर्वे कामाः समृद्ध्यन्यमोघा हास्याशिषो  
भवन्ति यावदाशाया गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आशां ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव  
आशाया भूय इत्याशाया वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

(हे नारद!) जो व्यक्ति आशा को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, उसके सभी उद्देश्य आशा के माध्यम से पूर्ण होते हैं। प्रायः उसकी प्रार्थना सफल होती है। जहाँ तक आशा की गति (सीमा) है, वहाँ तक उस व्यक्ति की इच्छानुकूल पहुँच हो जाती है। (नारद जी ने पूछा-) हे भगवन्! आशा से भी क्या अधिक श्रेष्ठ कुछ होता है? (सनकुमार ने कहा-) हाँ है, आशा से भी अधिक श्रेष्ठ है। तब भगवन्! मुझे उसी श्रेष्ठ तत्त्व का उपदेश करें ॥ २ ॥

## ॥ पञ्चदशः खण्डः ॥

प्राणो वा आशाया भूयान्यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वं समर्पितं प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति । प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः ॥ १ ॥

(हे नारद !) प्राण आशा से अधिक श्रेष्ठ है । जिस तरह रथ के पहिये के केन्द्र में 'अरे' प्रतिष्ठित रहते हैं, ठीक उसी तरह प्राण तत्त्व में सम्पूर्ण विश्व समाहित है । प्राण अपनी ही शक्ति द्वारा प्रस्थान करता है, समाहित प्राण ही प्राण को प्रदान करता है तथा प्राण के लिए ही प्रदान करता है । प्राण ही पिता, प्राण ही माता, प्राण ही भाई, प्राण ही बहिन, प्राण ही आचार्य तथा प्राण ही श्रेष्ठ ब्राह्मण है ॥ १ ॥

स यदि पितरं वा मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं वाचार्यं वा ब्राह्मणं वा किंचिद् भृशमिव प्रत्याह धिक्त्वाऽस्त्वत्येवैनमाहुः पितृहा वै त्वमसि मातृहा वै त्वमसि भ्रातृहा वै त्वमसि स्वसृहा वै त्वमस्याचार्यहा वै त्वमसि ब्राह्मणहा वै त्वमसीति ॥ २ ॥

यदि कोई (व्यक्ति) अपने पिता, माता, भाई, बहिन, आचार्य अथवा ब्राह्मण के प्रति अशिष्टतापूर्ण व्यवहार करता है, तो उसको देखने एवं सुनने वाले उसे अपमानित करते हुए कहते हैं कि तुझे धिक्कार है । सचमुच ही तू अपने माता व पिता को मारने वाला है, भ्रातृघाती है, बहिन की हत्या करने वाला है, आचार्य का हनन करने वाला है और तू निश्चय ही ब्रह्मघाती है ॥ २ ॥

अथ यद्यप्येनानुक्रान्तप्राणाञ्छूलेन समासं व्यतिषं दहेन्नैवैनं ब्रूयुः पितृहासीति न मातृहासीति न भ्रातृहासीति न स्वसृहासीति नाचार्यहासीति न ब्राह्मणहासीति ॥ ३ ॥

परन्तु जिन लोगों के प्राण निकल गये हैं, उन माता, पिता आदि समस्त परिवारीजनों को यदि वह व्यक्ति शूल से संहत कर एवं छिन्न-भिन्न करके जला देता है (कपाल क्रिया आदि करता है), तो भी उसे कोई यह नहीं कहता है कि तू पिता का हत्यारा, माता का हत्यारा, भाई का हत्यारा, बहिन का हत्यारा एवं आचार्य का घात करने वाला है अथवा ब्रह्म का घाती है ॥ ३ ॥

प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति तं चेदब्रूयुरतिवाद्यसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापहृवीत ॥ ४ ॥

(हे नारद !) इस प्रकार माता-पिता आदि के रूप में प्राण ही हौते हैं । इसलिए जो (व्यक्ति) प्राणों को इस तरह से अनुभव करता है, चिन्तनयुक्त एवं दृढ़ निश्चयी होता है, वही 'अतिवादी' कहा जाता है । यद्यपि कोई भी उसे 'अतिवादी' कहे, तो फिर उसे यह स्वीकार करना चाहिए कि वास्तव में मैं अतिवादी हूँ । इस तथ्य को उसे छुपाना नहीं चाहिए ॥ ४ ॥

## ॥ षोडशः खण्डः ॥

एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानीति सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति सत्यं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

(हे नारद !) जो व्यक्ति सत्य के कारण अतिवाद करता है, वह अवश्य ही अतिवाद करने वाला है । (तब नारद जी ने कहा) - हे भगवन् ! मैं तो सत्य के कारण ही अतिवाद करता हूँ ।

(सनत्कुमार जी ने कहा-) सत्य को विशेष रूप से जानना चाहिए। (नारद जी ने कहा-) हे भगवन्! मैं विशेष प्रकार से सत्य को ही आत्मसात् करता हूँ॥ १ ॥

## ॥ सप्तदशः खण्डः ॥

यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति नाविजानन् सत्यं वदति विजानन्नेव सत्यं वदति विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति । विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

(सनत्कुमार जी ने कहा- हे नारद!) जब व्यक्ति सत्य को विशेष रूप से जानने में समर्थ हो जाता है, तब वह सत्य भाषण करता है। बिना जाने वह सत्य नहीं बोलता, वरन् विशेष रूप से जानने वाले सत्य का ही प्रतिपादन करता है। इसलिए हे नारद! विज्ञान की ही विशेष रूप से जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। (नारद जी ने कहा-) हे भगवन्! मैं विशेष प्रकार से सत्य को ही आत्मसात् करता हूँ॥ १ ॥

## ॥ अष्टादशः खण्डः ॥

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति नामत्वा विजानाति मत्वैव विजानाति मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति । मतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

(सनत्कुमार जी ने नारद जी को समझाते हुए कहा- हे नारद!) जब मनुष्य मनन करता है, तब कुछ विशेष जानकारियाँ प्राप्त करने में सक्षम होता है। बिना मनन किये कोई भी व्यक्ति कुछ भी नहीं जान पाता, वरन् मनन करने के पश्चात् ही जान पाता है। इसलिए हे नारद! विशेष रूप से मति की ही जिज्ञासा करनी चाहिए। (नारद जी ने कहा-) हे भगवन्! मैं मति के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त करने की इच्छा करता हूँ॥ १ ॥

## ॥ एकोनविंशः खण्डः ॥

यदा वै श्रद्धात्यथ मनुते नाश्रद्धधन्मनुते श्रद्धदेव मनुते श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येति श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

(सनत्कुमार जी ने कहा- हे नारद!) (जब मनुष्य को किसी व्यक्ति, वस्तु या स्थान विशेष के प्रति) श्रद्धा उत्पन्न होती है, तब वह मनन करता है, श्रद्धा के अभाव में वह मननशील नहीं हो सकता। श्रद्धालु (व्यक्ति) ही मननशील हो सकता है। इसलिए हे नारद! श्रद्धा को ही विशेष रूप से जानने की इच्छा करनी चाहिए। (नारद जी ने कहा-) हे भगवन्! मैं श्रद्धा के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान की इच्छा करता हूँ॥ १ ॥

## ॥ विंशः खण्डः ॥

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्धाति नानिस्तिष्ठञ्छ्रद्धाति निस्तिष्ठन्नेव श्रद्धाति निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येति । निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

(सनत्कुमार जी ने देवर्षि नारद जी से कहा-) हे नारद! जब मनुष्य की (किसी व्यक्ति विशेष के प्रति) निष्ठा (जाग्रत्) होती है, तभी वह उसके प्रति श्रद्धावनत होता है, निष्ठा के अभाव में कोई भी (व्यक्ति) श्रद्धायुक्त नहीं होता; बल्कि निष्ठावान् (व्यक्ति) ही श्रद्धा करने वाला होता है, (इसलिए हे नारद!) निष्ठा को ही विशेष रूप से जानने की इच्छा करनी चाहिए। (नारद जी ने कहा-) हे भगवन्! मैं निष्ठा को विशेष रूप से जानने की इच्छा करता हूँ॥ १ ॥

## ॥ एकविंशः खण्डः ॥

यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति नाकृत्वा निस्तिष्ठति कृत्वैव निस्तिष्ठति कृतिस्त्वैव  
विजिज्ञासितव्येति । कृतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

(सनत्कुमार जी ने कहा- हे नारद !) जब मनुष्य कोई कार्य विशेष करता है, तब वह (उसके प्रति) निष्ठावान् हो जाता है । बिना कार्य किये (व्यक्ति) की निष्ठा (उत्पन्न) नहीं होती । मनुष्य कर्म करने पर ही निष्ठावान् होता है । इसलिए (हे नारद !) कृति (अर्थात् इन्द्रियों का संयम और चित की एकाग्रता) को विशेष रूप से ज्ञानने की इच्छा करनी चाहिए । (नारद जी ने कहा- ) हे भगवन् ! मैं कृति को ही विशेष रूप से ज्ञानने की इच्छा करता हूँ ॥ १ ॥

## ॥ द्वाविंशः खण्डः ॥

यदा वै सुखं लभते ऽथ करोति नासुखं लब्ध्वा करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति  
सुखं त्वैव विजिज्ञासितव्यमिति । सुखं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

(सनत्कुमार जी ने कहा- हे नारद !) जिस समय व्यक्ति को सुख की प्राप्ति होती है, उस समय वह कर्म करता है, सुख के अभाव में कोई भी व्यक्ति कार्य नहीं करता, वरन् सुख प्राप्त करके ही (कुछ विशेष पाने की आशा) करता है । (इसलिए हे नारद !) सुख को ही प्राप्त करने की तथा उसे विशेष रूप से ज्ञानने की इच्छा करनी चाहिए । (नारद बोले- ) हे भगवन् ! मैं सुख प्राप्ति की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करता हूँ ॥

## ॥ त्रयोविंशः खण्डः ॥

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वैव विजिज्ञासितव्य इति  
भूमानं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

(सनत्कुमार जी ने कहा- ) हे नारद ! निश्चय ही जो भूमा (महान्, निरतिशय) है, वही सुख है । अल्प में सुख नहीं है । भूमा ही सुख स्वरूप है । (अतः हे नारद !) भूमा की ही विशेष रूप से ज्ञानने की इच्छा करनी चाहिए । (नारद जी ने कहा- ) हे भगवन् ! मैं भूमा (निरतिशय) को ही विशेष रूप से ज्ञानने की इच्छा करता हूँ ॥ १ ॥

## ॥ चतुर्विंशः खण्डः ॥

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्य-  
त्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यः स भगवः  
कस्मिन्प्रतिष्ठित इति । स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति ॥ १ ॥

(सनत्कुमार जी नारद जी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं- हे नारद !) जहाँ अन्य कुछ न देखता है, न अन्य कुछ सुनता है और न ही अन्य कुछ जानता है, वही भूमा है; परन्तु इसके विपरीत जहाँ अन्य कुछ देखता है, अन्य कुछ सुनता है तथा कुछ अन्य जानकारी रखता है, वह अल्प है । इस प्रकार से जो भूमा है, वही अमृत है तथा जो अल्प है, वह ही मर्त्य है । (नारद जी ने पूछा- ) हे भगवन् ! भूमा किसमें स्थित है ? (सनत्कुमार जी ने कहा- ) भूमा अपनी महिमा में स्थित है और वास्तव में तो वह उसमें भी स्थित नहीं है अर्थात् वह अवलम्बन रहित है ॥ १ ॥

गोअश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्य क्षेत्राण्यायतनानीति नाहमेवं  
ब्रवीमि ब्रवीमीति होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति ॥ २ ॥

(हे नारद !) इस संसार में तो गौ, अश्व आदि को ही महिमा कहा जाता है। साथ ही हाथी, सुवर्ण, दास, भार्या (पत्नी), भूमि (क्षेत्र) और घर आदि को भी महिमा के नाम से जाना जाता है; किन्तु यह मेरा कथन नहीं है, क्योंकि अन्य पदार्थ अन्य में स्थित होता है - मैं तो यही कहता हूँ। इस प्रकार से सनत्कुमार जी ने नारद जी से कहा ॥ २ ॥

[ सनत्कुमार जी लौकिक महिमा और भूमा की महिमा में अन्तर भर स्पष्ट करना चाहते हैं, वैसे आगे भूमा के बारे में पुनः बतला रहे हैं । ]

## ॥ पञ्चविंशः खण्डः ॥

स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदः सर्व-  
मित्यथातोऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतो-  
ऽहमुत्तरतोऽहमेवेदः सर्वमिति ॥ १ ॥

(हे नारद !) वही (भूमा) नीचे है, वही ऊपर है, वही पीछे एवं आगे भी है, वही दायीं ओर और वही बायीं ओर भी है। वह (भूमा) ही यह सब कुछ है। उसी (भूमा) में अहंकारवश (व्यक्तिभाव से) इस तरह से कहते हैं - मैं ही ऊपर, मैं ही नीचे एवं मैं ही दायीं और मैं ही बायीं ओर हूँ। मैं ही दक्षिण की ओर तथा ऊपर की ओर हूँ। मैं ही सभी ओर से विद्यमान हूँ ॥ १ ॥

अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत  
आत्मोत्तरत आत्मैवेदः सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्म-  
रतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराद् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो  
भवति। अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषां सर्वेषु  
लोकेष्वकामचारो भवति ॥ २ ॥

(हे नारद !) इस तरह से सत्य स्वरूप आत्मा के रूप में ही भूमा का आदेश किया जाता है। आत्मा ही आगे-पीछे, दायीं-बायीं ओर व्यास है। यह आत्मा ही सब कुछ है। वह (ज्ञानी पुरुष) इस आत्मा को इस प्रकार से देखने वाला, मनन करने वाला और विशेष रूप से इस भाँति से जिज्ञासा वाला आत्मरति (आत्मा में ही क्रीड़ा करने वाला) और आत्मा में ही मिथुन एवं आत्मा में ही आनन्दानुभूति करने वाला होता है। वह ही स्वराद् (स्वप्रकाशित) है, समस्त भुवनों (लोकों) में उसकी इच्छानुसार गति होती है; किन्तु जो इससे विपरीत देखते हैं, वे ही अन्यराद् और क्षय्यलोक को प्राप्त होते हैं। उन (व्यक्तियों) की स्वेच्छानुसार गति नहीं होती ॥ २ ॥

## ॥ षट्विंशः खण्डः ॥

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत  
आशात्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत  
आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नमात्मतोबलमात्मतोविज्ञानमात्मतो ध्यानमा-

**त्मतश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा  
आत्मतः कर्मण्यात्मत एवेदः सर्वमिति ॥ १ ॥**

सनत्कुमार जी ने कहा- हे नारद ! उस भूमा को जो इस तरह से देखने वाले, मनन करने वाले और जानने वाले विद्वान् होते हैं, उनके लिए आत्मा से प्राण, आत्मा से आशा, आत्मा से स्मृति, आत्मा से ही आकाश, आत्मा से ही तेज, आत्मा से जल, आत्मा से ही प्राकट्य और तिरोभाव, आत्मा से अन्न, आत्मा से बल, आत्मा से विज्ञान, आत्मा से ध्यान, आत्मा से ही चित्त, आत्मा से संकल्प, आत्मा से मन, आत्मा से ही वाणी, आत्मा से नाम, आत्मा से मन्त्र, आत्मा से कर्म और आत्मा द्वारा ही यह सब कुछ हो जाता है ॥ १ ॥

**तदेष श्रोको न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नौत दुःखताः सर्वः ह पश्यः पश्यति  
सर्वमाप्नोति सर्वश इति । स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव  
पुनश्चैकादशः स्मृतः शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिराहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः  
सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलभे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं  
दर्शयति भगवान् सनत्कुमारस्तः स्कन्द इत्याचक्षते तः स्कन्द इत्याचक्षते ॥ २ ॥**

हे नारद ! इस सन्दर्भ में यह श्लोक कहा गया है- विद्वान् (व्यक्ति) न तो मृत्यु को देखता है, न रोग को और न ही दुःख को देखता है । वह विद्वान् सभी को (आत्मा के रूप में) ही देखता है । इसलिए वह सभी को आत्मा के रूप में ही देखता है । इसलिए वह सभी को प्राप्त हो जाता है । पहले वह एक होता है । पुनश्च वह तीन, पाँच, सात और नौ रूपों में विभाजित हो जाता है । फिर वही ग्यारह कहा गया है तथा वही सौ, दस, एक सहस्र और बीस भी होता है । आहार के शुद्ध होने पर अन्तःकरण की शुद्धि हो जाती है, अन्तःकरण की शुद्धि होने पर स्मृति निश्चल होती है और स्मृति के प्राप्त होने पर समस्त ग्रन्थियों की निवृत्ति हो जाती है । इस तरह से जिनकी वासनाएँ क्षीण हो गयी थीं, उन देवर्षि नारद जी को भगवान् योगेश्वर सनत्कुमार जी ने अज्ञानान्धकार से दूर कर आत्मज्ञान का दर्शन कराया । उन योगेश्वर सनत्कुमार जी को "स्कन्द (ऊर्ध्वगामी)" भी कहा जाता है ॥ २ ॥



## ॥ अथ अष्टमोऽध्यायः ॥

### ॥ प्रथमः खण्डः ॥

अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेशम् दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश-स्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ १ ॥

तदनन्तर ब्रह्मपुर (शरीर) के अन्तःक्षेत्र में जो कमल पुष्प के आकार का क्षेत्र है, उसके अन्तर्गत जो अति सूक्ष्माकाश है, उसके अन्तः क्षेत्र में जो तत्त्व विद्यमान है, उसी की खोज करनी चाहिए और उसी श्रेष्ठतम को जानने की इच्छा करनी चाहिए ॥ १ ॥

तं चेदब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेशम् दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति स ब्रुयात् ॥ २ ॥

इसको सुनने के उपरान्त यदि शिष्य उन (आचार्य) से कहे कि इस ब्रह्मपुर में जो कमल के आकार का गृह है और उसमें जो अन्तराकाश है, उसके अन्दर कौन सी वस्तु है, जिसकी कि जिज्ञासा करनी चाहिए ? इस प्रकार से वे आचार्य इन सभी पूछने वाले शिष्यों से कहें ॥ २ ॥

यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति ॥ ३ ॥

जितना विस्तार इस (भौतिक) आकाश का दृष्टिगोचर होता है, उतना ही हृदय के अन्तः का भी है। द्युलोक एवं पृथिवी दोनों पूर्ण रूप से इसके अन्दर समाहित हैं। इसी प्रकार अग्नि एवं वायु, सूर्य और चन्द्रमा, विद्युत् एवं नक्षत्र तथा जो भी कुछ इस लोक में विद्यमान है और जो नहीं है, वह सभी कुछ पूर्ण रूप से इसमें (आत्मा में) प्रतिष्ठित है ॥ ३ ॥

तं चेदब्रूयुरस्मिःश्रेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वः समाहितः सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैतज्जरामाप्नोति प्रध्वःसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ॥ ४ ॥

और यदि उस (आचार्य) से शिष्यगण यह प्रश्न करें कि इस ब्रह्मपुर रूपी शरीर में यदि यह सभी कुछ पूर्णरूपेण विद्यमान है, समस्त प्राणी एवं सभी विषय इसमें ही स्थित हैं, तो जब इस शरीर में वृद्धावस्था का आगमन होता है अथवा यह विनाश को प्राप्त होता है, तो उस समय फिर क्या शेष रह जाता है ? ॥ ४ ॥

स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन्कामाः समाहिता एष आत्मापहतपाप्या विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पो यथा होवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ॥ ५ ॥

तो फिर उस (आचार्य) को कहना चाहिए कि इस (शरीर) की वृद्धावस्था से यह अन्तराकाश जीर्ण नहीं होता। इसके नष्ट हो जाने से उस (ब्रह्म) का नाश नहीं होता। यह ब्रह्मपुर सत्य है, इसमें समस्त इच्छाएँ पूर्ण रूप से स्थित हैं। यह ही आत्मा है, धर्म-अधर्म से शून्य तथा जरारहित, मृत्यु से हीन, शोकरहित, विना भोजन की इच्छा वाला, पिपासाशून्य, सत्य की कामना से युक्त, सत्य

संकल्प वाला है। जिस प्रकार से प्रजा इस लोक में राजा की आज्ञानुसार आचरण करती है तथा देश या प्रदेश की इच्छा करती है, उसी प्रकार से राजा की आज्ञा से जीवन निर्वाह करती है ॥ ५ ॥

**तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते तद्य  
इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येताःश्च सत्यान् कामाःस्तेषाः सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवत्यथ  
य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येताःश्च सत्यान् कामाःस्तेषाः सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥**

जिस प्रकार यहाँ कर्म द्वारा अर्जित लोक नष्ट हो जाता है, उसी तरह परलोक में पुण्य से प्राप्त किये गये लोक भी नष्ट हो जाते हैं। जो लोग इस लोक में आत्मा को तथा इन सभी सत्य कामनाओं को भली-भाँति जाने बिना ही दूसरे लोक को गमन कर जाते हैं, उनकी सभी लोकों में इच्छानुसार गति नहीं होती। जो इस लोक में आत्मा को तथा सत्य युक्त कामनाओं को भली-भाँति जानकर दूसरे लोक को गमन करते हैं, उनकी सभी लोकों में इच्छानुसार गति होती है ॥ ६ ॥

### ॥ द्वितीयः खण्डः ॥

**स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन  
संपन्नो महीयते ॥ १ ॥**

वह यदि (शरीर के परित्याग करने पर) पितृलोक की कामना वाला होता है, तो उसके द्वारा किये गये संकल्प से ही पितृगण वहाँ उपस्थित होते हैं। पितृलोक से सम्पन्न होकर वह महिमा का वर्णन करता है ॥ १ ॥

**अथ यदि मातृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य मातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन मातृलोकेन  
संपन्नो महीयते ॥ २ ॥**

और यदि वह मातृलोक की इच्छा वाला होता है, तो उसकी दृढ़ इच्छा शक्ति से ही माताएँ उपस्थित हो जाती हैं। मातृलोकों के सम्बन्ध से ही वह महिमा का अनुभव करता है ॥ २ ॥

**अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य भ्रातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन भ्रातृलोकेन  
संपन्नो महीयते ॥ ३ ॥**

और यदि वह भ्रातृलोक की इच्छा वाला होता है, तो उसकी प्रचण्ड संकल्प शक्ति से ही समस्त भ्रातृ-समुदाय वहाँ उपस्थित हो जाता है। उस भ्रातृलोक से सम्पन्न होकर वह महान् महिमा को प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

**अथ यदि स्वसृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्वसारः समुत्तिष्ठन्ति तेन  
स्वसृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ४ ॥**

और यदि वह भगिनी लोक की कामना करने वाला है, तो उसकी दृढ़ इच्छा शक्ति से ही बहिनें वहाँ आ जाती हैं। उस भगिनी लोक से युक्त होकर वह महान् वृद्धि को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

**अथ यदि सखिलोककामो भवति संकल्पादेवास्य सखायः समुत्तिष्ठन्ति तेन  
सखिलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ५ ॥**

और यदि वह मित्रों के लोक की कामना करने वाला हो, तो उसके दृढ़ संकल्प बल से ही मित्रगण वहाँ एकत्रित हो जाते हैं। उन मित्रगणों के लोक से सम्पन्न होकर वह महान् वृद्धि को प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

**अथ यदि गन्धमाल्यलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गन्धमाल्ये समुत्तिष्ठतस्तेन  
गन्धमाल्यलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ६ ॥**

और यदि वह गन्धमाल्य लोक की कामना वाला होता है, तो उसके संकल्प बल से ही गन्धमाल्यादि वहाँ एकत्रित हो जाते हैं। उस गन्धमाल्य लोक से सम्पन्न होकर वह महान् वृद्धि को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

**अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति संकल्पादेवास्यान्नपाने समुत्तिष्ठतस्तेनान्नपानलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ७ ॥**

और यदि वह अन्न-जल से सम्बन्धित लोक की इच्छा करने वाला होता है, तो उसके संकल्प से ही अन्न-जल प्राप्त हो जाता है। उस अन्न-जल लोक के सम्बन्ध से ऐश्वर्य का अनुभव करता है ॥ ७ ॥

**अथ यदि गीतवादित्रलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गीतवादित्रे समुत्तिष्ठतस्तेन गीतवादित्रलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ८ ॥**

और यदि वह गीत-वाद्य आदि से सम्बन्धित लोक की कामना करने वाला होता है, तो उसके द्वारा किये हुए संकल्प से ही गीत-वाद्य आदि वहाँ उपस्थित हो जाते हैं। गीत-वाद्य आदि लोक से युक्त वह महान् वृद्धि को प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

**अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्त्रीलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ९ ॥**

और यदि वह स्त्रीलोक की इच्छा वाला होता है, तो उसकी दृढ़ संकल्प शक्ति से ही समस्त स्त्रियाँ वहाँ उसके पास एकत्रित हो जाती हैं। उस स्त्रियों के लोक से युक्त वह वृद्धि को प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

**यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन संपन्नो महीयते ॥ १० ॥**

वह जिस-जिस क्षेत्र या प्रदेश की कामना करता है तथा साथ ही जिस भोग-प्राप्ति की इच्छा करता है, वह सभी कुछ उसके संकल्प मात्र से उसे प्राप्त हो जाता है। उन सभी से युक्त वह महान् महिमा अथवा वृद्धि को प्राप्त होता है ॥ १० ॥

### ॥ तृतीयः खण्डः ॥

**त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानास्तेषां सत्यानां सत्तामनृतमपिधानं यो यो ह्यस्येतः प्रैति न तमिह दर्शनाय लभते ॥ १ ॥**

वे ये सत्यकाम होते हुए भी अनृत (मिथ्या आदि) तृष्णा से आवृत रहते हैं। सत्य होने पर भी अनृत से वे आच्छादित हैं, क्योंकि मनुष्य के जो - जो सम्बन्धी यहाँ से शरीर का परित्याग करके जाते हैं, उन्हें वह पुनः देखने के लिए प्राप्त नहीं कर पाता ॥ १ ॥

**अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेता यच्चान्यदिच्छन्न लभते सर्वं तदत्र गत्वा विन्दते ऽत्र ह्यस्येते सत्याः कामा अनृतापिधानास्तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः ॥ २ ॥**

इसके पश्चात् मनुष्य अपने जीवित या मृत (पुत्रादि) परिजनों को तथा अन्य वांछित पदार्थों को चाहते हुए भी नहीं प्राप्त कर पाता। उन सभी को यह मनुष्य हृदयरूपी आकाश में स्थित ब्रह्म को जानकर प्राप्त कर

लेता है; क्योंकि यहाँ से सत्यकाम मिथ्या से आच्छादित रहते हैं। इस सन्दर्भ में यह उदाहरण है कि जिस प्रकार भूमि में गड़े हुए स्वर्ण के कोष को अनभिज्ञ व्यक्ति उसके ऊपर विचरण करते हुए भी नहीं जानते, ठीक इसी तरह यह समस्त प्रजा नित्य प्रति ब्रह्मलोक को गमन करती हुई, उसे नहीं प्राप्त कर पाती, क्योंकि यह अनृत (मिथ्या) के माध्यम से हरण कर ली गई है ॥ २ ॥

स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तः हृदयमिति तस्माद्वदयमहरहर्वा एवंवित्स्वर्ग लोकमेति ॥ ३ ॥

वह आत्मा हृदय में ही स्थित है। 'हृदय' का अर्थ 'हृदि अयम्' अर्थात् यह हृदय में है। यही इसकी निरुक्ति (व्युत्पत्ति) है। इस तरह से जो व्यक्ति आत्मतत्त्व को हृदय में जानता है, वह प्रतिदिन स्वर्गलोक में ही गमन करता है ॥ ३ ॥

अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभि-  
निष्पद्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम  
सत्यमिति ॥ ४ ॥

यह जो सम्प्रसाद अर्थात् निर्मलता को प्राप्त आत्मा है, वह इस शरीर का परित्याग करके उत्कृष्ट अवस्था (परम ज्योति) को प्राप्त करते हुए अपने मूल स्वरूप में स्थित हो जाता है। यही आत्मा है। यही अमृत और अभय है। यही ब्रह्म है। इस प्रकार आचार्य ने अपने शिष्यों से कहा— उस ब्रह्म का नाम ही सत्य है ॥ ४ ॥

तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतीयमिति तद्यत्सत्तदमृतमथ यत्ति तन्मत्यमथ  
यद्यं तेनोभे यच्छति यदनेनोभे यच्छति तस्माद्यमहरहर्वा एवंवित्स्वर्ग लोकमेति ॥ ५ ॥

उस ब्रह्म के तीन नामाक्षर 'सकार' 'तकार' और 'यम्' हैं। इनमें 'सकार' अमृत है, 'तकार' मर्त्य है और 'यम्' दोनों का नियामक है। चूँकि इसी से वह दोनों का नियमन करता है। अतः 'यम्' को जो भी व्यक्ति इस तरह से जानता है, वह स्वर्गलोकगामी होता है ॥ ५ ॥

## ॥ चतुर्थः खण्डः ॥

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय नैतः सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न  
मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतः सर्वं पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपापा होष ब्रह्मलोकः ॥

पृथ्वी आदि लोकों को महाविनाश से बचाये रखने के लिए यह आत्मा सेतु का कार्य करता है। इस आत्मा रूप सेतु का दिन-रात उल्लंघन नहीं कर सकते। इसे जरा, मृत्यु, शोक, सुकृत और दुष्कृत भी प्रभावित नहीं करते। समस्त पाप इससे दूर हट जाते हैं, क्योंकि यह ब्रह्मलोक पापरहित है ॥ १ ॥

तस्माद्वा एतः सेतुं तीत्वान्धिः सन्ननन्धो भवति विद्धः सन्नविद्धो भवत्युपतापी  
सन्ननुपतापी भवति तस्माद्वा एतः सेतुं तीत्वान्धिः नक्तमहोरेवाभिनिष्पद्यते सकृद्विभातो  
होवैष ब्रह्मलोकः ॥ २ ॥

इसी कारण से इस सेतु रूप आत्मा को प्राप्त करके मनुष्य अन्धा होने पर भी सब कुछ देखता (जानता) रहता है। इसी तरह शोकग्रस्त होने पर भी (वह) शोक मुक्त हो जाता है। रोगग्रस्त होते हुए भी वह निरोगी होता है। इसी कारण से आत्मारूपी सेतु को पार करने के उपरान्त अन्धकाररूपी रात्रि भी प्रकाशरूपी दिन में परिणत हो जाती है, क्योंकि यह ब्रह्मलोक सदैव प्रकाश स्वरूप ही है ॥ २ ॥

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाः सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ३ ॥

इस प्रकार से जो मनुष्य ब्रह्मचर्य के माध्यम से इस ब्रह्मलोक को भली-भाँति समझ लेते हैं। उन लोगों को इस ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। उन्हीं की सम्पूर्ण लोकों में इच्छानुसार गति हो जाती है ॥ ३ ॥

## ॥ पञ्चमः खण्डः ॥

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण होव यो ज्ञाता तं विन्दते १थ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण होवेष्टात्मानमनुविन्दते ॥ १ ॥

इस प्रकार जिसको 'यज्ञ' अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषार्थ का साधन कहते हैं, वही ब्रह्मचर्य है, क्योंकि जो ज्ञाता है, ब्रह्मचर्य के माध्यम से उस ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है। ब्रह्मचर्य को 'इष्ट' भी कहा गया है। वह (इष्ट) भी ब्रह्मचर्य है; क्योंकि ब्रह्मचर्य द्वारा ही पूजित हुआ मनुष्य इच्छानुसार आत्मा को प्राप्त होता है ॥

अथ यत्सत्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण होव सत आत्मनस्त्राणं विन्दते २थ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण होवात्मानमनुविद्य मनुते ॥ २ ॥

जिसे 'सत्रायण' शब्द से जाना जाता है, वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि यज्ञ और इष्ट की भाँति ब्रह्मचर्यरूप साधन द्वारा भी मनुष्य सतरूप परमात्मा से अपनी रक्षा करता है। इसके अतिरिक्त जिसको मौन कहा जाता है, वह भी ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचर्य द्वारा ही आत्मा को जानकर मनुष्य मनन करता है ॥ २ ॥

अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तदेष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येण-नुविन्दते ३थ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्तदरश्च ह वै एयश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरं मदीयः सरस्तदश्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितः हिरण्मयम् ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् जिसे 'अनाशकायन' (कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रत या नष्ट न होना) कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य है, क्योंकि जिसे (साधक को) ब्रह्मचर्य द्वारा प्राप्त होता है, ऐसा यह आत्मा विनाश को नहीं प्राप्त होता। जिसको 'अरण्यायन' (वनवास) कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मलोक में 'अर' एवं 'एय' नामक दो समुद्र हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ से तृतीय द्युलोक में 'ऐरंमदीय' (हर्षोत्पादक) नाम वाला सरोवर विद्यमान है। वही सोमसवन नामक अश्वत्थ (अमृत स्नावि वृक्ष) है, वहाँ पर ब्रह्मा की अपराजिता नाम की पुरी है तथा वहाँ ही प्रभु के द्वारा विशेष रूप से रचित स्वर्ण के समान मण्डप विद्यमान है ॥ ३ ॥

तद्य एवैतावरं च एयं चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाः सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ४ ॥

वहाँ उस ब्रह्मलोक में जो भी मनुष्य ब्रह्मचर्य के माध्यम से 'अर' तथा 'एय' नामक दोनों समुद्रों को प्राप्त करते हैं, उन्हीं को इस ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। उन मनुष्यों की समस्त लोकों में इच्छानुसार गति हो जाती है ॥ ४ ॥

## ॥ षष्ठः खण्डः ॥

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्बस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः ॥ १ ॥

जो (कमलाकार वाले) हृदय से सम्बन्धित नाड़ियाँ हैं, ये सब पिंगल नामक एक वर्ण विशेष से युक्त सूक्ष्म रस से सम्पन्न हैं। ये (सभी) शुक्ल, नीली, पीली और लोहित रस से युक्त हैं, क्योंकि यह आदित्य पिङ्गल वर्ण का है। यही आदित्य शुक्ल है तथा यही नील वर्ण का है। यही पीला है और यही लोहित वर्ण भी है ॥ १ ॥

[इसी उपनिषद् में अध्याय ३ के खण्ड १ से ५ तक आदित्य के विभिन्न वर्णों, पक्षों तथा उससे सम्बद्ध अमृत प्रवाहों का वर्णन किया गया है। यहाँ उस वर्णन की संगति बैठती है। स्पष्ट है कि यह आदित्य सूर्य से भिन्न कोई सर्वत्र संचरित स्व प्रकाशित आत्मतत्त्व सदृश ही कुछ है।]

तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चामुं चैवमेवैता आदित्यस्य रशमय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं चामुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृष्टा आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृष्टाः ॥ २ ॥

प्रस्तुत विषय में यह उल्लेख है- जिस तरह से कोई विशाल महापथ इस (समीप) एवं उस (दूर) दोनों ग्रामों को पहुँच जाता है, ठीक उसी प्रकार से सूर्य की ये समस्त किरणें इस (मनुष्य) में और उस (आदित्य मण्डल) में (दोनों लोकों में) प्रवेश करती हैं। वे (रश्मियाँ) सदैव इस आदित्य से ही निःसृत होकर समस्त नाड़ियों में व्याप्त हो जाती हैं और जो इन नाड़ियों से निःसृत होती हैं, वे सभी इस आदित्य में व्याप्त हो जाती हैं ॥ २ ॥

तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृष्टो भवति तत्त्र कश्चन पाप्मा स्पृशति तेजसा हि तदा संपन्नो भवति ॥ ३ ॥

इस प्रकार जब सुसावस्था में अच्छी तरह से तल्लीन हुआ व्यक्ति प्रसन्न होकर स्वप्न नहीं देखता, उस समय यह इन नाड़ियों में गमन कर जाता है, ऐसी स्थिति में इसे अन्य कोई पाप स्पर्श नहीं करता। यह (व्यक्ति) तेज से सम्पन्न हो जाता है ॥ ३ ॥

अथ यत्रैतदबलिमानं नीतो भवति तमभित आसीना आहुर्जनासि मां जानासि मामिति स यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति तावज्ञानाति ॥ ४ ॥

जिस समय यह मनुष्य शरीर से बलरहित होता है, उस समय उसके चारों ओर बैठे हुए समस्त स्वजन सम्बन्धी कहते हैं- क्या तुम मुझे पहचानते हो? क्या तुम मुझे पहचानते हो? वह जब तक शरीर से बाहर उत्क्रमण नहीं करता, तब तक उन (सम्बन्धियों) को पहचानता रहता है ॥ ४ ॥

अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैरेव रश्मिभिरुर्ध्वमाक्रमते स ओमिति वा होद्वा मीयते स यावद्तिक्षयेन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् ॥

तत्पश्चात् जब वह जीव शरीर से बाहर निकलता है, तब इन रश्मियों से ही ऊर्ध्व की ओर गमन करता है। वह 'ॐ' इस प्रकार कहकर आत्मा का ध्यान करता हुआ ऊर्ध्व अथवा अधोलोक की ओर गमन करता है। वह (जीवात्मा) आदित्य नामक लोक में उतनी ही देर में पहुँच जाता है, जितनी देर में मन गमन करता है। निश्चित ही यह आदित्य ही समस्त लोकों का द्वार है। यह साधक मनीषियों के लिए ब्रह्मलोक की प्राप्ति का द्वार और अज्ञानियों को रोकने वाला है ॥ ५ ॥

तदेष श्लोकः । शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धनिमभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वद्वन्न्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति ॥ ६ ॥

इस सम्बन्ध में एक मन्त्र उल्लिखित है- हृदय में एक सौ एक नाड़ियों का समावेश है। उन नाड़ियों

में से एक नाड़ी 'सुषुमा' मूर्धा (मस्तिष्क) की ओर निकल गई है। उस (सुषुमा) के द्वारा ऊर्ध्व की ओर गमन करने वाला जीव अमृतत्व को प्राप्त होता है। शेष अन्य यत्र-तत्र गमन करने वाली नाड़ियाँ केवल उत्क्रमण अर्थात् बाहर निकलने की हेतुभूता, (सुषुमा के अतिरिक्त उन सभी नाड़ियों से ऊर्ध्व लोकों की प्राप्ति नहीं होती है) ॥ ६ ॥

## ॥ सप्तमः खण्डः ॥

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच ॥ १ ॥

(अब आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इन्द्र और विरोचन की आख्यायिका का वर्णन करते हैं। प्रजापति ब्रह्माजी ने कहा- ) जो आत्मा पापशून्य, जरारहित, मृत्यु से रहित, विशोक (शोक रहित), क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्य संकल्प से युक्त है, उसे खोजना चाहिए, विशेष रूप से जानने का प्रयास करना चाहिए। जो उस आत्मा की अनुभूति प्राप्त करता है, वह सभी लोकों तथा समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है ॥ १ ॥

तद्वोभये देवासुरा अनुबुद्धिरे ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विव्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामानितीन्द्रो हैव देवानामभिप्रवद्राज विरोचनोऽसुराणां तौ हासंविदानावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजगमतुः ॥ २ ॥

(प्रजापति ब्रह्मा जी के इस व्याख्यान को) देव और असुर दोनों ने (कर्ण परम्परा से) जाना। उन्होंने कहा कि उस आत्मा की जिज्ञासा करनी चाहिए। जिसके जानने से सभी लोकों और भोगों को प्राप्त किया जाता है। ऐसा सोचकर देवों के राजा इन्द्र और दैत्यों के राजा विरोचन दोनों आपस में सद्भाव न रखते हुए, (भी) हाथों में समिधाएँ लेकर (समित्पाणि होकर) प्रजापति के पास पहुँचे ॥ २ ॥

तौहद्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूष्टुस्तौ ह प्रजापतिरुवाच किमिच्छन्ता-ववास्तमिति । तौ होचतुर्य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति भगवतो वचो वेदयन्ते तमिच्छन्ताववास्तमिति ॥

वे दोनों ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए प्रजापति के पास ३२ वर्ष तक रहे। तत्यश्चात् प्रजापति ने उनसे कहा- आप सभी ने किस उद्देश्य विशेष की पूर्ति हेतु यहाँ वासस्थल बनाया है। उन दोनों ने कहा- जो आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोक रहित, क्षुधा रहित, तृष्णारहित, सत्यकाम तथा सत्य संकल्प से युक्त है, वही जानने एवं अनुभव करने योग्य है, जो उस आत्मा को जानता एवं अनुभव करता है, वह समस्त लोकों और भोगों को प्राप्त करता है। आपके इस तरह के उपदेश को सभी श्रेष्ठ लोग कहते हैं। हम सभी (देव एवं असुरगणों) ने उसी श्रेष्ठ आत्मा को जानने के लिए यहाँ वास किया है ॥ ३ ॥

तौ ह प्रजापतिरुवाच य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतम्- भयमेतद्ब्रह्मेत्यथ योऽयं भगवोऽप्सु परिख्यायते यश्चायमादर्शो कतम एष इत्येष उ एवैष सर्वेष्वन्तेषु परिख्यायत इति होवाच ॥ ४ ॥

प्रजापति ने कहा- आँख के अन्दर पुरुष के रूप में जो दृष्टिगोचर होता है, यही आत्मा है और यही अभय एवं ब्रह्मरूप है। उन्होंने प्रतिच्छाया को ही आत्मा समझकर प्रश्न किया कि - हे भगवन्! यह जो जल एवं दर्पण में सब ओर दृष्टिगोचर होता है, उसके अन्तर्गत आत्मा कौन सा है? तब प्रजापति ने बताया- हमने चक्षुओं के अन्दर जो द्रष्टा कहा है, वही इन सभी में दिखाई पड़ता है॥ ४॥

## ॥ अष्टमः खण्डः ॥

उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानीथस्तन्मे प्रब्रूतमिति तौ होदशरावेऽवेक्षांचक्राते तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथेति तौ होचतुः सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आलोमभ्य आनखेभ्यः प्रतिरूपमिति ॥ १ ॥

प्रजापति ने उन दोनों से कहा कि जल से परिपूर्ण पात्र में स्वयं अपने को देखकर तुम आत्मा के सन्दर्भ में जो भी कुछ न जान सको, वह मुझसे कहो। इस प्रकार उन दोनों ने जल से पूर्ण पात्र में दृष्टिपात किया। उन दोनों से प्रजापति ने कहा- तुम क्या देखते हो? तब उन्होंने कहा- भगवन्! हम अपने शरीर के रोम (केश) से लेकर नख पर्यन्त प्रतिबिम्ब रूप में इस आत्मा को देखते हैं॥ १ ॥

तौ ह प्रजापतिरुवाच साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेथामिति तौ ह साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षांचक्राते तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति ॥ २ ॥

प्रजापति ने उन दोनों से कहा- तुम सुन्दर आभूषण एवं वस्त्रों से समलंकृत होकर तथा सम्पूर्ण शरीर को परिष्कृत करने के पश्चात् जल के अन्दर देखो। उन दोनों ने प्रजापति के कथनानुसार ही समस्त अलंकरणों एवं शुभ्र वस्त्रों को धारण कर और परिष्कृत होकर जल पात्र में देखा। तभी प्रजापति ने पुनः प्रश्न किया कि तुम दोनों क्या देख रहे हो?॥ २ ॥

तौ होचतुर्यथेवेदमावां भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ स्व एवमेवेमौ भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतावित्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तौ ह शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः ॥ ३ ॥

उन दोनों (इन्द्र और विरोचन) ने प्रजापति से कहा- हे भगवन्! जिस तरह हम दोनों उत्तम अलकारों एवं शुभ्र परिधानों से युक्त एवं परिष्कृत हैं, वैसे ही ये दोनों जल के मध्य में दिखाई पड़ने वाले प्रतिबिम्ब भी उत्तम आभूषणों एवं शुभ्र वस्त्रों से युक्त एवं परिष्कृत हैं। तदनन्तर प्रजापति ने कहा- यही आत्मा है, यही अमृत एवं अभय है और यही ब्रह्म है। तत्पश्चात् वे दोनों शान्त चित्त होकर चले गये॥ ३ ॥

[ वे दोनों प्रजापति के कथन के मर्म को समझ न सके तथा विष्व में दृश्यमान स्थूल काया को ही आत्मा के रूप में समझकर लौट पड़े। प्रजापति उनके अज्ञान को समझ गये। ]

तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाचानुपलभ्यात्मानमनुविद्य व्रजतो यतर एतदुपनिषदो भविष्यन्ति देवा वासुरा वा ते पराभविष्यन्तीति स ह शान्तहृदय एव विरोचनोऽसुराङ्गाम तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाचात्मैवेह महव्य आत्मा परिचर्य आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोतीमं चामुं चेति ॥ ४ ॥

प्रजापति ने उन दोनों को (दूर जाता हुआ) देखकर कहा- ये दोनों (इन्द्र एवं विरोचन) आत्मा को

प्राप्त किये बिना अर्थात् उस आत्मतत्त्व का साक्षात्कार किये बिना ही जा रहे हैं। देव हों अथवा असुर जो भी आत्मा के सम्बन्ध में ऐसा सोचने वाले होंगे, उनका पतन अवश्य होगा। उस विरोचन ने शान्त भाव से असुरों के सम्मुख जाकर प्रजापति के द्वारा बतायी हुई आत्म विद्या को कह सुनाया। उसने कहा- इस लोक में यह (देह ही) आत्मा है तथा आत्मा ही सेवा के योग्य है। आत्मा की सेवा एवं परिचर्या करने वाला पुरुष इहलोक एवं परलोक दोनों को प्राप्त कर लेता है ॥ ४ ॥

**तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्धानमयजमानमाहुरासुरो बतेत्यसुराणाः होषोपनिषत्प्रेतस्य  
शरीरं भिक्षया वसनेनालंकारेण्टि सःस्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते ॥ ५ ॥**

यही कारण है कि संसार में जो (व्यक्ति) दान नहीं देता, श्रद्धा नहीं रखता और न ही यजन करता है, उसे श्रेष्ठ जन इस प्रकार कहते हैं- अरे यह तो आसुरी वृत्ति वाला है। यह उपनिषद् (विद्या) असुरों की ही है। वे ही मृत व्यक्ति के शरीर को (गन्ध-पृष्ठ-अन्न आदि) भिक्षा, वस्त्र एवं आभूषणों से विभूषित करते हैं। इसके द्वारा ही हम स्वर्गलोक को प्राप्त करेंगे-ऐसा मानते हैं ॥ ५ ॥

## ॥ नवमः खण्डः ॥

**अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्द्वयं ददर्श यथैव खल्वयमस्मिन्छरीरे साध्वलंकृते  
साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्देऽन्थो भवति  
स्नामे स्नामः परिवृक्णो परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं  
पश्यामीति ॥ १ ॥**

जब तक इन्द्रदेव देवों के पास पहुँचें, इससे पूर्व उन्हें (यथार्थ बोध से) यह भय प्रकट हुआ कि जिस प्रकार इस शरीर के अलंकृत किये जाने पर इसका प्रतिबिम्ब भी अलंकृत होता है, वस्त्रों से सुसज्जित होने पर वह भी सज्जित होता है और परिष्कृत किये जाने पर वह भी परिष्कृत होता है, उसी प्रकार इस शरीर के अन्धे हो जाने पर प्रतिबिम्ब शरीर भी अन्धा हो जाता है, स्नाम (विकार स्थित करने वाला) होने पर स्नाम हो जाता है, अपङ्ग होने पर अपङ्ग हो जाता है तथा इस शरीर के नष्ट होने पर वह भी विनष्ट हो जाता है, अतः इस प्रतिबिम्ब शरीर में मुझे कुछ भी भोगने योग्य (श्रेष्ठ प्रतिफल) नहीं दिखाई पड़ता ॥ १ ॥

**स समित्याणिः पुनरेयाय तः ह प्रजापतिरुवाच मधवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः सार्थ  
विरोचनेन किमिच्छन् पुनरागम इति स होवाच यथैव खल्वयं भगवोऽस्मिन्छरीरे  
साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायम-  
स्मिन्नन्देऽन्थो भवति स्नामे स्नामः परिवृक्णो परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति  
नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥**

तब इन्द्रदेव पुनः समिधा हाथ में लेकर प्रजापति के सम्मुख उपस्थित हुए। उनसे प्रजापति ने पूछा- हे इन्द्र! तुम तो विरोचन के साथ हृदय से सन्तुष्ट हो गये थे, अब फिर किस इच्छा से लौटे हो? उन्होंने कहा- भगवन्! जिस प्रकार इस शरीर के अलंकृत होने पर इसका प्रतिबिम्ब भी अलंकृत होता है। सुन्दर वस्त्रों से सज्जित किये जाने पर वह भी सज्जित होता है। स्वच्छ किये जाने पर वह भी स्वच्छ होता है, उसी प्रकार इसके अंधे होने पर वह भी अन्धा होता है, स्नाम होने पर स्नाम हो जाता है, अपङ्ग होने पर अपङ्ग हो जाता है तथा इस शरीर के नष्ट होने पर वह भी विनष्ट हो जाता है, अतएव मुझे इसमें कुछ भी भोगने योग्य (श्रेष्ठ प्रतिफल) नहीं दिखाई पड़ता ॥ २ ॥

एवमेवैष मधवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिःशतं वर्षाणीति स हापराणि द्वात्रिःशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥ ३ ॥

देव प्रजापति ने इन्द्रदेव से कहा- हे इन्द्र ! यह यथार्थ तथ्य ऐसा ही है, मैं तुम्हारे लिए इसकी व्याख्या आगे करूँगा । अब तुम बत्तीस वर्ष यहाँ और वास करो । तब इन्द्रदेव ने वहाँ बत्तीस वर्ष व्यतीत किये । फिर प्रजापति ने उन्हें उपदेश दिया ॥ ३ ॥

## ॥ दशमः खण्डः ॥

य एष स्वप्ने महीयमानश्वरत्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्व्यप्तेति स ह शान्तहृदयः प्रवद्राज स हाप्राप्यैव देवानेतद्दयं ददर्श तद्यद्यपीदः शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्वाममस्वामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्प्रति ॥ १ ॥

‘जो स्वप्न में भी विचरणशील तत्त्व है, जो अत्यन्त पूज्यमान आत्मा है, वही अविनाशी, अभय और ब्रह्म है।’ इन वचनों से संतुष्ट होकर शान्त हृदय से इन्द्रदेव चले गये; परन्तु देवों तक पहुँचने के पूर्व उनमें (यथार्थ बोध से) भय व्याप्त हुआ । यद्यपि यह शरीर अन्धा होता है, परन्तु वह स्वप्न शरीर (अन्तर्मन) अनन्ध होता है और यह स्वाम होता है, तो वह अस्वाम रहता है । शरीर के दोषों से वह दोष मुक्त रहता है ॥

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्वाप्येण स्वामो घन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥

वह इस देह के वध से विनष्ट भी नहीं होता और वह इसकी स्वामता से स्वाम भी नहीं होता; किन्तु स्वप्न में भी ऐसा भान होता है कि कोई उसे मार रहा है, तिरस्कृत कर रहा है अथवा वह शोक कर रहा है अथवा वह रो रहा है, अतएव इसमें मुझे भोगने योग्य (श्रेष्ठ प्रतिफल) कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता ॥

स समित्याणिः पुनरेयाय तः ह प्रजापतिरुवाच मधवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन् पुनरागम इति स होवाच तद्यद्यपीदं भगवः शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्वाममस्वामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्प्रति ॥ ३ ॥

वे (इन्द्रदेव) पुनः देव प्रजापति के पास हाथ में समिधा लेकर आये । देव प्रजापति ने उनसे कहा- हे इन्द्र ! तुम तो यहाँ से सन्तुष्ट होकर शान्त हृदय से गये थे, फिर किस इच्छा से लौटे हो ? उन्होंने कहा- भगवन् ! यद्यपि यह शरीर अंधा होता है, तो भी वह (स्वप्न में विचरणशील अन्तर्मन) अनन्ध रहता है और यह स्वाम होता है, तो भी वह अस्वाम रहता है । इस प्रकार वह शरीर के दोषों से दोषमुक्त ही रहता है ॥ ३ ॥

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्वाप्येण स्वामो घन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीत्येवमेवैष मधवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिःशतं वर्षाणीति स हापराणि द्वात्रिःशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥ ४ ॥

इसके वध से उसका वध नहीं होता है और इसकी स्वामता से वह स्वाम नहीं होता; परन्तु ऐसा अनुभव होता है कि कोई उसे मारता है, तिरस्कृत करता है, वह शोक करता है अथवा रोदन करता है ।

इसमें मुझे कुछ भी भोगने योग्य (श्रेष्ठ प्रतिफल) दिखाई नहीं पड़ता। तब देव प्रजापति ने इन्द्रदेव से कहा- हे इन्द्र ! यह तथ्य ऐसा ही है। इस आत्मतत्त्व की व्याख्या मैं आगे करूँगा, अभी तुम बत्तीस वर्ष और यहाँ वास करो। तब इन्द्रदेव ने वहाँ बत्तीस वर्ष व्यतीत किया। फिर देव प्रजापति ने उन्हें उपदेश दिया॥

## ॥ एकादशः खण्डः ॥

तद्यत्रैतत् सुमः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति होवाचैतदमृतम-  
भयमेतद्ब्रह्मेति स ह शान्तहृदयः प्रवद्राज स हाप्राप्यैव देवानेतद्दयं दर्दश नाह  
खल्वयमेवः संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो  
भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ १ ॥

‘जब वह प्रसुस अवस्था में सम्पूर्ण रूप से आनन्दित और शान्त रहता है और स्वप्न का अनुभव भी नहीं करता, वही आत्मा है। वही अनश्वर, अभय और ब्रह्म है’। इन वचनों को सुनकर इन्द्रदेव सन्तुष्ट होकर शान्त हृदय से चले गये; किन्तु देवों तक पहुँचने के पूर्व उनमें फिर (यथार्थ बोध से) भय प्रकट हुआ। उस अवस्था में तो उसे निश्चय ही यह बोध नहीं रहता कि यह मैं हूँ और न वह अन्य प्राणियों को जानता है, उस अवस्था में तो वह विनाश जैसी स्थिति को प्राप्त हो जाता है। इसमें मुझे कुछ भी भोगने योग्य (श्रेष्ठ प्रतिफल) नहीं दिखाई पड़ता॥ १ ॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय तः ह प्रजापतिरुवाच मधवन्यच्छान्तहृदयः प्राद्राजीः  
किमिच्छन्मुनरागम इति स होवाच नाह खल्वयं भगव एवः संप्रत्यात्मानं जानात्यय-  
महमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥

(इस प्रकार विचार करते हुए) देवराज इन्द्र पुनः प्रजापति के पास हाथ में समिधा लेकर पहुँचे। उन्हें देखकर प्रजापति ने पूछा- हे इन्द्र ! तुम तो स्थिर चित्त होकर चले गये थे, अब पुनः हमारे पास किस इच्छा से आये हो ? इन्द्र ने कहा- ‘हे भगवन् !’ इस स्थिति में तो निश्चय ही इसे यह भी आभास नहीं होता कि स्वयं ही यह मैं हूँ। न यह इन अन्य दूसरे भूतों (प्राणियों) को जानता है। यह निश्चय ही विनष्ट सा हो जाता है। इसमें मुझे इष्ट दृष्टिगोचर नहीं होता॥ २ ॥

एवमेवैष मधवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्मा-  
द्वसापराणि पञ्च वर्षाणीति स हापराणि पञ्च वर्षाण्युवास तान्येकशतः संपेदुरेतत्तद्य-  
दाहुरेकशतः ह वै वर्षाणि मधवान्यजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास तस्मै होवाच ॥ ३ ॥

प्रजापति ने पुनः उपदेश देते हुए इन्द्र से कहा- हे इन्द्र ! ‘यह बात ऐसी ही है’। अब मैं तुम्हें पुनः समझाऊँगा। अभी तुम पाँच साल तक यहाँ पर और ब्रह्मचर्य पूर्वक निवास करो। तदनन्तर देवराज इन्द्र ने पाँच साल तक निवास किया। यह सभी वर्ष मिलाकर एक सौ एक वर्ष हो गये। इसी से कहते हैं कि इन्द्र ने प्रजापति के यहाँ एक सौ एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य पूर्वक निवास किया तत्पश्चात् प्रजापति ने कहा॥ ३ ॥

## ॥ द्वादशः खण्डः ॥

मघवन्मत्त्वं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशारीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो  
वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्वशरीरं वाव सन्तं  
न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! यह शरीर मरणधर्मा एवं सदैव मृत्यु से आच्छादित है । अविनाशी एवं अशरीरी  
आत्मा का यह (शरीर) वास स्थल है । सशरीर आत्मा निश्चय ही प्रिय एवं अप्रिय से घिरा हुआ है,  
शरीर युक्त होते हुए इसके प्रिय व अप्रिय का विनाश नहीं होता । साथ ही अशरीर (शरीररहित)  
होने पर प्रिय और अप्रिय इसका स्पर्श रज्व मात्र भी नहीं कर सकते ॥ १ ॥

अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत्स्तनयित्वशरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय  
परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते ॥ २ ॥

वायु शरीर से रहित है, अभ्र (बादल), विद्युत् और मेघ की गर्जना भी अशरीरी है । जिस तरह ये  
सभी उस आकाश से ऊपर उठकर सूर्य (सविता) की परम ज्योति को प्राप्त कर अपने स्वरूप में परिणत  
हो जाते हैं ॥ २ ॥

एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभि-  
निष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति जक्षत्क्रीडत्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वाज्ञातिभिर्वा  
नोपजनः स्मरन्निदः शरीरः स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्चरीरे प्राणो  
युक्तः ॥ ३ ॥

उसी तरह यह सम्प्रसाद (जीव) आकाश से वायु आदि की भाँति इस शरीर से ऊर्ध्व की ओर उठकर  
परम ज्योति को पाकर अपने आत्मस्वरूप में केन्द्रित हो जाता है । वह ही उत्तम पुरुष है, ऐसी अवस्था में  
वह (जीव) हँसता, क्रीड़ा करता और स्त्री, यान अथवा ज्ञातिजनों (बन्धुओं) के साथ रमण करता हुआ  
अपने साथ प्रकट हुए इस शरीर को स्मरण न करता हुआ, सभी ओर संचरित होता है । जैसे अश्व अथवा  
वृषभ गाढ़ी में जुता रहता है, ठीक वैसे ही यह प्राण रथ स्थानीय शरीर में जुता हुआ है ॥ ३ ॥

अथ यत्रैतदाकाशमनुविष्णणं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं  
जिग्नाणीति स आत्मा गन्धाय घाणमथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्माभिव्याहराय  
वागथ यो वेदेदः शृणवानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम् ॥ ४ ॥

जहाँ जाग्रत् अवस्था में वह चक्षु द्वारा उपलक्षित आकाश रूप में अनुगत है, वह ही चाक्षुष अर्थात्  
चक्षु में रहने वाला पुरुष है । उसके ज्ञान के साधन नेत्र हैं । जो यह अनुभव करता है कि मैं इसे सूँधूँ यानी  
ग्रहण करूँ; वही आत्मा है । उसके गन्ध ग्रहण के लिए नासिका है तथा जो जानता है कि मैं यह शब्द  
उच्चारण करूँ, वह ही आत्मा है । उसके वाक्योच्चारण के लिए वाणी है और जो यह समझता है कि मैं यह  
श्रवण करूँ, वह भी आत्मा ही है और उसके सुनने के साधन स्वरूप श्रोत्रेन्द्रिय है ॥ ४ ॥

अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा  
मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ॥ ५ ॥

और जो यह अनुभव करता है कि मैं मनन करूँ, वही आत्मा है। मन ही उसका दिव्य चक्षु है। वह यह आत्मा इस दिव्य नेत्र द्वारा भोगों का दर्शन करता हुआ रमण करता है ॥ ५ ॥

य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषाः सर्वे च लोका आत्माः सर्वे च कामाः स सर्वाःश्च लोकानाप्नोति सर्वाःश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥ ६ ॥

और जो यह सभी प्रकार के भोग इस ब्रह्मलोक में विद्यमान हैं। उन्हें वह देखता हुआ रमण करता है। उस महान् आत्मा की देवगण उपासना करते हैं। इसी कारण से उन्हें समस्त लोक और सभी तरह के भोग प्राप्त हैं। जो भी उस आत्मा को शास्त्र और आचार्य के उपदेशानुसार समझकर प्रत्यक्ष रूप से समझता है, वह सभी लोक और सभी तरह के भोगों को पा जाता है, ऐसा प्रजापति ने कहा ॥ ६ ॥

## ॥ त्रयोदशः खण्डः ॥

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्येऽश्च इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमधिसंभवामीत्यभिसंभवामीति ॥

मैं शरीर के नष्ट होने के पश्चात् श्याम (हृदय कमल में स्थित) ब्रह्म से शबल (ब्रह्मलोक) को प्राप्त करूँ। साथ ही शबल ब्रह्मलोक से श्याम को प्राप्त करूँ। जिस तरह अश्व अपने रोमों को झाड़कर स्वच्छ एवं मलरहित हो जाता है, उसी प्रकार मैं पापों से निवृत्त होकर राहु के मुख से प्रकट हुए चन्द्रमा की भाँति शरीर का परित्याग कर कृतकृत्य होता हूँ। इस प्रकार मैं अकृत ब्रह्म को प्राप्त करता हूँ, ब्रह्मलोक को प्राप्त करता हूँ ॥ १ ॥

## ॥ चतुर्दशः खण्डः ॥

आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतः स आत्मा प्रजापतेः सभां वेशम प्रपद्ये यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापत्पि स हाहं यशसां यशः श्येतमदत्कमदत्कः श्येतं लिन्दु माभिगाम लिन्दु माभिगाम ॥ १ ॥

‘आकाश’ इस नाम से श्रुतियों में प्रसिद्ध आत्मा नाम और रूप का निर्वाह करने वाला है। वे (नाम एवं रूप) जिस (ब्रह्म) के अन्तर्गत हैं, वही ब्रह्म है, वही आत्मा है और वही अमृत है। मैं प्रजापति के सभागृह को प्राप्त करता हूँ, यश रूप आत्मा हूँ, मैं ही ब्राह्मणों के यश, क्षत्रियों के यश एवं वैश्यों के यश को प्राप्त करना चाहता हूँ। मैं यशों का भी यश हूँ। मैं दन्तरहित होने पर भी ‘अदत्क’ अर्थात् बिना दाँतों के ही भक्षण करने वाले लालवर्ण युक्त श्वेत बिन्दु (पिच्छिल स्त्री चिह्न) को प्राप्त न करूँ अर्थात् स्त्री गर्भ में गमन न करूँ ॥ १ ॥

## ॥ पञ्चदशः खण्डः ॥

तद्वैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्य आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य  
यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो  
धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्याहिं सन्त्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स  
खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ॥ १ ॥

इस श्रेष्ठ आत्मज्ञान का वर्णन ब्रह्माजी ने प्रजापति से किया, प्रजापति ने मनु से तथा मनु ने समस्त प्रजा वर्ग को सुनाया। जो गुरु के प्रति अपने कर्तव्यों को नियमानुसार पूर्ण करके वेदों के ज्ञान को प्राप्त कर आचार्य के घर (गुरुकुल) से विदा होकर अपने स्वजन सम्बन्धियों के साथ पवित्र स्थल में स्वाध्याय करता है। जो अपने पुत्रों व शिष्यों को धर्म पथ पर आरूढ़ कर समस्त इन्द्रियों को अपने अन्तःकरण में स्थिर कर लेता है तथा जो शास्त्रानुसार भूतों की हिंसा नहीं करता। वह निश्चित ही जीवन पर्यन्त श्रेष्ठ आचरण करता हुआ ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है, तत्पश्चात् वापस नहीं लौटता, वापस नहीं आता (आवागमन से मुक्त हो जाता है) ॥ १ ॥

## ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि.....इति शान्तिः ॥

॥ इति छान्दोग्योपनिषत्समाप्ता ॥



## ॥ तैत्तिरीयोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के तैत्तिरीय आरण्यक का एक भाग है। आरण्यक के १० अध्यायों में से क्रमशः सातवें, आठवें एवं नौवें अध्यायों को ही उपनिषदीय मान्यता मिली है। इसमें तीन वल्लियाँ ( शीक्षा वल्ली, ब्रह्मानन्दवल्ली तथा भृगुवल्ली ) हैं।

शीक्षावल्ली के प्रारम्भ में अधिलोक, अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रज और अध्यात्म नामक पाँच महासंहिताओं का वर्णन है तथा उनकी फलश्रुति भी दी गयी है। साधना क्रम में ॐकार तथा भूः भुवः स्वः महः आदि व्याहृतियों के महत्त्व का उल्लेख है। अन्त में अध्ययन एवं अध्यापन करने के लिए सदाचार परक मर्यादा सूत्रों का उल्लेख करके विचार के साथ आचार की महत्ता का बोध कराया गया है।

ब्रह्मानन्दवल्ली में हृदयगुहा में स्थित परमेश्वर को जानने का महत्त्व समझाते हुए उसके अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय कलेवरों का विवेचन है। आनन्द की मीमांसा में लौकिक आनन्द से लेकर उसके उत्तरोत्तर श्रेष्ठ स्वरूपों के वर्णन के साथ ब्रह्मानन्द तक की समीक्षा की गयी है। परमात्मा के आनन्द स्वरूप को समझाने वालों की स्थिति का भी वर्णन है।

भृगुवल्ली में भृगु की ब्रह्मपरक जिज्ञासा का समाधान उनके पिता वरुण ने किया है। तत्त्वज्ञान को समझाकर उन्हें तपश्चर्या द्वारा स्वयं अनुभव करने का निर्देश दिया गया है। उन्होंने क्रमशः अन्न, प्राण, मन, विज्ञान एवं आनन्द को ब्रह्म रूप में अनुभव किया। तब वरुण ने उन्हें अन्नादि का दुरुपयोग न करके उसके सुनियोजन का विज्ञान समझाया। अन्त में भगवद्भाव प्राप्त साधक की स्थिति तथा उसके समतायुक्त उद्गारों का उल्लेख है।

### ॥ शान्ति-पाठः ॥

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वर्यमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु माम् । अवतु वक्तारम् ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

### ॥ अथ शीक्षावल्ली ॥

#### ॥ प्रथमोऽनुवाकः ॥

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वर्यमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु माम् । अवतु वक्तारम् ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ १ ॥

मित्र देवता हमारे लिए कल्याणकारी हों। वरुणदेव हमारे लिए सुखप्रद हों। अर्यमादेव कल्याणकारी हों। इन्द्र तथा बृहस्पतिदेव सुखदायक हों। जिनके डग बहुत विशाल हैं, वे विष्णुदेव हमारे लिए शान्तिप्रद हों। ब्रह्म को नमस्कार है। हे वायो! आपको नमस्कार हो, क्योंकि आप प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं। आपको ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहते हैं। सत्य और ऋत भी आपको कहते हैं। वह ( ब्रह्म ) हमारी रक्षा करे। हमारे आचार्य की रक्षा करे। हमारी तथा हमारे आचार्य दोनों की रक्षा करे। त्रिविध तापों से सर्वत्र शान्ति हो ॥ १ ॥

[ इस मन्त्र में वायु को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहा है, क्योंकि प्राण प्रवाह वायु के साथ संचरित होता है। ब्रह्म में सभी समाये हुए हैं और ब्रह्म सभी प्राणियों के जीवन रूप में संचरित है। इस सत्य के अनुरूप यह प्राणरूप-वायुमय परमात्म तत्त्व प्रत्यक्ष रूप में अनुभव गम्य है। सम्भवतः इसीलिए ऋषि ने वायु को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहा है। ]

## ॥ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

ॐ शीक्षां व्याख्यास्यामः । वर्णः स्वरः । मात्रा बलम् । साम संतानः । इत्युक्तः शीक्षाध्यायः ॥ १ ॥

हम शिक्षा = (शीक्षा) की व्याख्या करते हैं। वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम तथा सन्धि - ये सब शिक्षा की सार वस्तुएँ हैं। इस प्रकार इसे शिक्षा अध्याय कहा गया है ॥ १ ॥

[ वर्ण = अ, आ, आदि, स्वर = उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि वैदिक स्वर, मात्रा = हस्त, दीर्घ आदि मात्रा, बल = वर्णोच्चारण में लगने वाली प्राणशक्ति, साम = मध्यम वृत्ति से उच्चारण करने की विधि तथा सन्तान = शब्दों की मिलन प्रक्रिया (सन्धि) है। शिक्षा का शीक्षा रूप वैदिक प्रयोग है। ]

## ॥ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सह नौ यशः । सह नौ ब्रह्मवर्चसम् । अथातः सःहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः ॥  
पञ्चस्वधिकरणेषु । अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम् । ता महासःहिता इत्याचक्षते । अथाधिलोकम् । पृथिवी पूर्वरूपम् । द्यौरुत्तररूपम् । आकाशः संधिः ॥ १ ॥  
वायुः संधानम् । इत्यधिलोकम् । अथाधिज्यौतिषम् । अग्निः पूर्वरूपम् । आदित्य उत्तररूपम् ।  
आपः संधिः । वैद्युतः संधानम् । इत्यधिज्यौतिषम् । अथाधिविद्यम् । आचार्यः पूर्वरूपम् ॥ २ ॥  
अन्तेवास्युत्तररूपम् । विद्या संधिः । प्रवचनः संधानम् । इत्यधिविद्यम् । अथाधिप्रजम् ।  
माता पूर्वरूपम् । पितोत्तररूपम् । प्रजा संधिः । प्रजननः संधानम् । इत्यधिप्रजम् ॥ ३ ॥

हम दोनों (शिष्य और आचार्य) का यश साथ-साथ बढ़े, हम दोनों का ब्रह्मतेज भी साथ-साथ बढ़े। अब हम पाँच अधिकरणों में संहिता की-उपनिषद् की व्याख्या करते हैं। ये पाँच अधिकरण - अधिलोक, अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रज और अध्यात्म हैं। विद्वज्जन उन्हें महासंहिता कहते हैं। अब लोक सम्बन्धी संहिता का वर्णन करते हैं। इसका पूर्वरूप पृथकी है। उत्तररूप द्युलोक है। पृथिवी और द्यु के बीच का अन्तरिक्ष इसका संधि रूप है। वायु संधान (संयोजक) रूप है। यह लोक सम्बन्धी संहिता है। अब ज्योति सम्बन्धी संहिता का वर्णन करते हैं। (पृथकी स्थित) अग्नि पूर्व रूप है। (द्युलोक स्थित) आदित्य - सूर्य उत्तर रूप है, जल इन दोनों का संधि रूप है। (अन्तरिक्ष स्थित) विद्युत् इस संधि स्थान में संयोजक है। यह ज्योति सम्बन्धी संहिता है। अब विद्या सम्बन्धी संहिता का वर्णन करते हैं। गुरु इसका पूर्व रूप है। शिष्य उत्तररूप है और विद्या संधि रूप है। प्रवचन संधि में संयोजक है। यह विद्या सम्बन्धी संहिता है। अब संतति (प्रजा) सम्बन्धी संहिता का वर्णन करते हैं। माता पूर्व रूप है। पिता उत्तर रूप है। सन्तान संधि रूप है। प्रजनन कर्म संयोजक है। यह संतति सम्बन्धी संहिता है ॥ १-३ ॥

अथाध्यात्मम् । अधरा हनुः पूर्वरूपम् । उत्तरा हनुरुत्तररूपम् । वाक् संधिः । जिह्वा संधानम् । इत्यध्यात्मम् । इतीमा महासःहिताः । य एवमेता महासःहिता व्याख्याता वेद । संधीयते प्रजया पशुभिः । ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्गेण लोकेन ॥ ४ ॥

अब आत्मा (शरीर) सम्बन्धी संहिता का वर्णन करते हैं। नीचे का जबड़ा पूर्व रूप है। ऊपर का जबड़ा उत्तर रूप है। वाणी सन्धि रूप है। जिह्वा इसमें संयोजक है। यह आत्मा सम्बन्धी संहिता है। इस प्रकार ये पाँच संहिताएँ कही गयी हैं। जो पुरुष इन महासंहिताओं के सार तत्त्व को जान लेता है, वह प्रजा, पशु, ब्रह्मवर्चस, अन्नादि भोग्य पदार्थ और स्वर्ग लोक आदि से सम्पन्न हो जाता है ॥ ४ ॥

[ सामान्य रूप से संहिता, वर्णों के संयोजित समूह को कहते हैं। आचरण सूत्रों के संयोजित समूह को आचरण संहिता कहते हैं। इसी प्रकार जब विराट् इकाइयों लोक, ज्योति आदि के संयोजित समूहों का उल्लेख होता है, तो उन्हें 'महासंहिता' कहते हैं। वर्णों की संधि के चार भाग होते हैं :- पूर्व (पहले वाला), पर या उत्तर (बाद वाला), संधि (दोनों का संयुक्त रूप) तथा संधान (संयोजक नियम)। महासंधियों के वर्णन में भी ऋषि ने इन चारों भागों का उल्लेख किया है । ]

## ॥ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः । छन्दोऽभ्योऽध्यमृतात्पंबभूव । स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु । अमृतस्य देव धारणो भूयासम् । शरीरं मे विचर्षणम् । जिह्वा मे मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम् । ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः । श्रुतं मे गोपाय ॥ १ ॥

जो वेदों में सर्वश्रेष्ठ है, सर्वरूप है। जिनका वेदों से विशेष रूप से प्राकट्य हुआ है, वे इन्द्रदेव (परमेश्वर) मुझे मेधा सम्पन्न बनाएँ। हे देव! मैं अमृत स्वरूप परमात्मा को धारण करने वाला बनूँ। मेरा शरीर स्फूर्तियुक्त हो। मेरी जिह्वा मधुर-भाषणी हो। मेरे कान शुभ श्रवण करने वाले हों। आप मेधा से युक्त ब्रह्म की निधि के समान हैं। मेरे द्वारा सुनी गयी वाणियाँ विस्मृत न हों (रक्षित हों) ॥ १ ॥

आवहन्ती वितन्वाना । कुर्वाणाचीरमात्मनः । वासाःसि मम गावश्च । अन्नपाने च सर्वदा । ततो मे श्रियमावह । लोमशां पशुभिः सह स्वाहा । आमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा ॥ २ ॥

हे देव! हमारे निमित्त उस श्री-सम्पदा को ले आएँ, जो तत्काल ही विविध वस्त्र, गौँ, अन्नादि पदार्थ प्रदान करने वाली हो तथा रोमयुक्त पशुओं के साथ वैभव की वृद्धि करती हो। यह आहुति इसी निमित्त समर्पित है। ब्रह्मचारीगण हमारे पास आएँ। वे कपट रहित हों, वे प्रामाणिक ज्ञान को धारण करने वाले हों। वे इन्द्रियों का दमन करने वाले हों। वे मन का निग्रह करने वाले हों, इन सबके निमित्त आहुतियाँ समर्पित की जाती हैं ॥ २ ॥

यशो जनेऽसानि स्वाहा । श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा । तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा । स मा भग प्रविश स्वाहा । तस्मिन् सहस्रशाखे । निभगाहं त्वयि मृजे स्वाहा । यथापः प्रवता यन्ति । यथा मासा अहर्जरम् । एवं मां ब्रह्मचारिणः । धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा । प्रतिवेशोऽसि प्र मा भाहि प्र मा पद्यस्व ॥ ३ ॥

हम सब लोगों में यशस्वी हों। धनवानों में अधिक धनसम्पन्न हों। हे भगवन्! हम आपमें प्रविष्ट हों, आप हममें प्रविष्ट हों, हे सहस्र रूप वाले भगवन्! आपकी उपासना से हम पवित्र हों। इन सबके निमित्त आहुतियाँ समर्पित की जाती हैं। जैसे जल निम्र स्थानों की ओर प्रवाहित होते हुए समुद्र में पहुँच जाता है और माह, दिनों का क्षय करते हुए संवत्सर में विलीन हो जाते हैं। हे विधातः! उसी प्रकार ब्रह्मचारीगण सब ओर से हमारे पास आएँ, आप हमारे आश्रयस्थल हैं। आप हमें प्रकाशित करें। आप हमें प्राप्त हों ॥ ३ ॥

## ॥ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः । तासामुह स्मैतां चतुर्थी माहाचमस्यः प्रवेदयते । मह इति । तद्ब्रह्म । स आत्मा । अङ्गान्यन्या देवताः । भूरिति वा अयं लोकः । भुव इत्यन्तरिक्षम् । सुवरित्यसौ लोकः ॥ १ ॥ मह इत्यादित्यः । आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते । भूरिति वा अग्निः । भुव इति वायुः । सुवरित्यादित्यः । मह इति चन्द्रमाः । चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतीःषि महीयन्ते । भूरिति वा ऋचः । भुव इति सामानि । सुवरिति यजूःषि ॥ २ ॥ मह इति ब्रह्म । ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते । भूरिति वै प्राणः । भुव इत्यपानः । सुवरिति व्यानः । मह इत्यन्नम् । अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते । ता वा एताश्वतस्त्रश्वतुर्धा । चतस्रश्वतस्रो व्याहृतयः । ता यो वेद । स वेद ब्रह्म । सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति ॥ ३ ॥

भूः, भुवः, स्वः - ये तीन व्याहृतियाँ हैं । उनसे भिन्न जो चौथी व्याहृति महः है, जिसे सर्वप्रथम माहाचमस के पुत्र ने जाना था । वह महः ही ब्रह्म है । वही ब्रह्म की आत्मा है । अन्य देवता उसके अंग हैं । भूः - यह व्याहृति पृथिवी लोक है । भुवः - यह व्याहृति अन्तरिक्ष लोक है । स्वः - यह व्याहृति स्वर्गलोक है । महः - आदित्य है । उस आदित्य से ही सम्पूर्ण लोक महिमा को प्राप्त होते हैं । भूः - यह व्याहृति ही अग्नि है । भुवः - यह व्याहृति वायु है । स्वः - यह व्याहृति आदित्य है । महः - यह व्याहृति चन्द्रमा है । चन्द्रमा से ही समस्त ज्योतियाँ महिमा को प्राप्त होती हैं । भूः - यह ऋग्वेद है । भुवः - यह सामवेद है । स्वः - यह यजुर्वेद है । महः - यह ब्रह्म है । ब्रह्म से ही समस्त वेद महिमा को प्राप्त होते हैं । भूः - यह प्राण है । भुवः - यह अपान है । स्वः - यह व्यान है । महः - यह अन्न है । अन्न से ही सभी प्राणों में बल संचार होता है । ये चारों व्याहृतियाँ चार प्रकार की हैं । एक-एक के चार-चार भेद होने से कुल सोलह व्याहृतियाँ होती हैं । इस प्रकार जो जानता है, वह ब्रह्म को जान लेता है । उस पुरुष के लिए सम्पूर्ण देवता अपने अनुदान प्रदान करते हैं ॥ १-३ ॥

## ॥ षष्ठोऽनुवाकः ॥

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः । तस्मिन्नर्यं पुरुषो मनोमयः । अमृतो हिरण्मयः । अन्तरेण तालुके । य एष स्तन इवावलम्बते । सेन्द्रयोनिः । यत्रासौ केशान्तो विवर्तते । व्यपोह्य शीर्षकपाले । भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति । भुव इति वायौ ॥ १ ॥ सुवरित्यादित्ये । मह इति ब्रह्मणि । आप्नोति स्वाराज्यम् । आप्नोति मनसस्पतिम् । वाक्पतिश्वक्षुष्पतिः । श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः । एतत्ततो भवति । आकाशशरीरं ब्रह्म । सत्यात्म प्राणारामं मन आनन्दम् । शान्तिसमृद्धममृतम् । इति प्राचीनयोग्योपास्व ॥ २ ॥

इस हृदयस्थ आकाश भाग में, वह मनोमय अमृत स्वरूप, प्रकाश स्वरूप परम पुरुष प्रतिष्ठित है । दोनों तालुओं के बीच जो यह स्तन के समान लटक रहा है, (उसके ऊपर) जहाँ केशों का मूल भाग है । शीर्ष कपाल को भेदकर सुषुप्ता नाड़ी जाती है, वह (सहस्राय ब्रह्मरंध) इन्द्र योनि है । निर्वाण काल में साधक भूः स्वरूप अग्नि में प्रतिष्ठित होता है । भुवः स्वरूप वायु में प्रतिष्ठित होता है । स्वः स्वरूप आदित्य

मेंतथा महः स्वरूप ब्रह्म में अधिष्ठित होता है। (ब्रह्मेत्ता साधक) अपने गज्य में अधिष्ठित होता है, वह सम्पूर्ण मन का स्वामी, वाणी, नेत्रों, कर्णों और विज्ञान का स्वामी हो जाता है। पूर्वोक्त साधन का यह फल मिलता है। वह ब्रह्म आकाश के सदृश विशाल है। वह सत्यरूप आत्म तत्त्व है, वह प्राणों को विश्राम देने वाला, मन को आनन्द देने वाला, शान्त और अमृत स्वरूप है। वही सर्वथा पुण्यतन पुरुष उपासना के योग्य है॥ १-२ ॥

[इन्द्र शासक-संगठक के प्रतीक हैं। मनुष्य शरीर में स्थित देवता स्वरूप प्राण धाराओं को नियमित करने की सामर्थ्य सहस्रार एवं ब्रह्मरूप में सन्निहित होने से उसे इन्द्र योनि कहा गया है।]

## ॥ सप्तमोऽनुवाकः ॥

इस अनुवाक में ऋषि ने पाँच-पाँच तत्त्वों की विभिन्न पंक्तियों-श्रृंखलाओं का उल्लेख किया है और उन्हें एक दूसरे का पूरक कहा है-

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशाः । अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि । आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा । इत्यधिभूतम् । अथाध्यात्मम् । प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः । चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक् । चर्म मांसं स्नावास्थिमज्जा । एतदधि-विधाय ऋषिरवोचत् । पाइक्तं वा इदं सर्वम् । पाङ्केनैव पाङ्कः स्पृणोतीति ॥ १ ॥

पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, दिशाएँ तथा अवान्तर दिशाएँ (दिशाओं के बीच के कोण) यह लोकों की पंक्ति है। अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा तथा समस्त नक्षत्र (यह ज्योति श्रृंखला में है)। जल, ओषधियाँ, वनस्पतियाँ, आकाश तथा आत्मा (यह काया से सम्बद्ध है), यह आधिभौतिक वर्णन हुआ। अब आध्यात्मिक वर्णन करते हैं- प्राण, व्यान, अपान, उदान और समान (यह प्राण समूह है)। चक्षु, श्रोत्र, मन, वाणी तथा त्वचा (यह करणों-इन्द्रियों की पंक्ति है)। चर्म, मांस, नाड़ी, हड्डी और मज्जा (यह शरीर के धातु समूह में है)। यह परिपूर्ण कल्पना करते हुए ऋषि ने कहा है- यह सब पंक्तियों का समूह है। पंक्तियों से ही पंक्तियों की पूर्ति होती है॥ १ ॥

## ॥ अष्टमोऽनुवाकः ॥

ओमिति ब्रह्म । ओमितीदः सर्वम् । ओमित्येतदनुकृतिर्हस्म वा अप्यो श्रावयेत्य-श्रावयन्ति । ओमिति सामानि गायन्ति । ओऽशोमिति शस्त्राणि शः सन्ति । ओमित्यर्धर्व्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति । ओमिति ब्रह्मा प्रसौति । ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति । ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्रवानीति । ब्रह्मैवोपाप्नोति ॥ १ ॥

ॐ ही ब्रह्म है। ॐ ही यह प्रत्यक्ष जगत् है। ॐ ही इसकी (जगत् की) अनुकृति है। हे आचार्य! ॐ के विषय में और भी सुनाएँ। आचार्य सुनाते हैं। ॐ से प्रारम्भ करके सामग्रायक सामग्रान करते हैं। ॐ-ॐ कहते हुए ही शस्त्र रूप मन्त्र पढ़े जाते हैं। ॐ से ही अर्धर्व्यु प्रतिगर मन्त्रों का उच्चारण करता है। ॐ कहकर अग्निहोत्र आरम्भ किया जाता है। अध्ययन के समय ब्राह्मण ॐ कहकर ब्रह्म को प्राप्त करने की बात कहता है। ॐ के द्वारा वह ब्रह्म को प्राप्त करता है॥ १ ॥

## ॥ नवमोऽनुवाकः ॥

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च । तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च । दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । अग्रयश्च स्वाध्यायप्रवचने

च । अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च । अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च । मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः । तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः । स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्रल्प्यः । तद्वितीयस्तद्वितीयः ॥ १ ॥

सत्य आचरण, सत्यवाणी के साथ-साथ शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन भी करें । तपश्चर्या, इन्द्रियों के दमन, मन के निग्रह के साथ-साथ शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन भी करें । प्रजा उत्पत्ति, प्रजनन, प्रजा-वृद्धि के कर्म के साथ-साथ शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन भी करें । रथीतर के पुत्र सत्यवचा ऋषि कहते हैं- सत्य ही इनमें श्रेष्ठ है । पुरुशिष्ट के पुत्र तपोनित्य नामक ऋषि कहते हैं-तप ही सर्वोत्तम है । मुद्गल के पुत्र नाक मुनि कहते हैं- शास्त्रों का अध्ययन और अध्यापन ही सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि वही तप है, वही तप है ॥ १ ॥

[ यहाँ ऋषि ने मनुष्य के लिए स्वाध्याय की अनिवार्यता प्रकट की है । ]

## ॥ दशमोऽनुवाकः ॥

अहं वृक्षस्य रेरिवा । कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव । ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीवस्वमृतमस्मि । द्रविणः सवर्चसम् । सुमेधा अमृतोक्षितः । इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम् ॥ १ ॥

मैं विश्व वृक्ष का उच्छेदक हूँ । मेरा यश गिरि शिखर के सदृश ऊँचा है । अन्नोत्पादक सूर्य में व्यास अमृत के सदृश मैं भी अतिपवित्र अमृत स्वरूप हूँ । मैं तेजोयुक्त सम्पदावान्, उत्तम मेधावान् और अमृत से अभिषिक्त हूँ - यह त्रिशङ्कु ऋषि की ज्ञान-अनुभव से युक्त वाणी है ॥ १ ॥

## ॥ एकादशोऽनुवाकः ॥

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः । सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् । देव पितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥ १ ॥ मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि । यान्यस्माकः सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि ॥ २ ॥ नो इतराणि । ये के चास्मच्छ्रेयाः सो ब्राह्मणः तेषां त्वयाऽसने न प्रश्नसितव्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयाऽ देयम् । श्रिया देयम् । हिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम् । अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ॥ ३ ॥ ये तत्र ब्राह्मणः संमर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्तेन् । तथा तत्र वर्तेथाः । अथाभ्याख्यातेषु । ये तत्र ब्राह्मणः संमर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तेषु वर्तेन् । तथा तेषु वर्तेथाः । एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ॥ ४ ॥

वेद अध्यापन के बाद आचार्य आश्रम के विद्यार्थियों को शिक्षण देते हैं - सत्य बोलो। धर्म का आचरण करो। स्वाध्याय में प्रमाद न करो। आचार्य को अभीष्ट धन प्रदान करो। प्रजाओं (सन्तान) की परम्परा विच्छिन्न न होने दो। सत्य से न डिगो, धर्म से न डिगो, शुभ कर्मों में प्रमाद न करो, प्रगति के साधन न छोड़ो, शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन में प्रमाद न करो। देव और पितृ कर्मों का त्याग न करो। माता-पिता को देव रूप मानो, आचार्य को देवता समझो। अतिथि को देवरूप मानो। जो दोष रहित कर्म वर्णित हैं, उन्हीं का आचरण करो। अन्य का नहीं। हमारे (शास्त्रादि में वर्णित) जो श्रेष्ठ चरित्र हैं, उसी की उपासना करो, अन्य की नहीं। हमसे (स्वयं से) श्रेष्ठ जो ब्राह्मण (आचार्य आदि) आएँ, उन्हें उत्तम आसन देकर विश्राम देना चाहिए। दानादि (श्रद्धा पूर्वक) देने योग्य है। बिना श्रद्धा के दान देने योग्य नहीं। आर्थिक स्थिति के अनुरूप दान देने योग्य है। लज्जा (सामाजिकता की शर्म) तथा (सिद्धान्त के) भय से भी दान देना उचित है। संविद्-मैत्री आदि के निर्वाह के लिए देना चाहिए। यदि आपको कर्म और आचरण के विषय में किसी तरह का सन्देह हो। (ऐसी स्थिति में) विचारशील, परामर्शदाता, आचरणनिष्ठ, निर्मल बुद्धि वाले धर्माभिलाषी ब्राह्मण से परामर्श करना चाहिए। वे जिस व्यवहार का आदेश करें, वैसा ही व्यवहार वहाँ करना चाहिए। किसी अपराध से लाज्जित व्यक्ति के विषय में कोई सन्देह उपस्थित हो, तो विचारशील, परामर्शकुशल, आचरणनिष्ठ, निर्मल मति वाले, धर्माभिलाषी ब्राह्मण से परामर्श करना चाहिए। वे जैसे व्यवहार का आदेश करें, वैसा ही व्यवहार करना चाहिए। यही आपके लिए आदेश और उपदेश है। यही वेद आज्ञा है। यही ईश्वर का अनुशासन है। इन सिद्धान्तों की ही उपासना करनी चाहिए। यही उपास्य है ॥ १-४ ॥

[ आचार्य अपनी ओर से अनुशासन समझाते हैं; किन्तु शिष्यों को स्वयं तक सीमित नहीं रखते। शंका होने पर किसी धर्माचरण युक्त ब्राह्मण से परामर्श लेने का परामर्श देते हैं। ब्राह्मण संज्ञा उस व्यक्ति के लिए है, जो ज्ञानयुक्त और निष्पृह हैं। जिसने ज्ञान को धर्माचरण के रूप में अपने जीवन में उतार लिया है, वही व्यक्ति मोह और भय से मुक्त होकर सही परामर्श दे सकता है। आचार्य श्रेष्ठ जीवन-श्रेष्ठ सिद्धान्तों को ही उपास्य मानते हैं। ]

## ॥ द्वादशोऽनुवाकः ॥

शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं नो इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्मः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्। ऋतमवादिषम्। सत्यमवादिषम्। तन्मामावीत्। तद्वक्तारमावीत्। आवीन्माम्। आवीद्वक्तारम्॥ ३० शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ १ ॥

मित्रदेव हमारे लिए कल्याणप्रद हों। वरुण देव कल्याणकारी हों। अर्यमादेव हमारे लिए कल्याणकारी हों। इन्द्रदेव, बृहस्पतिदेव भी हमारे लिए शान्तिप्रद हों। विशाल डग (पादक्षेप) वाले विष्णु देव हमारे लिए कल्याणप्रद हों। ब्रह्म को नमस्कार है। हे वायुदेव! आपको नमस्कार है। आप ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं। आपको ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहा गया है। आप ही ऋत और सत्य नाम से कहे गये हैं। उस ब्रह्म ने हमारी और आचार्य की रक्षा की है। त्रिविध तापों से सर्वत्र शान्ति हो ॥ १ ॥



## ॥ अथ ब्रह्मानन्दवल्ली ॥

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

वह परमात्मा हम दोनों (आचार्य और शिष्य) की साथ-साथ रक्षा करे। हम दोनों का साथ-साथ पोषण करे। हम दोनों साथ-साथ पराक्रम करें। हमारा अध्ययन (ज्ञान) तेजोयुक्त हो। हम परस्पर द्वेष-भाव से दूर हों। त्रिविध तापों की शान्ति हो।

### ॥ प्रथमोऽनुवाकः ॥

ॐ ब्रह्मविदाप्नोति परम् । तदेषाऽभ्युक्ता । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् । सोऽश्रुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति । तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्वयः पृथिवी । पृथिव्या ओषधयः । ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नात्पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः । तस्येदमेव शिरः । अयं दक्षिणः पक्षः । अयमुत्तरः पक्षः । अयमात्मा । इदं पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्रोको भवति ॥ १ ॥

श्रुति में यह कहा गया है कि ब्रह्मवेत्ता साधक परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। वह ब्रह्म सत्य, ज्ञान-स्वरूप और अनन्त है। जो साधक परम आकाश में और प्राणियों की हृदय गुहा में सन्त्रिहित उस ब्रह्म को जान लेता है, वह विशिष्ट ज्ञान स्वरूप उस ब्रह्म के साथ समस्त भोगों का उपभोग करता है। निश्चय ही उस परमात्मा से सर्वप्रथम आकाश तत्त्व प्रकट हुआ। तदनन्तर आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी तत्त्व उत्पन्न हुआ। पृथिवी से ओषधियाँ और ओषधियों से अन्न प्राप्त हुआ। अन्न से पुरुष वृद्धि को प्राप्त हुआ। पुरुष निश्चय ही उस अन्न के रस स्वरूप में है। उसका यह (मनुष्य रूपी पक्षी का) सिर है। एक बाहु दक्षिण पंख है। अन्य बाहु वाम पंख है। आत्मा मध्य भाग है। ये पैर ही पूँछ और प्रतिष्ठा हैं। उसी विषय में ये श्रोक उल्लिखित हैं ॥ १ ॥

### ॥ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

आगे के मन्त्रों में ईश्वर से पंचभूतों की उत्पत्ति तथा मनुष्य की काया में संव्यास पंच कोशों का वर्णन किया गया है। मनुष्य की काया में समाहित उन सभी कोशों का आकार मनुष्य की स्थूल काया के अनुरूप ही होता है। मनुष्य को पक्षी मानकर उसके सिर, पंख, मध्यभाग एवं पूँछ की संगति विचारे हुए पाँचों कोशों का वर्णन किया गया है-

अन्नादौ प्रजाः प्रजायन्ते । यः काश्च पृथिवीऽश्रिताः । अथो अन्नैव जीवन्ति । अथैनदपि यन्त्यन्ततः । अन्नःहि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात्सर्वोषधमुच्यते । सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति । येऽन्नं ब्रह्मोपासते । अन्नःहि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात्सर्वोषधमुच्यते । अन्नाद्वृतानि जायन्ते । जातान्यन्नेन वर्धन्ते । अद्यतेऽन्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यत इति । तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात् । अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधताम् । अन्वयं पुरुषविधः । तस्य प्राण एव शिरः । व्यानो दक्षिणः पक्षः । अपान उत्तरः पक्षः । आकाश आत्मा । पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्रोको भवति ॥ १ ॥

वे सभी प्राणी अन्न से ही उत्पन्न होते हैं, जो पृथिवी के आश्रय में स्थित हैं। अन्न से ही वे जीवित रहते और अन्त में अन्न में ही विलीन हो जाते हैं। अन्न ही सभी तत्त्वों में श्रेष्ठ है। इसीलिए यह सर्वोषधिरूप कहा गया है। जो अन्नरूपी ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे पुरुष सम्पूर्ण अन्न को प्राप्त करते हैं। अन्न ही सभी तत्त्वों में श्रेष्ठ है। इसलिए यह सर्वोषधिरूप कहा गया है। अन्न से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं। प्राणियों की वृद्धि अन्न से ही होती है। प्राणियों द्वारा अन्न खाया जाता है और अन्न भी प्राणियों को खाता है, इसीलिए वह अन्न ( अद्यते वा अन्ति च वा अन्नं ) कहा जाता है। उस अन्न रस युक्त देह से भिन्न इस देह के अन्दर प्राण रूप आत्मा पूर्ण रूप से व्याप्त है। यह प्राणरूप आत्मा निश्चय ही पुरुष के आकार का है। पुरुष की आकृति में व्याप्त होने से यह पुरुष के ही आकार का है। उस प्राणगत देह का प्राण ही सिर है। व्यान दाहिना पंख है। अपान बाम पंख है। आकाश उस देह का मध्य भाग है और पृथ्वी उसका पुच्छ एवं आधार भाग है। यह श्रोक उस प्राणगत देह के विषय में है॥ १ ॥

## ॥ तृतीयोऽनुवाकः ॥

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति । मनुष्याः पशवश्च ये । प्राणो हि भूतानामायुः । तस्मा त्सर्वायुषमुच्यते । सर्वमेव त आयुर्यन्ति । ये प्राणं ब्रह्मोपासते । प्राणो हि भूतानामायुः । तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति । तस्यैष एव शारीर आत्मा । यः पूर्वस्य । तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयात् । अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधताम् । अन्वयं पुरुषविधः । तस्य यजुरेव शिरः । ऋग् दक्षिणः पक्षः । सामोन्तरः पक्षः । आदेश आत्मा । अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्रोको भवति ॥

जो देवगण, मनुष्य और पशु आदि प्राणी हैं, वे प्राण के आश्रय से ही चेष्टा करते हैं, क्योंकि प्राण ही समस्त प्राणियों की आयु है, अतः यह सभी प्राणियों का जीवन है। जो प्राण रूप ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे पुरुष दीर्घ आयु को प्राप्त करते हैं। निश्चय ही प्राण सम्पूर्ण प्राणियों का जीवन है, इसी से यह सभी प्राणियों की आयु कहा गया है। यही उस पूर्वोक्त अन्नमय शरीर की अन्तरात्मा है। उस प्राणमय देह के अन्तर्गत उससे भिन्न एक मनोमय आत्मा पूर्णरूप से व्याप्त है। यह निश्चय ही पुरुष के आकार का है। प्राणमय पुरुष की आकृति में व्याप्त होने से यह मनोमय देह भी पुरुष के ही आकार का है। उस मनोमय देह का सिर यजुर्वेद है। ऋग्वेद दाहिना पक्ष है। सामवेद बायाँ पक्ष है। आदेश उस देह का मध्य भाग है। यह श्रोक उस मनोमय देह के विषय में है॥ १ ॥

## ॥ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न विभेति कदाचनेति । तस्यैष एवं शारीर आत्मा । यः पूर्वस्य । तस्माद्वा एतस्मात्मनोमयात् । अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधताम् । अन्वयं पुरुषविधः । तस्य श्रद्धैव शिरः । ऋतं दक्षिणः पक्षः । सत्यमुत्तरः पक्षः । योग आत्मा । महः पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्रोको भवति ॥ १ ॥

शतमिन्द्रस्यानन्दः । स एको बृहस्पतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दः । स एकः प्रजापतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं प्रजापतेरानन्दः । स एको ब्रह्मण आनन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । स यश्चायं पुरुषे । यश्चासावादित्ये । स एकः । स य एवंवित् । अस्माल्लेकात्प्रेत्य । एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतमानन्दमयमा-  
त्मानमुपसंक्रामति । तदप्येष श्रोको भवति ॥ १ ॥

इस (परब्रह्म) के भय से ही वायु बहता है । इसके भय से ही सूर्य उदित होता है । इसके भय से ही अग्नि, इन्द्र और पाँचवें मृत्यु के देवता यम-सभी अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त हैं । अब आनन्द विषयक विवेचन किया जाता है- कोई सदाचारी युवक, जो वेदों के अध्ययन से युक्त हो, सुदृढ़ अंगों वाला, बलिष्ठ, व्यवहार कुशल हो, साथ ही उसे समस्त वैभव से परिपूर्ण पृथिवी प्राप्त हो जाए, तो यह इस लोक (मनुष्य) का एक आनन्द है । जो मनुष्यलोक के सौ आनन्द हैं । वह मानव गन्धर्व के एक आनन्द के तुल्य है । वह शुद्ध अन्तःकरण वाले श्रोत्रिय मनुष्य को स्वाभाविक रूप से प्राप्त है । जो मानव गन्धर्व के सौ आनन्द हैं, वे देवगन्धर्व के एक आनन्द के तुल्य है, वह कामना रहित श्रोत्रिय मनुष्य को स्वाभाविक रूप से प्राप्त है । जो देव गन्धर्व के सौ आनन्द हैं, वह पितृलोक को प्राप्त हुए पितरों के एक आनन्द के तुल्य है, वह कामनाओं से विरक्त श्रोत्रिय मनुष्य को सहज ही प्राप्त है । जो आजानज संज्ञक देवों का एक आनन्द है, वह कामनाओं से विरक्त श्रोत्रिय मनुष्य को सहज ही प्राप्त है । जो आजानज संज्ञक देवों के सौ आनन्द हैं, वह कर्मदेव संज्ञक देवों के एक आनन्द के तुल्य है । जो मनुष्य अपने शुभकर्मों द्वारा देवत्व को प्राप्त हुए हैं, जो कामनाओं से विरत हैं, उन्हें वह आनन्द स्वाभाविक रूप से ही प्राप्त है । जो कर्मदेव संज्ञक देवों के सौ आनन्द हैं, वह देवों के एक आनन्द के तुल्य है, वह आनन्द कामना रहित श्रोत्रिय मनुष्य को सहज ही प्राप्त है । जो देवों के सौ आनन्द हैं, वह इन्द्र का एक आनन्द है, वह कामनारहित श्रोत्रिय मनुष्य को सहज प्राप्त है । जो इन्द्रदेव के सौ आनन्द हैं, वह बृहस्पतिदेव के एक आनन्द के तुल्य है, जो श्रोत्रिय मनुष्य उस आनन्द की कामना से मुक्त है, उसे वह आनन्द सहज ही प्राप्त है । जो देव प्रजापति के सौ आनन्द हैं, वह ब्रह्मा के एक आनन्द के तुल्य है, जो श्रोत्रिय मनुष्य उस आनन्द की कामना भी नहीं रखता, उसे वह आनन्द सहज ही प्राप्त है । जो ब्रह्म इस मनुष्य में है, वही सूर्य में भी है । जो साधक इस रहस्य को जान लेता है, वह इस लोक से जाते हुए अन्नमय आत्मा को प्राप्त कर लेता है । वह इस प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय आत्मा को भी प्राप्त कर लेता है । उसी के विषय में यह श्लोक है ॥ १ ॥

[ यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि केवल पृथ्वी एवं सम्पत्ति से आनन्द प्राप्ति सम्भव नहीं है, उसके लिए समग्र व्यक्तित्व ही श्रेष्ठ होना चाहिए । अगले मंत्रों में श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर आनन्द का उल्लेख है । ऋषि बार-बार कहते हैं कि वह आनन्द “ श्रोत्रियस्य च अकाम हतस्य ” है, अर्थात् जो ज्ञान सम्पन्न है तथा कामनाओं से आहत नहीं है, उसी के लिए यह आनन्द है । अज्ञानी हीनसुखों में ही भटक जाता है, श्रेष्ठ आनन्द तक पहुँचना ही नहीं चाहता । छाले जैसे रोगों से आहत जीभ जिस प्रकार स्वादिष्ट व्यंजनों का रस नहीं ले सकती, उसी प्रकार कामनाओं से आहत मन-अन्तःकरण श्रेष्ठ आनन्द की अनुभूति नहीं कर पाता । ]

## ॥ नवमोऽनुवाकः ॥

यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न बिभेति कुतश्चनेति । एतः ह वाच न तपति किमहः साधु नाकरवम् । किमहं पापमकरवमिति । स य एवं विद्वानेते आत्मानः स्पृणुते । उभे ह्येवैष एते आत्मानः स्पृणुते य एवं वेद । इत्युपनिषत् ॥ १ ॥

जिस ब्रह्मानन्द की अनुभूति में मन के साथ वाणी असमर्थ रहती है, उसका बोध करने वाला विद्वान् कभी भयग्रस्त नहीं होता। विद्वज्ञानों को इस बात की चिन्ता संतस नहीं करती कि उन्होंने श्रेष्ठ कर्म क्यों नहीं किया? उन्होंने पाप कर्मों को क्यों किया? जो विद्वान् पाप-पुण्य दोनों ही कर्मों को जानता है, वह पापों से अपनी रक्षा करता है। जो विद्वान् पाप-पुण्य दोनों ही कर्मों के बन्धन को जानता है, वह दोनों ही कर्मों में आसक्त न होकर अपनी रक्षा करता है। यह उपनिषद् वाणी है ॥ १ ॥

## ॥ अथ भृगुवल्ली ॥

### ॥ प्रथमोऽनुवाकः ॥

**भृगुर्वै वारुणः । वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तस्मा एतत्प्रोवाच । अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति । तः होवाच । यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥**

भृगु वारुणि अपने पिता देव वरुण के पास गये और बोले - हे भगवन्! मुझे ब्रह्म का उपदेश करें। देव वरुण ने उनसे कहा - अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और वाणी ये सब उस ब्रह्म की प्राप्ति के साधन हैं। ये समस्त प्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं, जिसके आश्रय से जीवन जीते हैं और अन्त में इस लोक से प्रयाण कर जिसमें लय होते हैं, उस ब्रह्म को तत्त्वतः जानने की जिज्ञासा करो। वही ब्रह्म है। इस प्रकार जानकर भृगु ऋषि तप करने लगे। तप करने के अनन्तर ॥ १ ॥

### ॥ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

**अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् । अन्नाद्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । अन्नेन जातानि जीवन्ति । अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय । पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तः होवाच । तपसा ब्रह्म विज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥**

(तप के अनन्तर) उन्हें बोध हुआ कि अन्न ही ब्रह्म है। निश्चय ही सभी प्राणी अन्न से ही उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न प्राणी अन्न से ही जीवित रहते हैं और अन्त में मृत्यु आने पर इस लोक से प्रयाण कर अन्न में ही प्रविष्ट होते हैं। ऐसा जानकर वे पुनः अपने पिता वरुणदेव के पास गये। (उनके द्वारा कर अन्न में ही प्रविष्ट होते हैं। ऐसा जानकर वे पुनः अपने पिता वरुणदेव के पास गये। (उनके द्वारा पूर्ण समर्थन न मिलने पर) पुनः भृगु ऋषि बोले- भगवन्! तो ब्रह्म क्या है? ब्रह्म का बोध कराएँ।

उन्होंने कहा- तप से ब्रह्म को तत्त्वतः जानने की जिज्ञासा करो। तप ही ब्रह्म है। अतः भृगु ऋषि पुनः तप करने लगे। तप करने के अनन्तर ॥ १ ॥

### ॥ तृतीयोऽनुवाकः ॥

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्वयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तःहोवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥

(तप के अनन्तर) उन्हें बोध हुआ कि प्राण ही ब्रह्म है। यथार्थ में सभी प्राणी प्राण से ही उत्पन्न होते हैं, उत्पत्ति के बाद प्राण से ही जीवित रहते हैं और अन्त में इस लोक से प्रयाण कर प्राण में ही प्रविष्ट होते हैं। इस प्रकार जानकर वे पुनः अपने पिता वरुणदेव के पास गये। (उनके द्वारा पूर्ण समर्थन न मिलने पर) पुनः भृगु ऋषि बोले- भगवन्! ब्रह्म तत्त्वतः क्या है, उसका बोध कराएँ। उन्होंने कहा- तप से ब्रह्म को तत्त्वतः जानो। तप ही ब्रह्म है, ऐसा जानकर भृगु ऋषि तप करने लगे। तप करने के अनन्तर ॥ १ ॥

### ॥ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्रोव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मनःप्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तःहोवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥

(तप के अनन्तर) उन्होंने जाना कि वास्तव में मन से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर मन से ही जीवन जीते हैं और अन्त में इस लोक से प्रयाण कर मन में ही प्रविष्ट होते हैं। ऐसा जानकर भृगु ऋषि पुनः अपने पिता वरुणदेव के पास गये। (अपने ज्ञान बोध का पूर्ण समर्थन न मिलने पर पुनः कहा-) भगवन्! यथार्थ में ब्रह्म क्या है, उसका बोध कराएँ। देववरुण ने कहा- तप से उस ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को जानो। तप ही ब्रह्म है। भृगु ऋषि पुनः तप करने लगे। तप करने के अनन्तर..... ॥ १ ॥

### ॥ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्वयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तःहोवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥

(तप के अनन्तर) उन्होंने जाना कि वास्तव में विज्ञान से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं। उत्पत्ति के बाद विज्ञान से ही जीवन जीते हैं। अन्त में प्रयाण करते हुए विज्ञान में ही प्रविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार जानकर वे पुनः अपने पिता वरुणदेव के पास गये। (अपने बोध का पूर्ण समर्थन न मिलने पर उन्होंने पुनः कहा)- भगवन्! यथार्थ में ब्रह्म क्या है, उसका बोध कराएँ। देव वरुण ने कहा- तप से उस ब्रह्म को तत्त्वतः जानो। तप ही ब्रह्म है। भृगु ऋषि पुनः तप करने लगे। तप करने के अनन्तर..... ॥ १ ॥

## ॥ षष्ठोऽनुवाकः ॥

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्वयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । सैषा भार्गवी वारुणी विद्या । परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता । स य एवं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या ॥ १ ॥

(तप के अनन्तर) उन्होंने जाना कि आनन्द ही ब्रह्म है। वास्तव में आनन्द से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं। उत्पत्ति के बाद आनन्द से ही जीवन जीते हैं और अन्त में आनन्द में ही प्रविष्ट होते हैं। इस प्रकार भृगु ऋषि ब्रह्मज्ञान से पूर्ण हुए। भृगु ऋषि द्वारा अनुभूत तथा देव वरुण द्वारा वर्णित यह ब्रह्म विद्या परम व्योम (व्यापक आकाश) में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार जो साधक ब्रह्म के आनन्द स्वरूप को जानता है। वह प्रचुर अन्न, पाचन शक्ति, प्रजा-पशु, ब्रह्मवर्चस तथा महान् कीर्ति से सम्पन्न होकर महान् हो जाता है॥

[ ऋषि स्पष्ट करते हैं कि श्रेष्ठतम ब्रह्मविद्या किसी व्यक्ति विशेष के आश्रित नहीं है, वह परम व्योम में स्थित है। भृगु की तरह कोई भी साधक अपनी अनुभूति-सामर्थ्य को तप द्वारा प्रखर-परिष्कृत बनाकर उसका बोध प्राप्त कर सकता है। ]

## ॥ सप्तमोऽनुवाकः ॥

अन्नं न निन्द्यात् । तद्व्रतम् । प्राणो वा अन्नम् । शरीरमन्नादम् । प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम् । शरीर प्राणः प्रतिष्ठितः । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या ॥ २ ॥

अन्न की निन्दा न करे। वह व्रत है। प्राण ही अन्न है। शरीर उस अन्न का भक्षण करने वाला है। शरीर प्राण के आश्रय में स्थित है और प्राण शरीर के आश्रय में अधिष्ठित है। इस प्रकार अन्न में ही अन्न प्रतिष्ठित है। जो साधक इस रहस्य को जानता है, वह उसी में प्रतिष्ठित हो जाता है। वह (साधक) अन्न -पाचन शक्ति, प्रजा, पशु, ब्रह्मवर्चस तथा महान् कीर्ति से सम्पन्न होकर महान् हो जाता है॥ २ ॥

## ॥ अष्टमोऽनुवाकः ॥

अन्नं न परिचक्षीत । तद्व्रतम् । आपो वा अन्नम् । ज्योतिरन्नादम् । अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम् । ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान्कीर्त्या ॥ ३ ॥

अन्न का कभी तिरस्कार न करे। वह व्रत है। जल ही अन्न है। तेजस् अन्न का भोग करने वाला है। जल में तेजस् स्थित है और तेजस् में जल अधिष्ठित है। इस प्रकार अन्न में ही अन्न प्रतिष्ठित है। जो साधक अन्न में अन्न प्रतिष्ठित है, इस रहस्य को जानता है, वह अन्नरूपी ब्रह्म में अधिष्ठित होता है। वह अन्नादि साधन, पाचन शक्ति, सन्तान, पशु, ब्रह्मवर्चस और कीर्ति से समृद्ध होकर महान् हो जाता है॥ ३ ॥

[ जल में तेजस् की अनुभूति सहज की जा सकती है। मोती या किसी चमकदार वस्तु की चमक (तेजस्विता) घटती है, तो कहा जाता है, उसका पानी उत्तर गया या 'आब' कम हो गई। 'आब' अरबी में पानी को ही कहते हैं, जो सम्भवतः संस्कृत के 'अप्' का ही परिवर्तित रूप है। ]

## ॥ नवमोऽनुवाकः ॥

अन्नं बहु कुर्वीत । तद्वत्म् । पृथिवी वा अन्नम् । आकाशोऽन्नादः । पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः । आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतिष्ठिति । अन्नवानन्नादो भवति । महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान्कीर्त्या ॥ १ ॥

अन्न को बढ़ाएँ । वह एक व्रत है । पृथ्वी ही अन्न है । आकाश पार्थिव अन्न का आधार रूप होने से उसका भोक्ता है । पृथ्वी में आकाश स्थित है और आकाश में पृथ्वी अधिष्ठित है । इस प्रकार अन्न में अन्न स्थित है । जो विद्वान् इस रहस्य को जानता है, वह उसी अन्नरूप ब्रह्म में प्रतिष्ठित होता है । वह अन्नादि पदार्थ, पाचनशक्ति, संतान, पशु, ब्रह्मवर्चस और कीर्ति से समृद्ध होकर महान् हो जाता है ॥ १ ॥

[ आकाश में पृथ्वी तो प्रत्यक्ष दीखती है, पृथ्वी में आकाश समझने के लिए परमाणु संरचना ( एटामिक स्ट्रक्चर ) समझना होगा । परमाणु का केन्द्र नाभिक ( न्यूक्लियस ) होता है और आस-पास इलेक्ट्रॉन धूमते हैं । न्यूक्लियस तथा धूमने वाले इलेक्ट्रानों के बीच इतना स्थान खाली होता है, जितना सूर्य और पृथ्वी के बीच । यह स्थान ही आकाश है । इस प्रकार हर ठोस पदार्थ में पर्याप्त आकाश होता है । ]

## ॥ दशमोऽनुवाकः ॥

न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत । तद्वत्म् । तस्माद्या कया च विधया ब्रह्मन् प्राप्यात् । आराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते । एतद्वै मुखतोऽन्नं राद्धम् । मुखतोऽस्मा अन्नं राध्यते । एतद्वै मध्यतोऽन्नं राद्धम् । मध्यतोऽस्मा अन्नं राध्यते । एतद्वा अन्ततोऽन्नं राद्धम् । अन्ततोऽस्मा अन्नं राध्यते ॥ १ ॥ य एवं वेद । क्षेम इति वाचि । योगक्षेम इति प्राणापानयोः । कर्मेति हस्तयोः । गतिरिति पादयोः । विमुक्तिरिति पायौ । इति मानुषीः समाज्ञाः । अथ दैवीः । तृप्तिरिति वृष्टौ । बलमिति विद्युति ॥ २ ॥ यश इति पशुषु । ज्योतिरिति नक्षत्रेषु । प्रजापतिरमृतमानन्द इत्युपस्थे । सर्वमित्याकाशे । तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत । प्रतिष्ठावान् भवति । तन्मह इत्युपासीत । महान् भवति । तन्मन इत्युपासीत । मानवान् भवति ॥ ३ ॥ तन्नम इत्युपासीत । नम्यन्तेऽस्मै कामाः । तद्व्योत्युपासीत । ब्रह्मवान् भवति । तद्व्याणः परिमर इत्युपासीत । पर्येण म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः । परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः । स यश्चायं पुरुषे । यश्चासावादित्ये । स एकः ॥ ४ ॥ स य एवंवित् । अस्माल्लोकात्प्रेत्य । एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतमानंदमयमात्मानमुपसंक्रम्य । इमॉल्लोकान्कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन् । एतत्साम गायन्नास्ते । हा ३ वु हा ३ वु हा ३ वु ॥ ५ ॥

घर में आये हुए अतिथि को तिरस्कृत न करें । यह एक व्रत है । जिस प्रकार बने, बहुत सा अन्न प्राप्त करें, जिससे सर्वदा अतिथि सेवा में तत्पर रहें । यदि उसे अधिक आदर और प्रेम से भोजन कराएँ, तो स्वयं को अधिक आदर सहित अन्न मिलता है । यदि मध्यम श्रेणी के आदर और प्रेम से भोजन कराएँ, तो मध्यम श्रेणी के आदर सहित स्वयं को अन्न प्राप्त होता है । यदि निम्न श्रेणी के आदर और प्रेम से भोजन कराएँ, तो स्वयं को निम्न श्रेणी के आदर सहित अन्न प्राप्त होता है । जो इस तथ्य का ज्ञाता है, वह अतिथि का उत्तम

आदर करता है। वह परमात्मा वाणी में रक्षक शक्ति के रूप में है, प्राण और अपान में प्रदाता और रक्षक दोनों सामर्थ्य वाला है। वह हाथों में कर्म करने की शक्ति, पैरों में गति सामर्थ्य, गुदा में विसर्जन शक्ति के रूप में स्थित है। यह उस ब्रह्म की मानुषी सत्ता का वर्णन है, अब उसकी दैवी सत्ता का वर्णन करते हैं। वह वृष्टि में तृप्ति है, बिजली में शक्ति है। पशुओं में यश, ग्रहों-नक्षत्रों में ज्योति, उपस्थ में प्रजनन-सामर्थ्य, वीर्य और आनन्द रूप में सत्त्वित है। वह आकाश में व्यापक विश्व (प्रत्यक्ष जगत्) रूप में स्थित है। वह परमात्मा सत्रका आधाररूप है, ऐसा मानकर-उपासना करने वाला सबको आधार देने वाला बन जाता है। वह सबसे महान् है, ऐसा मानकर उपासना करने वाला महान् बन जाता है। वह मन है, ऐसा मानकर उपासना करने वाला मननशील होता है। वह नमन योग्य है, ऐसा मानने वाले उपासक के लिए सम्पूर्ण कामनाएँ न त होती हैं। वह ब्रह्म है, ऐसा मानकर उपासना करने वाला ब्रह्ममय हो जाता है। वह परिमर (जिसमें विद्युत्, वृष्टि, चन्द्रमा, आदित्य और अग्नि -ये पाँच देवता मृत्यु (अस्त) को प्राप्त होते हैं।) - आकाश-मृत्युनियामक देव है, ऐसा मानकर उपासना करने वाले के बिंदुषी शत्रु समाप्त हो जाते हैं, उसका अप्रिय चाहने वाले बन्धु भी नष्ट हो जाते हैं, जो इस मनुष्य में है, वह सूर्य में भी है, जो साधक इस प्रकार दोनों में एकत्व को जानता है, वह इस लोक से प्रयाण कर अन्नमय आत्मा को प्राप्त होता है। पुनः प्राणमय आत्मा को प्राप्त होता है। पुनः मनोमय आत्मा, फिर विज्ञानमय आत्मा को प्राप्त होता है। पुनः वह आनन्दमय आत्मा को प्राप्त होता है। आनन्दमय आत्मा को प्राप्त होकर वह इच्छित भोग और रूप को प्राप्त करता है। फिर साम गायन करता हुआ सब लोकों में विचरण करता है॥ १-५ ॥

**अहमन्नमह-मन्नमहमन्नम् । अहमन्नादो ३ ऽहमन्नादो ३ ऽहमन्नादः ।  
अहःश्लोककृदहःश्लोककृद-हःश्लोककृत् । अहमस्मि प्रथमजा ऋताऽस्य । पूर्व  
देवेभ्योऽमृतस्य ना ३ भायि । यो मा ददांति स इदेव माऽवाः । अहमन्नमन्नमदन्तमा ३  
द्यि । अहं विश्वं भुवनमभ्यभवाऽम् । सुवर्णज्योतीः । य एवं वे । इत्युपनिषत् ॥ ६ ॥**

आश्वर्य ! आश्वर्य !! आश्वर्य !!! मैं (आत्मतत्त्व) ही अन्न हूँ। आश्वर्य है कि मैं (आत्मा) ही अन्न का उपभोग करने वाला हूँ। आश्वर्य है कि मैं (आत्मा) ही इनका संयोजक हूँ। मैं ही श्लोककृत् (मन्त्रद्रष्टा) हूँ, मैं ही श्लोककृत् हूँ। मैं इस प्रत्यक्ष सत्यरूप जगत् के प्रथम उत्पत्तिकर्ता हिरण्यगर्भ आदि अमर देवों के भी पूर्व स्थित अमरत्व का केन्द्र हूँ। जो मुझे देता है, वह देकर मेरी रक्षा करता है। मैं अन्नरूप होकर अन्न-भक्षक का भी भक्षण कर लेता हूँ। मैं सम्पूर्ण भुवनों को नगण्यरूप अनुभव करता हूँ। मेरा तेज सूर्य के समान है। इस प्रकार का बोध करने वाला विद्वान् वैसी ही सामर्थ्य वाला होता है। (इस प्रकार) यह उपनिषद् पूर्ण हुआ॥ ६ ॥

**॥ शान्तिपाठः ॥**

**ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । ..... इति शान्तिः ॥**

**ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः ॥ ..... इति शान्तिः ॥**

**॥ इति तैत्तिरीयोपनिषत्समाप्ता ॥**



# ॥ नादविन्दूपनिषद् ॥

यह उपनिषद् ऋग्वेद से सम्बद्ध है। इस उपनिषद् के प्रारम्भ में 'ॐकार' को हंस मानकर उसके विभिन्न अंगोपांगों का वर्णन किया गया है। फिर ॐ की १२ मात्राओं तथा उनके साथ प्राणों के विनियोग का फल कहा गया है। योगयुक्त साधक की स्थिति तथा ज्ञानी के प्रारम्भ कर्मों के क्षय का वर्णन करते हुए नाद के अनेक प्रकार तथा नादानुसंधान साधना का स्वरूप समझाया गया है। अंत में मन के प्रभावित होने, मन के लय होने तथा मनोलय की स्थिति का वर्णन किया गया है।

## ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ वाङ्मे मनसि.....इति शान्तिः ॥ ( द्रष्टव्य- ऐतरेयोपनिषद् )

ॐ अकारो दक्षिणः पक्ष उकारस्तूत्तरः स्मृतः ।

मकारं पुच्छमित्याहुरर्धमात्रा तु मस्तकम् ॥ १ ॥

ॐ कार रूप हंस का 'अकार' दक्षिण पक्ष (दाहिना पंख) तथा 'उकार' उत्तर पक्ष (बायाँ पंख) कहा गया है। उसकी पूँछ ही 'मकार' है और अर्धमात्रा ही उसका शीर्ष भाग है ॥ १ ॥

पादादिकं गुणास्तस्य शरीरं तत्त्वमुच्यते ।

धर्मोऽस्य दक्षिणं चक्षुरधर्मोऽथो परः स्मृतः ॥ २ ॥

उस (ॐ कार रूप हंस) के दोनों पैर रजोगुण एवं तमोगुण हैं और (उसका) शरीर सतोगुण कहा गया है। धर्म (उसका) दक्षिण चक्षु है और अधर्म बायाँ चक्षु (नेत्र) कहा गया है ॥ २ ॥

भूलौकः पादयोस्तस्य भुवलौकस्तु जानुनि ।

सुवलौकः कटीदेशे नाभिदेशे महर्जगत् ॥ ३ ॥

उस (हंस) के दोनों पैरों में भूः (पृथ्वी) लोक स्थित है। उसकी जंघाओं में भुवः (अन्तरिक्ष) लोक केन्द्रित है। स्वः (स्वर्ग-ऊर्ध्व) लोक उसके कटिप्रदेश तथा महः लोक उसके नाभि प्रदेश में स्थित है ॥ ३ ॥

जनोलोकस्तु हृदेशे कण्ठे लोकस्तपस्ततः ।

भ्रुवोललाटमध्ये तु सत्यलोको व्यवस्थितः ॥ ४ ॥

उसके हृदय स्थल में जनः लोक और कण्ठ प्रदेश में तपोलोक विद्यमान है। ललाट और भौहों के मध्य में सत्य लोक स्थित है ॥ ४ ॥

सहस्रार्णमतीवात्र मन्त्र एष प्रदर्शितः ।

एवमेतां समारूढो हंसयोगविचक्षणः ॥ ५ ॥

न भिद्यते कर्मचारैः पापकोटिशतैरपि ।

आग्रेयी प्रथमा मात्रा वायव्येषा तथापरा ॥ ६ ॥

इस प्रकार से वर्णित सहस्रार्णमतीवात्र मन्त्र एष प्रदर्शितः । एवमेतां समारूढो हंसयोगविचक्षणः ॥ ५ ॥ न भिद्यते कर्मचारैः पापकोटिशतैरपि । आग्रेयी प्रथमा मात्रा वायव्येषा तथापरा ॥ ६ ॥

इस प्रकार से वर्णित सहस्रार्णमतीवात्र युक्त प्रणवरूप हंस पर आसीन होकर कर्मानुष्ठान-ध्यान आदि में रत हंस योगी- विचक्षण पुरुष ओंकार की श्रेष्ठ विधि से मनन व चिन्तन करता हुआ सहस्रों-करोड़ों पापों से निवृत्त होकर मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है। ( ॐकार के देवता अग्नि हैं। उसका स्वरूप भी अग्नि मण्डल जैसा है। 'अकार' नामक (प्रणव की) प्रथम मात्रा 'आग्रेयी' कही गयी है और ('उकार' नामक)

द्वितीया मात्रा 'वायव्या' कही गयी है। (इस वायव्या के देवता वायु हैं और यह वायुमण्डल की भाँति रंग-रूप वाली है) ॥ ५-६ ॥

**भानुमण्डलसंकाशा भवेन्मात्रा तथोत्तरा ।**

**परमा चार्धमात्रा या वारुणीं तां विदुर्बुधाः ॥ ७ ॥**

तत्पश्चात् 'मकार' नामक यह तृतीय 'मात्रा' सूर्य मण्डल के समतुल्य है। (इस मात्रा के देवता सूर्य हैं तथा) चतुर्थ मात्रा 'अर्धमात्रा' के रूप में 'वारुणी' कही गयी है। (इस वारुणी के देवता वरुण हैं) ॥ ७ ॥

**कालत्रयेऽपि यस्येमा मात्रा नूनं प्रतिष्ठिताः ।**

**एष ओंकार आख्यातो धारणाभिर्निबोधत ॥ ८ ॥**

इन उपर्युक्त चारों मात्राओं में से हर एक मात्रा तीन-तीन काल अथवा कला रूप है। इस प्रकार 'ॐकार' को द्वादश कलाओं से युक्त कहा गया है। धारणा, ध्यान एवं समाधि के द्वारा इसे जानने का प्रयास करना चाहिए॥

[ ॐकार साधना मात्रा उच्चारण से पूरी नहीं होती, दिव्य प्राण प्रवाह रूप ॐकार की अनुभूति धारणा ध्यानादि द्वारा की जाती है। ]

**घोषिणी प्रथमा मात्रा विद्युन्मात्रा तथापरा ।**

**पतङ्गिनी तृतीया स्याच्चतुर्थी वायुवेगिनी ॥ ९ ॥**

(इस प्रकार बारह कलाओं की मात्राओं में) प्रथम मात्रा 'घोषिणी' कही गई है। द्वितीय मात्रा का नाम 'विद्युन्मात्रा' है, तृतीय मात्रा 'पतङ्गी' और चतुर्थ मात्रा 'वायुवेगिनी' के नाम से जानी जाती है ॥ ९ ॥

**पञ्चमी नामधेया तु षष्ठी चैन्द्र्यभिधीयते ।**

**सप्तमी वैष्णवी नाम अष्टमी शांकरीति च ॥ १० ॥**

पाँचवीं मात्रा का नाम 'नामधेया' है और छठवीं मात्रा 'ऐन्द्री' के नाम से जानी जाती है। सातवीं मात्रा का नाम 'वैष्णवी' और आठवीं मात्रा 'शाङ्करी' के नाम से प्रसिद्ध है ॥ १० ॥

**नवमी महती नाम धृतिस्तु दशमी मता ।**

**एकादशी भवेन्नारी ब्राह्मी तु द्वादशी परा ॥ ११ ॥**

नौवीं मात्रा 'महती' तथा दसवीं मात्रा को 'धृति' (ध्रुवा) कहा गया है। च्यारहवीं मात्रा 'नारी' (मौनी) और बारहवीं मात्रा 'ब्राह्मी' के नाम से जानी जाती है ॥ ११ ॥

**प्रथमायां तु मात्रायां यदि प्राणैर्वियुज्यते ।**

**भरते वर्षराजासौ सार्वभौमः प्रजायते ॥ १२ ॥**

(ॐकार की इन द्वादश कलाओं की) प्रथम मात्रा में यदि साधक अपने प्राणों का परित्याग कर देता है, तो वह भारतवर्ष में सार्वभौमिक चक्रवर्ती सम्राट् के रूप में प्रादुर्भूत होता है ॥ १२ ॥

**द्वितीयायां समुत्क्रान्तो भवेद्यक्षो महात्मवान् ।**

**विद्याधरस्तृतीयायां गान्धर्वस्तु चतुर्थिका ॥ १३ ॥**

(ॐकार की) द्वितीय मात्रा में जब साधक के प्राणों का उत्क्रमण होता है, तब वह महान् महिमाशाली यक्ष के रूप में उत्पन्न होता है। (ॐकार की) तृतीय मात्रा में प्राण त्याग करने पर (वह) विद्याधर के रूप में और चतुर्थ मात्रा में प्राण के परित्याग करने से (वह) गन्धर्व के रूप में जन्म लेता है॥

[अपने प्राणों के स्पन्दन का उँकार रूप महाप्राण की जिस कोटि के साथ तादात्म्य होता है, उसी के अनुरूप देहान्तर की प्राप्ति होती है।]

**पञ्चम्यामथ मात्रायां यदि प्राणौर्वियुज्यते ।**

**उषितः सह देवत्वं सोमलोके महीयते ॥ १४ ॥**

यदि पाँचवीं मात्रा में उस (साधक) के प्राणों का उत्क्रमण होता है, तो वह 'तुषित' नामक देवों के साथ निवास करता हुआ चन्द्रलोक में सम्मानित होता है ॥ १४ ॥

**षष्ठ्यामिन्द्रस्य सायुज्यं सप्तम्यां वैष्णवं पदम् ।**

**अष्टम्यां व्रजते रुद्रं पशूनां च पतिं तथा ॥ १५ ॥**

छठवीं मात्रा में (शरीर से प्राणों का उत्क्रमण होने पर) साधक देवराज इन्द्र के सायुज्य पद को प्राप्त करता है। सातवीं मात्रा में भगवान् विष्णु के पद-वैकुण्ठ धाम को प्राप्त करता है तथा आठवीं मात्रा में पशुपति भगवान् शिव के रुद्रलोक में जाकर उनकी समीपता का लाभ प्राप्त करता है ॥ १५ ॥

**नवम्यां तु महर्लोकं दशम्यां तु जनं व्रजेत् ।**

**एकादश्यां तपोलोकं द्वादश्यां ब्रह्म शाश्वतम् ॥ १६ ॥**

नवीं मात्रा में महः लोक को, दसवीं मात्रा में जनः लोक (ध्रुवलोक) को प्राप्त होता है। ग्यारहवीं मात्रा में तपोलोक को और बारहवीं मात्रा में साधक शाश्वत ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है ॥ १६ ॥

**ततः परतरं शुद्धं व्यापकं निर्मलं शिवम् ।**

**सदोदितं परं ब्रह्म ज्योतिषामुदयो यतः ॥ १७ ॥**

इससे भी परतर (परे), श्रेष्ठ, व्यापक, शुद्ध, निर्मल, कल्याणकारी, सदैव उदीयमान (वह) परमब्रह्म-तत्त्व है। उसी से सभी तरह की ज्योतियाँ (अग्नि, सूर्य एवं चन्द्र आदि) प्रादुर्भूत हुई हैं ॥ १७ ॥

**अतीन्द्रियं गुणातीतं मनो लीनं यदा भवेत् ।**

**अनूपमं शिवं शान्तं योगयुक्तं सदाविशेत् ॥ १८ ॥**

जब श्रेष्ठ साधक का मन समस्त इन्द्रियों एवं सत्, रज और तम आदि तीनों गुणों से परे होकर परमतत्त्व में विलीन हो जाता है, तब वह उपमारहित, कल्याणकारी, शान्तस्वरूप हो जाता है; ऐसी उच्च स्थिति में पहुँचे हुए साधकों को योग युक्त कहा जाना चाहिए ॥ १८ ॥

**तद्युक्तस्तन्मयो जन्तुः शनैर्मुच्छेत्कलेवरम् ।**

**संस्थितो योगचारेण सर्वसङ्गविवर्जितः ॥ १९ ॥**

उस योगयुक्त और तन्मय हुए साधक को अविद्या आदि दोषों से मुक्त और योग पद्धति से स्वस्थ (आत्मा में स्थित) होकर सभी प्रकार के आसक्ति आदि दोषों से रहित हो जाना चाहिए ॥ १९ ॥

**ततो विलीनपाशोऽसौ विमलः कमलाप्रभुः ।**

**तेनैव ब्रह्मभावेन परमानन्दमश्रुते ॥ २० ॥**

इस प्रकार उस (साधक) के समस्त सांसारिक बन्धनों का शमन (क्षय) हो जाता है। वह निर्मल, कैवल्यपद को प्राप्त कर स्वयं ही परमात्म स्वरूप हो जाता है। वह ब्रह्मभाव से परमानन्द को प्राप्त करके असीम आनन्द की अनुभूति करता है ॥ २० ॥

आत्मानं सततं ज्ञात्वा कालं नय महामते ।

प्रारब्धमखिलं भुञ्जन्नोद्देगं कर्तुमहसि ॥ २१ ॥

हे ज्ञानवान् पुरुष ! तुम सतत प्रयत्न करते हुए आत्मा के स्वरूप को समझने का प्रयास करो । उसी के सच्चिन्तन में अपने समय को लगाओ । प्रारब्ध कर्मानुसार जो भी कष्ट-कठिनाइयाँ सामने आयें, उनको भोगते हुए तुम्हें उद्घिग (खिल-दुःखी) नहीं होना चाहिए ॥ २१ ॥

उत्पन्ने तत्त्वविज्ञाने प्रारब्धं नैव मुञ्चति ।

तत्त्वज्ञानोदयादूर्ध्वं प्रारब्धं नैव विद्यते ॥ २२ ॥

देहादीनामसत्त्वात् यथा स्वप्ने विबोधतः ।

कर्म जन्मान्तरीयं यत्प्रारब्धमिति कीर्तिंतम् ॥ २३ ॥

आत्मज्ञान के प्रादुर्भूत होने पर भी प्रारब्ध (संस्कार) स्वयं त्याग नहीं करता, किन्तु जैसे ही तत्त्वज्ञान का प्राकट्य होता है, वैसे ही प्रारब्ध कर्म का क्षय हो जाता है । जैसा कि स्वप्रलोक के देहादिक असत् होने के कारण जाग्रत् होने पर विलुप्त हो जाते हैं, विगत जन्मों में जो किये हुए कर्म हैं, उन्हीं कर्मों को प्रारब्ध कर्म की संज्ञा प्रदान की गई है ॥ २२-२३ ॥

यत्तु जन्मान्तराभावात्पुंसो नैवास्ति कर्हिचित् ।

स्वप्रदेहो यथाध्यस्तस्तथैवायं हि देहकः ॥ २४ ॥

ज्ञानी के लिए तो जन्म-जन्मान्तर भी नहीं है । इसलिए प्रारब्ध कर्म ज्ञानी के लिए कभी भी बाधक नहीं होता । जैसे स्वप्रकालीन देह, देह नहीं होती, केवल अध्यास मात्र (रस्सी में साँप की तरह) ही होती है, वैसे ही यह जाग्रत् अवस्था का शरीर भी अध्यास मात्र ही है ॥ २४ ॥

अध्यस्तस्य कुतो जन्म जन्माभावे कुतः स्थितिः ।

उपादानं प्रपञ्चस्य मृद्घाण्डस्येव पश्यति ॥ २५ ॥

अध्यस्त (अयथार्थ) की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? और उत्पत्ति के अभाव में उस वस्तु की स्थिति कैसे होगी ? (जिस प्रकार रज्जु-रस्सी में सर्प का अध्यास होने पर रज्जु में सर्प नहीं उत्पन्न होता और न ही उस स्थान में सर्प की स्थिति ही होती है ।) इसलिए इस प्रपञ्च का मुख्य उपादान कारण आत्मा ही है । जैसे कि मिट्टी के द्वारा निर्मित पात्रों का उपादान कारण मिट्टी होती है ॥ २५ ॥

अज्ञानं चेति वेदान्तैस्तस्मिन्नष्टे क्व विश्वता ।

यथा रज्जुं परित्यज्य सर्पं गृह्णाति वै भ्रमात् ॥ २६ ॥

तद्वत्सत्यमविज्ञाय जगत्पश्यति मूढधीः ।

रज्जुखण्डे परिज्ञाते सर्पस्त्रपं न तिष्ठति ॥ २७ ॥

वेदान्तानुसार ये सभी सांसारिक प्रपञ्च अज्ञानान्धकार के कारण आत्मा में ही प्रतिभासित होते हैं । अज्ञानरूपी अन्धकार के विनष्ट होने पर संसार की स्थिति नहीं रह जाती । जिस तरह भ्रम-बुद्धि से ग्रस्त मनुष्य रज्जु बुद्धि का परित्याग कर उसे सर्प बुद्धि से ग्रहण करता है, अर्थात् रस्सी को सर्प समझने लगता है, इसी तरह अज्ञानी (मूढ़) मनुष्य सत्य (आत्मा) का ज्ञान (बोध) न होने के कारण इस भ्रम-बुद्धिवश सांसारिक दृष्टिगोचर होने वाले सर्प की भावना नहीं रह जाती ॥ २६-२७ ॥

अधिष्ठाने तथा ज्ञाते प्रपञ्चे शून्यतां गते ।

देहस्यापि प्रपञ्चत्वात्प्रारब्धावस्थितिः कुतः ॥ २८ ॥

जिस तरह अधिष्ठान (आधार) स्वरूप आत्मतत्त्व का ज्ञान हो जाने पर प्रपञ्च (संसार) शून्यता को प्राप्त हो जाता है, ऐसी स्थिति में देह (शरीर) भी प्रपञ्चरूप (अयथार्थ) होने के कारण प्रारब्ध की स्थिति किस प्रकार रह सकती है ? ॥ २८ ॥

अज्ञानजनबोधार्थं प्रारब्धमिति चोच्यते ।

ततः कालवशादेव प्रारब्धे तु क्षयं गते ॥ २९ ॥

अज्ञान से ग्रसित लोगों को बोध कराने के लिए प्रारब्ध कर्म की बात कही जाती है। तदनन्तर कालवश ही सांसारिक प्रारब्ध कर्मों का विनाश हो जाता है ॥ २९ ॥

ब्रह्मप्रणवसंधानं नादो ज्योतिर्मयः शिवः ।

स्वयमाविर्भवेदात्मा मेघापायेऽशुमानिव ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् (प्रारब्ध कर्मों के समाप्त होने पर) 'ॐकार' स्वरूप ब्रह्म की आत्मा के साथ एकता के चिन्तन से नादरूप में स्वयं प्रकाशमान शिव के कल्याणकारी स्वरूप (परब्रह्म) का प्रादुर्भाव उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार बादलों के हट जाने पर भगवान् भास्कर प्रकाशित हो जाते हैं ॥ ३० ॥

सिद्धासने स्थितो योगी मुद्रां संधाय वैष्णवीम् ।

शृणुयाद्विक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सदा ॥ ३१ ॥

योगी (साधक) को सिद्धासन से बैठने के पश्चात् वैष्णवी मुद्रा धारण करनी चाहिए। तदनन्तर दाहिने कान के अन्दर उठते हुए नाद (अनाहत ध्वनि) का सतत श्रवण करना चाहिए ॥ ३१ ॥

[ बायें पैर की एड़ी से गुदा स्थान को तथा दाहिने पैर से जननेन्द्रिय मूल को दबाकर, शरीर को सीधा रखकर त्रिबन्ध (मूल, जालन्धर, उड़डीयान) लगाने को सिद्धासन कहा जाता है तथा अपलक नेत्रों से बाह्य दृष्टि को अन्तर्लक्ष्य करके (भृकुटि-मध्य में) देखना वैष्णवी मुद्रा कहलाती है। ]

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिः ।

पक्षाद्विपक्षमखिलं जित्वा तुर्यपदं व्रजेत् ॥ ३२ ॥

इस प्रकार नाद का किया गया अभ्यास बाह्य ध्वनियों को आवृत कर लेता है, इस तरह (योगी साधक) दोनों पक्षों 'अकार' और 'मकार' को जीतकर क्रमशः सम्पूर्ण 'ओंकार' को शनैः-शनैः आत्मसात् कर तुर्यावस्था को प्राप्त कर लेता है ॥ ३२ ॥

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान् ।

वर्धमाने तथाभ्यासे श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मतः ॥ ३३ ॥

अभ्यास की प्रारम्भिक अवस्था में यह महान् नाद (अनाहत ध्वनि) विभिन्न तरह से सुनायी देता है। इसके अनन्तर जब अभ्यास अधिक बढ़ जाता है, तब उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप (भेद) सुनायी पड़ने लगते हैं ॥ ३३ ॥

आदौ जलधिजीमूतभेरीनिर्झरसंभवः ।

मध्ये मर्दलशब्दाभो घण्टाकाहलजस्तथा ॥ ३४ ॥

अन्ते तु किंकिणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनः ।

इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते सूक्ष्मसूक्ष्मतः ॥ ३५ ॥

इस नाद की ध्वनि प्रारम्भिक काल में समुद्र, मेघ, भेरी तथा झरनों से उत्पन्न ध्वनि के समान सुनायी देती है। इसके बाद बीच की अवस्था (मध्यमावस्था) में मृदङ्ग, घंटे और नगाड़े की भाँति यह ध्वनि सुनाई पड़ती है। अन्त में अर्थात् उत्तरावस्था में किंडिणी, वंशी, बीणा एवं भ्रमर की ध्वनि के समान मधुर नाद-ध्वनि सुनायी पड़ती है। इस प्रकार सूक्ष्मातिसूक्ष्म होते हुए नाना प्रकार के नाद सुनायी पड़ते हैं ॥३४-३५॥

**महति श्रूयमाणे तु महाभेर्यादिकध्वनौ ।**

**तत्र सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥ ३६ ॥**

निरन्तर नाद का अभ्यास करते हुए जब भेरी आदि की ध्वनि (आवाज) तेजी से सुनायी पड़ने लगे, तब उसमें भी सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर नाद के सुनने का विचार करना चाहिए ॥ ३६ ॥

**घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने ।**

**रममाणमपि क्षिसं मनो नान्यत्र चालयेत् ॥ ३७ ॥**

(नाद में रुचि रखने वाले साधक को चाहिए कि) वह घन नाद को छोड़कर सूक्ष्मनाद (मन्द ध्वनि) या फिर सूक्ष्म नाद का परित्याग करके घन नाद में मन को केन्द्रित करे। अन्यत्र और कहीं भी इधर-उधर मन को भ्रमित न होने दे ॥ ३७ ॥

**यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ।**

**तत्र तत्र स्थिरीभूत्वा तेन सार्थं विलीयते ॥ ३८ ॥**

साधक का मन सर्वप्रथम जहाँ-कहीं किसी भी सूक्ष्म (अतिमन्द) अथवा घननाद (अभेदध्वनि) में लगता है। उसको (मन को) वहीं केन्द्रित करना चाहिए। ऐसा करने से वह (चित्त) स्वयमेव तन्मय (विलीन) होने लगता है ॥ ३८ ॥

**विस्मृत्य सकलं बाह्यं नादे दुग्धाम्बुवन्मनः ।**

**एकीभूयाथ सहसा चिदाकाशे विलीयते ॥ ३९ ॥**

साधक का मन सभी सांसारिक बाह्य-प्रपंचों से विस्मृत होकर दूध में मिश्रित जल की भाँति नाद (ध्वनि) में एकीभूत हो जाता है। इस प्रकार वह (मन) नाद के साथ अकस्मात् ही चिदाकाश में स्वयं को विलय कर लेता है ॥ ३९ ॥

**उदासीनस्ततो भूत्वा सदाभ्यासेन संयमी ।**

**उन्मनीकारकं सद्यो नादमेवावधारयेत् ॥ ४० ॥**

संयमी पुरुष को चाहिए कि नाद-श्रवण से भिन्न विषयों-वासनाओं को उपेक्षित करके सतत अभ्यास द्वारा मन को तत्क्षण ही उस नाद में नियोजित करे और सदैव चिन्तन के द्वारा उसी में रमण करता रहे ॥ ४० ॥

**सर्वचिन्तां समुत्सृज्य सर्वचेष्टाविवर्जितः ।**

**नादमेवानुसंदध्यान्नादे चित्तं विलीयते ॥ ४१ ॥**

योगी साधक को चाहिए कि सतत चिन्तन करते हुए समस्त चिन्ताओं का परित्याग कर सभी तरह की चेष्टाओं से मन को हटाकर (उस) नाद का ही अनुसन्धान (श्रवण-मनन-चिन्तन) करे; क्योंकि (चिन्तन द्वारा सहज ही) चित्त का नाद में लय हो जाता है ॥ ४१ ॥

मकरन्दं पिबन्धृङ्गो गन्धान्नापेक्षते यथा ।

नादासक्तं सदा चित्तं विषयं न हि काइक्षति ॥ ४२ ॥

जिस प्रकार भ्रमर फूलों का रस ग्रहण करता हुआ पुष्पों के गन्ध की अपेक्षा नहीं रखता है, ठीक वैसे ही सतत नाद में तल्लीन रहने वाला चित्त विषय-वासना आदि की आकांक्षा नहीं करता है ॥ ४२ ॥

बद्धः सुनादगन्धेन सद्यः संत्यक्तचापलः ।

नादग्रहणतश्चित्तमन्तरङ्गभुजङ्गमः ॥ ४३ ॥

यह चित्त रूपी अन्तरङ्ग भुजङ्ग (सर्प) नाद को सुनने के पश्चात् उस सुन्दर नाद की गन्ध से आबद्ध हो जाता है और तत्क्षण ही सभी तरह की चपलताओं का परित्याग कर देता है ॥ ४३ ॥

विस्मृत्य विश्वमेकाग्रः कुत्रचिन्न हि धावति ।

मनोमन्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः ॥ ४४ ॥

नियामनसमर्थोऽयं निनादो निशिताङ्गुशः ।

नादोऽन्तरङ्गसारङ्गबन्धने वागुरायते ॥ ४५ ॥

अन्तरङ्गसमुद्रस्य रोधे वेलायतेऽपि वा ।

ब्रह्मप्रणवसंलग्ननादो ज्योतिर्मर्यात्मकः ॥ ४६ ॥

तदनन्तर (वह मन) विश्व (सांसारिकता) को विस्मृत करके तथा एकाग्रता को धारण करके (विषयों में) इधर-उधर कहीं भी नहीं दौड़ता है। विषय-वासना रूपी उद्यान में विचरण करने वाले मन रूपी उन्मत्त गजेन्द्र को वश में करने में यह नादरूपी अति तीक्ष्ण अङ्गुश ही समर्थ होता है। यह नाद मनरूपी हिरण को बाँधने में जाल का कार्य करता है और मन रूपी तरङ्ग को रोकने में तट का काम करता है। ब्रह्मरूप प्रणव में संयुक्त हुआ यह नाद स्वयं ही प्रकाश स्वरूप होता है ॥ ४४-४६ ॥

मनस्त्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ।

तावदाकाशसंकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते ॥ ४७ ॥

मन वहाँ ही (उस प्रकाश तत्त्व में) विलय को प्राप्त हो जाता है। वहीं परम श्रेष्ठ भगवान् विष्णु का परम पद है। मन में आकाश तत्त्व का संकल्प तभी तक रहता है, जब तक कि शब्दों का उच्चारण और श्रवण होता है ॥ ४७ ॥

निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मा समीयते ।

नादो यावन्मनस्तावन्नादान्तेऽपि मनोन्मनी ॥ ४८ ॥

निःशब्द (शब्दरहित) होने पर तो वह (मन) परमब्रह्म के परमात्म-तत्त्व का अनुभव करने लगता है। नाद (ध्वनि) के रहने तक ही मन का अस्तित्व बना रहता है। नाद के समापन होने पर मन भी 'अमन' (शून्यवत्) हो जाता है ॥ ४८ ॥

सशब्दश्वाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम् ।

सदा नादानुसंधानात्संक्षीणा वासना तु या ॥ ४९ ॥

निरञ्जने विलीयते मनोवायू न संशयः ।

नादकोटिसहस्राणि बिन्दुकोटिशतानि च ॥ ५० ॥

सर्वे तत्र लयं यान्ति ब्रह्मप्रणवनादके ।

सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिन्ताविवर्जितः ॥ ५१ ॥

मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः ।

शङ्ख-दुन्दुभिनादं च न शृणोति कदाचन ॥ ५२ ॥

सशब्द अर्थात् शब्दयुक्त नाद (ध्वनि) के अक्षर स्वरूप ब्रह्म में क्षीण (लय) हो जाने पर वह निःशब्द परमपद कहलाता है। जब सतत नाद का अनुसन्धान करने पर समस्त विषय-वासनाएँ पूर्णरूपेण नष्ट हो जाती हैं, तदुपरान्त मन एवं प्राण दोनों संशयरहित हो उस निराकार परमब्रह्म में लय हो जाते हैं। करोड़ों-करोड़ नाद एवं बिन्दु उस ब्रह्मरूप प्रणव नाद में विलीन हो जाते हैं। वह योगी जाग्रत्, स्वप्र तथा सुषुप्ति आदि सभी अवस्थाओं से मुक्त होकर सभी तरह की चिन्ताओं से रहित हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह योगी मरे हुए व्यक्ति की भाँति (मृतवत्) रहता है। निश्चय ही वह योगी मुक्तावस्था प्राप्त कर लेता है और वह (योगी) शङ्ख-दुन्दुभि आदि (लौकिक) नाद का श्रवण कभी भी नहीं करता ॥ ४९-५२ ॥

काष्ठवज्ञायते देह उन्मन्यावस्थया ध्रुवम् ।

न जानाति स शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा ॥ ५३ ॥

जिस अवस्था में मन 'अमन' हो जाता है, उस अवस्था के प्राप्त होने पर शरीर लकड़ी की भाँति चेष्टारहित सा हो जाता है। वह (मन) न शीत जानता है, न गर्मी जानता है और न ही वह सुख-दुःख का अनुभव करता है ॥ ५३ ॥

न मानं नावमानं च संत्यक्त्वा तु समाधिना ।

अवस्थात्रयमन्वेति न चित्तं योगिनः सदा ॥ ५४ ॥

वह (योगी) मान-अपमान से परे हो जाता है। समाधि द्वारा वह इन सभी का पूर्णतया परित्याग कर देता है। योगी का चित्त तीनों अवस्थाओं-जाग्रत्, स्वप्र, सुषुप्ति आदि का कभी भी अनुगमन नहीं करता है (अर्थात् उससे परे हो जाता है) ॥ ५४ ॥

जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्तः स्वरूपावस्थतामियात् ॥ ५५ ॥

दृष्टिः स्थिरा यस्य विनासदृशयं वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नम् ।

चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बं स ब्रह्मतारान्तरनादरूप इत्युपनिषत् ॥ ५६ ॥

(वह) योगी जाग्रत् और निद्रा (स्वप्र) की अवस्था से मुक्त होकर अपने वास्तविक स्वरूप में स्थिर हो जाता है। दृश्य वस्तु के अभाव में भी जिसकी दृष्टि स्थिर हो जाती है, बिना प्रयास के ही जिसका प्राण अपने स्थान पर सुस्थिर हो जाता है तथा बिना किसी आश्रय अथवा अवलम्बन के ही जिसका चित्त स्थिरता को प्राप्त हो जाता है, ऐसा वह (योगी) ब्रह्ममय प्रणव नाद के अन्तर्वर्ती तुरीयावस्था (परमानंद) में सदैव स्थित हो जाता है। यही उपनिषद् (रहस्यात्मक ज्ञान) है ॥ ५५-५६ ॥

ॐ वाऽमे मनसि.....इति शान्तिः ॥

॥ इति नादबिन्दूपनिषत्समाप्ता ॥



## ॥ निरालम्बोपनिषद् ॥

शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध इस उपनिषद् में ब्रह्म, ईश्वर, जीव, प्रकृति, जगत्, ज्ञान, कर्म आदि का सुन्दर विवेचन किया गया है। निर्विकार ब्रह्म जब प्रकृति के साथ सृष्टि का सृजन करके उसका ईशन-शासन-संचालन करता है, तो ईश्वर कहलाता है। इसी प्रकार विभिन्न संबोधनों को परिभाषित किया गया है। ऋषि जाति-पाँति सम्बन्धी भ्रमों का निवारण करते हुए कहते हैं कि वह आत्मा, रक्त, चमड़ा, मांस, हड्डियों आदि से सम्बन्धित नहीं है, वह तो व्यवहार के क्रम में कल्पित व्यवस्था मात्र है। इसी प्रकार अहंता, ममता आदि को त्याग कर इष्ट में समर्पित हो जाने को 'संन्यास' कहते हुए उन्हीं को मुक्त, पूज्य, योगी, परमहंस आदि उपाधियों से विभूषित होने की बात समझायी गयी है। ऐसी स्थिति प्राप्त करके ही साधक जन्म-परण के बन्धनों को काट सकता है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं..... इति शान्तिः ॥ ( द्रष्टव्य- ईशावास्योपनिषद् )

ॐ नमः शिवाय गुरवे सच्चिदानन्दमूर्तये । निष्प्रपञ्चाय शान्ताय निरालम्बाय तेजसे । निरालम्बं समाश्रित्य सालम्बं विजहाति यः । संन्यासी च योगी च कैवल्यं पदमश्रुते ॥ १ ॥

उस कल्याणकारी (शिव) गुरु, सत्-चित् और आनन्द की मूर्ति को नमस्कार है। उस निष्प्रपञ्च, शान्त, आलम्ब (आश्रय) रहित, तेजःस्वरूप परमात्मा को नमन है। जो निरालम्ब (परमात्म तत्त्व) का आश्रय ग्रहण करके (सांसारिक) आलम्बन का परित्याग कर देता है, वह योगी और संन्यासी है, वही कैवल्य (मोक्ष) पद प्राप्त करता है ॥ १ ॥

एषामज्ञानजन्तुनां समस्तारिष्टशान्तये । यद्यद्बोद्धव्यभिखिलं तदाशङ्क्य ब्रवीम्यहम् ॥ २ ॥

इस संसार के अज्ञानी जीवों के सभी अरिष्टों (कष्टों) की शान्ति के निमित्त जो-जो ज्ञान आवश्यक है, उसकी आशंका करके (उसके उत्तर के रूप में) मैं यहाँ कहता हूँ (पूछता हूँ) ॥ २ ॥

किं ब्रह्म । क ईश्वरः । को जीवः । का प्रकृतिः । कः परमात्मा । को ब्रह्मा । को विष्णुः । को रुद्रः । क इन्द्रः । कः शमनः । कः सूर्यः । कश्चन्द्रः । के सुराः । के असुराः । के पिशाचाः । के मनुष्याः । काः स्त्रियः । के पश्चादयः । किं स्थावरम् । के ब्राह्मणादयः । का जातिः । किं कर्म । किमकर्म । किं ज्ञानम् । किमज्ञानम् । किं सुखम् । किं दुःखम् । कः स्वर्गः । को नरकः । को बन्धः । को मोक्षः । क उपास्यः । कः शिष्यः । को विद्वान् । को मूढः । किमासुरम् । किं तपः । किं परमं पदम् । किं ग्राह्यम् । कः संन्यासीत्याशङ्क्याह ब्रह्मेति ॥ ३ ॥

ब्रह्म क्या है ? ईश्वर कौन है ? जीव कौन है ? प्रकृति क्या है ? परमात्मा कौन है ? ब्रह्मा कौन है ? विष्णु कौन है ? रुद्र कौन है ? इन्द्र कौन है ? यम कौन है ? सूर्य कौन है ? चन्द्र कौन है ? देवता कौन हैं ? असुर कौन हैं ? पिशाच कौन हैं ? मनुष्य क्या हैं ? स्त्रियाँ क्या हैं ? पशु आदि क्या हैं ? स्थावर (जड़) क्या है ? ब्राह्मण आदि क्या हैं ? जाति क्या है ? कर्म क्या है ? अकर्म क्या है ? ज्ञान और अज्ञान क्या हैं ? सुख-दुःख क्या हैं ? स्वर्ग-नरक क्या हैं ? बंधन और मुक्ति क्या हैं ? उपासना करने योग्य कौन है ? शिष्य कौन है ? विद्वान् कौन है ? मूर्ख कौन है ? असुरत्व क्या है ? तप क्या है ? परमपद किसे कहते हैं ? ग्रहणीय और अग्रहणीय क्या हैं ? संन्यासी कौन है ? इस प्रकार शंका व्यक्त करके उन्होंने ब्रह्म आदि का स्वरूप विवेचित किया ॥ ३ ॥

स होवाच महदहंकारपृथिव्यप्तेजोवाच्वाकाशात्वेन बृहदूपेणाण्डकोशेन  
कर्मज्ञानार्थरूपतया भासमानमद्वितीयमखिलोपाधिविनिर्मुक्तं तत्सकलशक्त्यु-  
पबृंहितमनाद्यनन्तं शुद्धं शिवं शान्तं निर्गुणमित्यादिवाच्यमनिर्वाच्यं चैतन्यं ब्रह्म। ईश्वर  
इति च। ब्रह्मैव स्वशक्तिं प्रकृत्यभिधेयामाश्रित्य लोकान्सृष्टा प्रविश्यान्तर्यामित्वेन ब्रह्मादीनां  
बुद्धीन्द्रियनियन्तृत्वादीश्वरः ॥ ४ ॥

उन्होंने कहा कि महत् तत्त्व, अहं, पृथिवी, आपः, तेजस्, वायु और आकाश रूप बृहद् ब्रह्माण्ड  
कोश वाला, कर्म और ज्ञान के अर्थ से प्रतिभासित होने वाला, अद्वितीय, सम्पूर्ण (नाम रूप आदि)  
उपाधियों से रहित, सर्व शक्तिसम्पन्न, आद्यन्तहीन, शुद्ध, शिव, शान्त, निर्गुण और अनिर्वचनीय चैतन्य  
स्वरूप परब्रह्म कहलाता है। अब ईश्वर के स्वरूप का कथन करते हैं। यही ब्रह्म जब अपनी प्रकृति  
(शक्ति) के सहरे लोकों का सुजन करता है और अन्तर्यामी स्वरूप से (उनमें) प्रविष्ट होकर ब्रह्मा, विष्णु  
और महेश तथा बुद्धिं और इन्द्रियों को नियन्त्रित करता है, तब उसे ईश्वर कहते हैं ॥ ४ ॥

**जीव इति च ब्रह्मविष्णवीशानेन्द्रादीनां नामरूपद्वारा स्थूलोऽहमिति  
मिथ्याध्यासवशाजीवः। सोऽहमेकोऽपि देहारम्भकभेदवशाद्बहुजीवः ॥ ५ ॥**

जब इस चैतन्य स्वरूप ईश्वर को ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तथा इन्द्रादि नामों और रूपों के द्वारा देह का  
मिथ्याभिमान हो जाता है कि मैं स्थूल हूँ, तब उसे जीव कहते हैं। यह चैतन्य 'सोऽहं' स्वरूप में एक होने  
पर भी शरीरों की भिन्नता के कारण 'जीव' अनेकविध बन जाता है ॥ ५ ॥

**प्रकृतिरिति च ब्रह्मणः सकाशान्नानिविचित्रजगन्निर्माणसामर्थ्यबुद्धिरूपा ब्रह्मश-  
क्तिरेव प्रकृतिः ॥ ६ ॥**

प्रकृति उसे कहते हैं, जो ब्रह्म के सान्निध्य से चित्र-विचित्र संसार को रचने की शक्ति वाली तथा  
ब्रह्म की बुद्धिरूपा शक्ति वाली है ॥ ६ ॥

**परमात्मेति च देहादेः परतरत्वाद् ब्रह्मैव परमात्मा ॥ ७ ॥**

देहादि से परे रहने के कारण ब्रह्म को ही परमात्मा कहते हैं ॥ ७ ॥

**स ब्रह्मा स विष्णुः स इन्द्रः स शमनः स सूर्यः स चन्द्रस्ते सुरास्ते असुरास्ते  
पिशाचास्ते मनुष्यास्ताः स्त्रियस्ते पश्चादयस्तत्स्थावरं ते ब्राह्मणादयः ॥ ८ ॥**

यही परमात्मा ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, यम, सूर्य और चन्द्र आदि देवता के रूप में; यही असुर, पिशाच,  
नर-नारी और पशु आदि के रूप में प्रकट होता है; यही जड़-पदार्थ और ब्राह्मण आदि भी है ॥ ८ ॥

**सर्व खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन ॥ ९ ॥**

यह समस्त विश्व ही ब्रह्म है, इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है ॥ ९ ॥

**जातिरिति च। न चर्मणो न रक्तस्य न मांसस्य न चास्थिनः। न जातिरात्मनो  
जातिर्व्यवहारप्रकल्पिता ॥ १० ॥**

जाति (शरीर के) चर्म, रक्त, मांस, अस्थियों और आत्मा की नहीं होती। उसकी (मानव, पशु-पक्षी  
या ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जाति की) प्रकल्पना तो केवल व्यवहार के निमित्त की गई है ॥ १० ॥

[ ऋषि यहाँ स्पष्टता से कहते हैं कि जाति शरीर भेद से नहीं, व्यवहार भेद से निर्धारित की गयी है। ]

**कर्मेति च क्रियमाणेन्द्रियैः कर्माण्यहं करोमीत्यध्यात्मनिष्ठतया कृतं कर्मेव कर्म । अकर्मेति च कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यहंकारतया बन्धरूपं जन्मादिकारणं नित्यनैमित्तिकया-गव्रततपोदानादिषु फलाभिसंधानं यत्तदकर्म ॥ ११-१२ ॥**

इन्द्रियों द्वारा की जाने वाली क्रियाओं को कर्म कहते हैं। जिस क्रिया को 'मैं करता हूँ' इस भावपूर्वक (अध्यात्म निष्ठा से) किया जाता है, वही कर्म है। कर्त्तापन और भोक्तापन के अहंकार के द्वारा फल की इच्छा से किये गये बन्धन स्वरूप नित्य-नैमित्तिक यज्ञ, व्रत, तप, दान आदि कर्म 'अकर्म' कहलाते हैं ॥ ११-१२ ॥

**ज्ञानमिति देहेन्द्रियनिग्रहसद्गुरुपासनश्रवणमनननिदिध्यासनैर्यद्यद्वृग्वृश्यस्वरूपं सर्वान्तरस्थं सर्वसमं घटपटादिपदार्थमिवाविकारं विकारेषु चैतन्यं विना किंचिन्नास्तीति साक्षात्कारानुभवो ज्ञानम् ॥ १३ ॥**

सृष्टि की सभी बदलने वाली वस्तुओं में एक ही अपरिवर्तनशील चैतन्य तत्त्व विद्यमान है, अन्य कुछ भी नहीं है, द्रष्टा और दृश्य जो कुछ भी है, सब कुछ चैतन्य तत्त्व ही है। सबके अन्दर यह चैतन्य तत्त्व ही विद्यमान रहने पर भी ऐसा प्रतीत होता है, मानो वह घट-वस्त्रादि रूप में ही परिवर्तित हो गया है। इसी साक्षात्कार की अनुभूति को ज्ञान कहते हैं। यह अनुभूति शरीर और इन्द्रिय आदि पर नियंत्रण रखने से और सद्गुरु की उपासना, उनके उपदेशों के श्रवण, चिन्तन, मनन और निदिध्यासन करने से होती है ॥ १३ ॥

**अज्ञानमिति च रजौ सर्पभ्रान्तिरिवाद्वितीये सर्वानुस्यूते सर्वमये ब्रह्मणि देवतिर्यङ्-नरस्थावरस्त्रीपुरुषवर्णश्रिमबन्धमोक्षोपाधिनानात्मभेदकल्पितं ज्ञानमज्ञानम् ॥ १४ ॥**

जिस प्रकार रस्सी में सर्प की भ्रान्ति होती है, उसी प्रकार सब में विद्यमान ब्रह्म और देव, पशु-पक्षी, मनुष्य, स्थावर, स्त्री-पुरुष, वर्ण-आश्रम, बन्धन-मुक्ति आदि सभी अनात्म वस्तुओं में भेद मानना ही 'अज्ञान' है ॥ १४ ॥

**सुखमिति च सच्चिदानन्दस्वरूपं ज्ञात्वानन्दरूपा या स्थितिः सैव सुखम् ॥ १५ ॥**

सत्-चित्-आनन्द स्वरूप परमात्मा के ज्ञान से जो आनन्दपूर्ण स्थिति बनती है, वही सुख है ॥ १५ ॥

**दुःखमिति अनात्मरूपो विषयसंकल्प एव दुःखम् ॥ १६ ॥**

अनात्म रूप (नश्वर) विषयों का सङ्कल्प (विचार) करना दुःख कहलाता है ॥ १६ ॥

**स्वर्गं इति च सत्संसर्गः स्वर्गः । नरक इति च असत्संसारविषयजनसंसर्ग एव नरकः ॥ १७ ॥**

सत् का (अनश्वर का) समागम (सत्यरूपों का सत्संग) ही स्वर्ग है। असत् (नश्वर) संसार के विषयों (में रचे-पचे लोगों) का संसर्ग ही नरक है ॥ १७ ॥

**बन्ध इति च अनाद्यविद्यावासनया जातोऽहमित्यादिसंकल्पो बन्धः ॥ १८ ॥**

अनादि अविद्या की वासना (संस्कार) द्वारा उत्पन्न इस प्रकार का विचार कि 'मैं हूँ' यही बन्धन है ॥

**पितृमातृसहोदरदारापत्यगृहारामक्षेत्रममतासंसारावरणसङ्कल्पो बन्धः ॥ १९ ॥**

माता-पिता, भ्राता, पुत्र, गृह, उद्यान तथा खेत आदि मेरे अपने हैं, यह सांसारिक विचार भी बन्धन ही हैं ॥

**कर्तृत्वाद्यहंकारसंकल्पो बन्धः ॥ २० ॥**

कर्त्तापन के अहंकार का संकल्प भी बन्धनरूप है ॥ २० ॥

**अणिमाद्यैश्वर्यशासिद्वसंकल्पो बन्धः ॥ २१ ॥**

अणिमा आदि (अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्रासि, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व ये अष्ट सिद्धियाँ अथवा ऐश्वर्य हैं) आठ ऐश्वर्यों को प्राप्त करने का संकल्प भी बन्धन है ॥ २१ ॥

**देवमनुष्याद्युपासनाकामसंकल्पो बन्धः ॥ २२ ॥**

मनोकामना की पूर्ति के संकल्पपूर्वक की गई देवताओं और मनुष्यों की उपासना भी बन्धन रूप है ॥ २२ ॥

**यमाद्यष्टाङ्ग्योगसंकल्पो बन्धः ॥ २३ ॥**

यम आदि (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) आठ अङ्गों वाले योग का संकल्प भी बन्धन ही है ॥ २३ ॥

**वर्णाश्रमधर्मकर्मसंकल्पो बन्धः ॥ २४ ॥**

वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) और आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) धर्म-कर्म के संकल्प भी बन्धन स्वरूप हैं ॥ २४ ॥

**आज्ञाभयसंशयात्मगुणसंकल्पो बन्धः ॥ २५ ॥**

आज्ञा, भय, संशय आदि आत्म-गुणों के संकल्प भी बन्धन हैं ॥ २५ ॥

**यागव्रततपोदानविधिविधानज्ञानसंकल्पो बन्धः ॥ २६ ॥**

यज्ञ, व्रत, तप और दान के विधि-विधान तथा ज्ञान के संकल्प भी बन्धन हैं ॥ २६ ॥

**केवलमोक्षापेक्षासंकल्पो बन्धः ॥ २७ ॥**

मोक्ष प्राप्ति का विचार करना भी बन्धन रूप है ॥ २७ ॥

**संकल्पमात्रसंभवो बन्धः ॥ २८ ॥**

संकल्प मात्र से जो कुछ सम्भव है, वह सभी बन्धन स्वरूप है ॥ २८ ॥

**मोक्ष इति च नित्यानित्यवस्तुविचारादनित्यसंसारसुखदुःख**

**विषयसमस्तक्षेत्र ममताबन्धक्षयो मोक्षः ॥ २९ ॥**

जब नित्य और अनित्य वस्तुओं के विषय में विचार करने से नश्वर संसार के सुख-दुःखात्मक सभी विषयों से ममतारूपी बन्धन विनष्ट हो जाएँ उस (स्थिति) को मोक्ष कहते हैं ॥ २९ ॥

**उपास्य इति च सर्वशरीरस्थचैतन्यब्रह्मप्रापको गुरुरुपास्यः ॥ ३० ॥**

समस्त शरीरों में स्थित, चैतन्य स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त करने वाला गुरु ही उपास्य (पास बैठने योग्य) है ॥

**शिष्य इति च विद्याध्वस्तप्रपञ्चावगाहितज्ञानावशिष्टं ब्रह्मैव शिष्यः ॥ ३१ ॥**

जिसके हृदय में विद्या द्वारा नष्ट हुए जगत् के अवगाहन से उत्पन्न ब्रह्म रूप ज्ञान शेष रहे, वही शिष्य है ॥

**विद्वानिति च सर्वान्तरस्थस्वसंविद्रूपविद्विद्वान् ॥ ३२ ॥**

सबके अन्तर में स्थित आत्म तत्त्व के विज्ञानमय स्वरूप को जानने वाला ही विद्वान् है ॥ ३२ ॥

**मूढ़ इति च कर्तृत्वाद्यहंकारभावारूढो मूढः ॥ ३३ ॥**

कर्त्तापन आदि के भाव में आरूढ़ व्यक्ति ही मूढ़ (मूर्ख) है ॥ ३३ ॥

**आसुरमिति च ब्रह्मविष्णवीशानेन्द्रादीनामैश्वर्यकामनया निरशनजपाग्निहोत्रादि-  
ज्वन्तरात्मानं संतापयति चात्युग्ररागद्वेषविहिंसादम्भाद्यपेक्षितं तप आसुरम् ॥ ३४ ॥**

जो ब्रह्मा, विष्णु, ईशान और इन्द्र आदि देवों के ऐश्वर्य की कामनापूर्वक व्रत, जप, यज्ञ आदि में अन्तरात्मा को तपाये तथा अत्युग्र राग-द्वेष, हिंसा, दम्भ आदि दुर्गुणों से युक्त होकर जो तप करे, वह आसुरी तप कहलाता है ॥ ३४ ॥

तप इति च ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्यपरोक्षज्ञानाग्निना । ब्रह्मादैश्वर्याशासिद्धसङ्कल्प-  
बीजसन्तापं तपः ॥ ३५ ॥

ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है, इस प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान से ब्रह्मा आदि देवों के ऐश्वर्य प्राप्त करने के सङ्कल्प-बीज को संतप्त करना (जला डालना) ही (यथार्थ) तप कहा जाता है ॥ ३५ ॥

परमं पदमिति च प्राणेन्द्रियाद्यन्तः करणगुणादेः । परतरं सच्चिदानन्दमयं  
नित्यमुक्तब्रह्मस्थानं परमं पदम् ॥ ३६ ॥

प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि से भिन्न सच्चिदानन्द स्वरूप और नित्य मुक्त ब्रह्म का स्थान 'परमपद' कहलाता है ॥ ३६ ॥

ग्राह्यमिति च देशकालवस्तुपरिच्छेदराहित्यचिन्मात्रस्वरूपं ग्राह्यम् ॥ ३७ ॥

देश, काल, वस्तु की मर्यादा से परे चिन्मात्र स्वरूप (जो कुछ है, वह) ही ग्रहण करने योग्य (ग्राह्य) है ॥

अग्राह्यमिति च स्वस्वरूपव्यतिरिक्तमायामयबुद्धीन्द्रियगोचरं जगत्स-  
त्यत्वचिन्तनमग्राह्यम् ॥ ३८ ॥

निजस्वरूप से परे, माया द्वारा कल्पित और बुद्धि तथा इन्द्रियगम्य जगत् की सत्यता का चिन्तन 'अग्राह्य' है ॥

संन्यासीति च सर्वधर्मान्यरित्यज्य निर्ममो निरहंकारो भूत्वा ब्रह्मेष्टं शरणमुपगम्य तत्त्वमसि  
अहं ब्रह्मास्मि सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचनेत्यादिमहावाक्यार्थानुभवज्ञानाद्  
ब्रह्मैवाहमस्मीति निश्चित्य निर्विकल्पसमाधिना स्वतन्त्रो यतिश्वरति संन्यासी स मुक्तः स  
पूज्यः स योगी स परमहंसः सोऽवधूतः स ब्राह्मण इति ॥ ३९ ॥

जो समस्त धर्मों (कर्मों) में ममता एवं अहंकार का परित्याग करके इष्ट (ब्रह्म) की शरण में जाकर और 'तू वही है', 'मैं ब्रह्म हूँ', 'जो कुछ भी यह है, सब कुछ निश्चित ही ब्रह्म है', 'ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है', आदि इन महावाक्यों द्वारा 'मैं ब्रह्म हूँ', इस प्रकार का निश्चय करके निर्विकल्प समाधि में लीन रहकर परम स्वतन्त्र और यतिस्वरूप होता है, वह पुरुष 'संन्यासी' कहलाता है, वही मुक्त, पूज्य, योगी, परमहंस, अवधूत और ब्राह्मण होता है ॥ ३९ ॥

इदं निरालम्बोपनिषदं योऽधीते गुर्वनुग्रहतः सोऽग्रिपूतो भवति स वायुपूतो भवति  
न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते पुनर्नाभिजायते पुनर्नाभिजायत इत्युपनिषत् ॥ ४० ॥

इस निरालम्ब उपनिषद् का जो (साधक) गहन अध्ययन करता है, गुरु कृपा से वह अग्रिपूत (अग्रि की तरह पवित्र) और वायुपूत (वायु की तरह पावन) हो जाता है, फिर उसका पुनरावर्तन नहीं होता, वह पुनः-पुनः जगत् में जन्म नहीं लेता। निरालम्ब उपनिषद् का यही रहस्य है ॥ ४० ॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति निरालम्बोपनिषत्समाप्ता ॥



## ॥ प्रणवोपनिषद् ॥

नाम के अनुरूप इसमें प्रणव उँकार का विवेचन किया गया है। उँकार को परब्रह्म की अक्षराभिव्यक्ति कहा गया है। इसकी तीन मात्राओं (अ, उ, म) के साथ त्रिदेव, त्रिकाल, त्रिवेद, तीन अग्नियों की संगति बिठाई गयी है। इडा, पिंगला, सुषुप्ता सहित ७२ हजार नाड़ियों में उँकार को संव्याप्त कहा गया है। अन्त में कहा गया है कि जो साधक उँकार के माध्यम से ब्रह्म तादात्म्य प्राप्त करते हैं, वे अमृतत्व के अधिकारी हो जाते हैं।

पुरस्ताद्ब्रह्मणस्तस्य विष्णोरद्गुतकर्मणः ।

रहस्यं ब्रह्मविद्याया धृताग्निं संप्रचक्षते ॥ १ ॥

अब ब्रह्म स्वरूप भगवान् विष्णु के अद्भुत कर्मों से युक्त, (संचित कर्मों को भस्मसात् करने में समर्थ) अग्नि को धारण करने वाली ब्रह्मविद्या का रहस्य वर्णित किया जा रहा है ॥ १ ॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म यदुक्तं ब्रह्मवादिभिः ।

शरीरं तस्य वक्ष्यामि स्थानकालत्रयं तथा ॥ २ ॥

ब्रह्मवेत्ताओं ने उँकार को ही एक अद्वितीय, अविनाशी ब्रह्म कहा है, उसके शरीर, स्थान और कालत्रय (भूत, भविष्यत् और वर्तमान) का विवेचन अब किया जाता है ॥ २ ॥

तत्र देवास्त्रयः प्रोक्ता लोका वेदास्त्रयोऽग्रयः ।

तिस्रो मात्रार्धमात्रा च प्रत्यक्षस्य शिवस्य तत् ॥ ३ ॥

उस उँकार रूप ब्रह्म में तीन देवता, (ब्रह्मा, विष्णु, महेश), तीन लोक (भूः, भुवः, स्वः), तीन वेद (ऋग्वेद, यजुष्, साम), तीन अग्नियाँ (गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय), तीन पूर्ण मात्रा और एक अर्धमात्रा (अ, उ, म् एवं अनुस्वार) सन्त्रिहित है। वही उसका साक्षात् कल्याणकारी शिव स्वरूप है ॥ ३ ॥

ऋग्वेदो गार्हपत्यं च पृथिवी ब्रह्म एव च ।

अकारस्य शरीरं तु व्याख्यातं ब्रह्मवादिभिः ॥ ४ ॥

ऋग्वेद, पृथिवी, गार्हपत्य अग्नि और देव ब्रह्मा - ये तत्त्व ब्रह्मवेत्ताओं ने उँकार के तीन अक्षरों में अकार के शरीर रूप में बताये हैं ॥ ४ ॥

यजुर्वेदोऽन्तरिक्षं च दक्षिणाग्निस्तथैव च ।

विष्णुश्च भगवान् देव उकारः परिकीर्तिः ॥ ५ ॥

यजुर्वेद, अन्तरिक्ष, दक्षिणाग्नि और भगवान् विष्णु ये सब तत्त्व उँकार के तीन अक्षरों में 'उकार' के स्वरूप में निरूपित किये गये हैं ॥ ५ ॥

सामवेदस्तथा द्यौश्राहवनीयस्तथैव च ।

ईश्वरः परमो देवो मकारः परिकीर्तिः ॥ ६ ॥

सामवेद, द्युलोक, आहवनीय अग्नि और महादेव शिव- ये सब उँकार के तीन अक्षरों में से 'मकार' के स्वरूप में निरूपित हुए हैं ॥ ६ ॥

सूर्यमण्डलमाभाति हृकारश्चन्द्रमध्यगः ।

उकारश्चन्द्रसंकाशस्तस्य मध्ये व्यवस्थितः ॥ ७ ॥

सूर्य मण्डल का जो स्वरूप है, वह ३०कार के अक्षरों में 'अकार' का स्वरूप है। चन्द्रमण्डल का स्वरूप 'उकार' से निरूपित है, जो इस ३०कार के मध्य में अवस्थित है ॥ ७ ॥

मकारश्चाग्निसंकाशो विधूमो विद्युतोपमः ।

तिस्त्रो मात्रास्तथा ज्ञेयाः सोमसूर्याग्नितेजसः ॥ ८ ॥

३०कार का अन्तिम अक्षर मकार, उस अग्नि स्वरूप में है, जो धूम्ररहित है, विद्युत् सदृश है। ३०कार की तीनों मात्राओं को चन्द्र, सूर्य और अग्नि के तेजस् के स्वरूप में समझना चाहिए ॥ ८ ॥

शिखा च दीपसंकाशा यस्मिन्नु परिवर्तते ।

अर्धमात्रा तथा ज्ञेया प्रणवस्योपरि स्थिता ॥ ९ ॥

दीपक की ज्योतिशिखा के स्वरूप में, जिसमें शिखा ऊर्ध्वगामी हो, उस प्रणव अक्षर '३०कार' के ऊपर स्थित अर्द्धचन्द्र-अर्द्ध मात्रा को समझना चाहिए ॥ ९ ॥

पद्मसूत्रनिभा सूक्ष्मा शिखाभा दृश्यते परा ।

नासादिसूर्यसंकाशा सूर्य हित्वा तथापरम् ॥ १० ॥

दूसरी कमल सूत्र (कमल नाल) के सदृश सूक्ष्म शिखा की कान्ति (मस्तक प्रदेश में) दृष्टिगोचर होती है, वह नासारन्ध्र से सूर्यवत् तेज को धारण कर सूर्यमण्डल का भेदन कर वहाँ स्थित है ॥ १० ॥

द्विसप्तिसहस्राणि नाडिभिस्त्वा तु मूर्धनि ।

वरदं सर्वभूतानां सर्वं व्याप्तैव तिष्ठति ॥ ११ ॥

अग्नि स्वरूप में वह शिखा (३०कार की अर्धमात्रा) बहतर हजार नाडियों के द्वारा सम्पूर्ण प्राणियों को वर (जीवन-प्राण) देने वाली और सबको व्याप्त करके अवस्थित है ॥ ११ ॥

कांस्यघण्टानिनादः स्याद्यदा लिप्यति शान्तये ।

ओङ्कारस्तु तथा योज्यः श्रुतये सर्वमिच्छति ॥ १२ ॥

जब मुमुक्षु मोक्ष प्राप्ति के निकट शान्त स्थिति को प्राप्त होता है, तो काँसे के घण्टे के समान निनाद सुनाई देता है, यह ३० कार का ही स्वरूप है। इस स्वरूप को सभी साधक सुनने की इच्छा करते हैं ॥ १२ ॥

यस्मिन् स लीयते शब्दस्तत्परं ब्रह्म गीयते ।

सोऽमृतत्वाय कल्पते सोऽमृतत्वाय कल्पते इति ॥ १३ ॥

जो साधक (उक्त) ओङ्कार स्वरूप शब्द नाद में लीन हो जाता है, वह ब्रह्मस्वरूप ही कहा जाता है। वही अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है, यह सुनिश्चित है ॥ १३ ॥

॥ इति प्रणवोपनिषत् समाप्ता ॥



## ॥ प्रश्नोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेद के पिप्पलाद शाखा का ब्राह्मण भाग है। प्रश्नोपनिषद् में जिज्ञासुओं द्वारा महर्षि पिप्पलाद से पूछे गये छः प्रश्न और उनके उत्तरों का वर्णन है। प्रथम प्रश्न में कबन्धी ने प्राण और रथि के सम्बन्ध में जानना चाहा। द्वितीय प्रश्न में भार्गव ने प्रजा के आधार विषयक तीन प्रश्न किये हैं। तीसरे प्रश्न के अन्तर्गत आश्वलायन द्वारा प्राण की उत्पत्ति के सन्दर्भ में छः प्रश्न पूछे गये हैं। चौथे प्रश्न में गार्य द्वारा जीवात्मा-परमात्मा के सम्बन्ध में पाँच जिज्ञासाएँ प्रकट की गयी हैं। पाँचवें प्रश्न के अन्तर्गत सत्यकाम ने उँकार-उपासना जाननी चाही है। छठा प्रश्न सुकेशा ने किया, जिसमें १६ कलायुक्त पुरुष के विषय में जिज्ञासा की गयी है। अन्त में सभी प्रश्नों के समुचित समाधान पाकर जिज्ञासुओं द्वारा महर्षि पिप्पलाद के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए उनकी बन्दना की गयी है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

**ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थैरैरड्डैस्तु-  
ष्टुवाऽस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।  
स्वस्ति नस्ताक्षर्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥**

हे देवो ! हम कानों द्वारा कल्याणमय वचनों का श्रवण करें। हम नेत्रों से शुभ दृश्य देखें और सुदृढ़ अंगों से युक्त शरीर वाले होकर आयु पर्यन्त देव हित में लगे रहें। इन्द्रदेव हमारे निमित्त कल्याणकारी हों, पूषादेव हमारा कल्याण करें, अरिष्टनाशक गरुड़देव हमारे लिए कल्याणकारी हों तथा बृहस्पति देव हमारे लिए स्वस्ति प्रदाता हों। त्रिविधि तापों का शमन हो।

### ॥ प्रथमः प्रश्नः ॥

**ॐ सुकेशा च भारद्वाजः शैव्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्यः कौसल्य-  
श्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा  
एष ह वै तत्सर्व वक्ष्यतीति ते ह समित्याणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः ॥ १ ॥**

भरद्वाज पुत्र सुकेशा, शिबि पुत्र सत्यकाम, गर्गसुत सौर्यायणि (सूर्य का पौत्र), अश्वलपुत्र कौसल्य, विदर्भवासी भार्गव और कात्यायन (कत्यवंशी) कबन्धी आदि परब्रह्म के उपासक और उसके अनुरूप अनुष्ठान में तत्पर छः ऋषिगण, परब्रह्म के प्रति जिज्ञासु भाव से हाथ में समिधा लेकर महर्षि पिप्पलाद के निकट गये ॥ १ ॥

**तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं  
प्रश्नान्पृच्छत यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति ॥ २ ॥**

उन (महर्षि पिप्पलाद) ने उन आगन्तुक ऋषियों से कहा कि आप ब्रह्मचर्यपूर्वक तपस्यारत रहते हुए एक वर्ष तक श्रद्धापूर्वक यहीं रहें, तत्पश्चात् आप अपनी इच्छानुसार प्रश्न करें, यदि मैं जानता होऊँगा, तो आपको अवश्य ही उनके उत्तर दूँगा ॥ २ ॥

**अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ । भगवन्कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥**

(एक वर्ष पिप्पलाद ऋषि के आश्रम में निवास करने के पश्चात्) कात्यायन कबन्धी ने ऋषि पिप्पलाद के निकट जाकर पूछा- भगवन् ! यह प्रजा किससे प्रकट (उत्पन्न) होती है ? ॥ ३ ॥

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स  
मिथुनमुत्पादयते । रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति ॥ ४ ॥

महर्षि पिप्पलाद ने कहा कि प्रजा वृद्धि की इच्छा वाले प्रजापति ब्रह्मा ने तप किया । तदनन्तर उन्होंने रयि और प्राण नामक एक युगल उत्पन्न किया और सोचा कि यह युगल ही अनेक प्रकार की प्रजा का उत्पादन करेगा ॥ ४ ॥

[ प्राण गति प्रदान करने वाला चेतन तत्त्व या शक्ति है तथा रयि उसे धारण करके विविध रूप देने में समर्थ प्रकृति है । वर्तमान विज्ञान की भाषा में इन्हें चेतना युक्त ऊर्जा ( लाइब एनर्जी ) तथा पदार्थ ( मैटर ) भी कह सकते हैं । दोनों के संयोग से ही सृष्टि उत्पन्न होती है । ]

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ॥

आदित्य ही प्राण स्वरूप और रयि ही चन्द्र स्वरूप है । इस विराट् विश्व में जो कुछ मूर्त और अमूर्त अर्थात् स्थूल एवं सूक्ष्म है, वह सब रयि ही है, अतएव मूर्ति ही रयि है ॥ ५ ॥

[ पृथ्वी पर प्राण संचार का दृश्य स्रोत सूर्य है । सूर्य प्रकाशक-प्रेरक है, अस्तु प्राण रूप है । चन्द्रमा सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित-प्रेरित है, अस्तु रयि का प्रतीक है । स्थूल, सूक्ष्म प्रकृति के सभी घटक रयि ही कहे जाते हैं । ]

अथादित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशां प्रतिशति तेन प्राच्यान्प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ।  
यदक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशायति तेन  
सर्वान्प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥ ६ ॥

रात्रि के समापन पर पूर्व में उदित होकर सूर्यदेव पूर्व दिशा के प्राणों को अपनी किरणों में धारण करते हैं, तदनन्तर वे ही सूर्यदेव दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, नीचे, ऊपर और दिशाओं के मध्य भागों को भी देदीप्यमान करते हैं और उन सब दिशाओं के प्राणों को अपनी किरणों में धारण करते हैं ॥ ६ ॥

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते । तदेतदृचाभ्युक्तम् ॥ ७ ॥

वे सूर्यदेव ही वैश्वानर अग्निरूप, विश्वरूप एवं प्राणरूप होकर प्रकट होते हैं । ऋचा ( वेद मंत्रों ) द्वारा भी इसी तथ्य की पुष्टि की गई है ॥ ७ ॥

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम् ।

सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥ ८ ॥

वे सूर्य सर्वरूप, सर्वाधार, रश्मिवान्, सर्वज्ञाता, तपोनिष्ठ एवं अद्वितीय हैं । वे सहस्रों किरणों वाले सूर्यदेव सैकड़ों रूपों से विद्यमान रहते हुए समस्त प्राणधारियों के प्राणस्वरूप होकर उदित होते हैं ॥ ८ ॥

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च । तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते  
कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते । त एव पुनरावर्तन्ते तस्मादेतऽऋषयः  
प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते । एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः ॥ ९ ॥

( एक दृष्टि से ) संवत्सर ही प्रजापति है तथा उसके दक्षिण और उत्तर दो अयन हैं । जो लोग अपने अभीष्ट की पूर्ति हेतु कर्मपथ का आश्रय लेते हैं, वे चन्द्रलोक को प्राप्त कर आवागमन को प्राप्त करते हैं । ये प्रजा की कामना करने वाले ऋषिगण दक्षिण की ओर पितृयान मार्ग से गमन करते हैं । यह पितृयान मार्ग ही रयि है ॥ ९ ॥

[ चन्द्र शब्द 'चदि' धातु से बना है। जिसका अर्थ 'सुख' है। लौकिक सुख को लक्ष्य करके अपनी ऊर्जा को नियोजित करने वाले, प्रजा उत्पन्न करने वाले जीवन-मरण का चक्र चलाने में सहायक होते हैं । ]

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते । एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष श्रोकः ॥

आत्मशोधी पुरुष तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और विद्या द्वारा परमात्मा को प्राप्त करके उत्तरायण (उत्तरायण) द्वारा सूर्य लोक को प्राप्त करते हैं । वे सूर्यदेव ही प्राणों के आश्रय हैं, वे ही अभय हैं, वे ही अविनाशी हैं और वे ही परमगति वाले हैं । अस्तु, इस सूर्यलोक को प्राप्त करके फिर पुनरावर्तन नहीं होता । इस तथ्य को यह अगला मन्त्र स्पष्ट करता है ॥ १० ॥

[ सूर्य (प्रेरक ऊर्जा स्रोत) को लक्ष्य करके अपनी ऊर्जा को नियोजित करने वाले साधक सृजेता (परमात्मा) से एकात्मरूप हो जाते हैं । इस प्रक्रिया में ब्रह्मचर्य, श्रद्धा आदि का प्रयोग करना होता है । ]

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्थे पुरीषिणम् । अथेमे अन्य उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षळर आहुरपिंतमिति ॥ ११ ॥

कुछ विद्वान् (प्रजापति को) पाँच पैरों (पंच प्राणों या पंच तत्त्वों) और बारह आकृतियों (बारह मासों) वाला तथा द्युलोक के बीच (अन्तरिक्ष) में जल धारण करने वाला कहते हैं । अन्य विद्वानों ने उसे सात चक्रों (सात वारों) और छः अरों (छः ऋतुओं) वाला कहा है ॥ ११ ॥

मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः प्राणस्तस्मादेतऽ ऋषयः  
शुक्ल इष्टिं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन् ॥ १२ ॥

(अन्य दृष्टि से) मास प्रजापति है । उसके कृष्ण पक्ष रयि तथा शुक्ल पक्ष प्राण हैं । इसलिए ये ऋषि (द्रष्टागण) शुक्लपक्ष में इष्ट कर्म करते हैं तथा अन्य विद्वान् दूसरे कृष्ण पक्ष में इष्ट कार्य संपादित करते हैं ॥

[ शुक्ल पक्ष में प्रकाश बढ़ता है । शुक्ल पक्ष में इष्ट कर्म का भाव है-ऊर्जा उत्पादन कर्म । कृष्णपक्ष में कर्म का भाव है-ऊर्जा नियोजन कर्म । ]

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ।  
ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥ १३ ॥

अन्य दृष्टि से अहोरात्र प्रजापति स्वरूप हैं । इनमें दिन, प्राण और रात्रि रयि हैं । इसलिए दिन के समय स्त्री से विहार करने वाले पुरुष अपने प्राण को क्षीण करते हैं, पर रात्रि में रति हेतु संयोग करने वाले पुरुष उसके कर्मफल से लिस नहीं होते, अतः वे ब्रह्मचारी ही माने जाते हैं ॥ १३ ॥

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तदरेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ १४ ॥

अन्न ही प्रजापति है, उसी से वीर्य उत्पन्न होता है और वीर्य से ही समस्त प्राणियों की उत्पत्ति होती है । तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते । तेषामेवैष ब्रह्मलोको

येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

इस प्रकार प्रजापति के इस व्रत पालन करने वाले पुरुष (कन्या-पुत्र रूप) मिथुन का उत्पादन करते हैं । तपस्वी और ब्रह्मचर्ययुक्त तथा सत्यावलम्बी पुरुष ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं ॥ १५ ॥

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्वमनृतं न माया चेति ॥ १६ ॥

जिन व्यक्तियों में कुटिलता, झूठ और माया (छल-कपट) नहीं हैं, वे विशुद्ध ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं ॥

## ॥ द्वितीयः प्रश्नः ॥

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ । भगवन्कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते ? कतर एतत्प्रकाशयन्ते ? कः पुनरेषां वरिष्ठः ? इति ॥ १ ॥

इसके पश्चात् विदर्भदेशीय भार्गव ने महर्षि पिप्पलाद से पूछा- हे भगवन् ! प्रजाधारण करने वाले देवताओं की संख्या कितनी है ? उनमें से कौन देवता इसे प्रकाशित करते हैं तथा उनमें से वरिष्ठ कौन है ? ॥

तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाइमनश्वक्षुः श्रोत्रं च । ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः ॥ २ ॥

महर्षि पिप्पलाद ने उनसे (भार्गव ऋषि से) कहा कि निश्चित रूप से आकाश, अग्नि, जल, पृथिवी (पंचभूत) तथा मन, वाणी, नेत्र और श्रोत्र आदि (इन्द्रियाँ) ये सब भी देव ही हैं । ये समस्त देवगण प्रकट होकर कहते हैं कि हमने ही इस शरीर को धारण किया है । अस्तु, हम ही इसके आश्रयदाता हैं ॥ २ ॥

तान्वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथा । अहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्-  
बाणमवष्टभ्य विधारयामीति ॥ ३ ॥

इन सभी देवताओं में सर्वश्रेष्ठ प्राण ने कहा कि आप मोह का परित्याग करें, मैं ही अपने पाँच विभागों (अवयवों) से इस शरीर को आश्रय प्रदान करके धारण करता हूँ ॥ ३ ॥

तेऽश्रद्धाना बभूवुः सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते तद्यथा मक्षिका मधुकरराजान-  
मुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते एवमस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्ते एवं वाइमनश्वक्षुः श्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ॥ ४ ॥

प्राण की इस बात पर देवताओं को विश्वास नहीं हुआ । तब प्राण के अभिमान पूर्वक ऊपर उठने और बाहर निकलने लगने के साथ ही वाक्, नेत्र, मन और श्रोत्रादि भी शरीर से बाहर निकलने लगे । जब वह रुक गया, तो उपर्युक्त सभी इन्द्रियाँ भी ठहर गयीं । जैसे मधुमक्खियों में रानी मक्खी के छत्ते से ऊपर निकलते ही, सभी मक्खियाँ उसके साथ ही बहिर्गमन करने लगती हैं और उसके बैठे रहने पर बैठी रहती हैं, इस प्रकार प्राण की वरिष्ठता सिद्ध हो जाने पर वाक् आदि सभी देवों ने प्राण की अभ्यर्थना की ॥ ४ ॥

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मधवानेष वायुः ।

एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ॥ ५ ॥

यह प्राण ही अग्नि होकर तपता है । यही सूर्य, इन्द्र, मेघ, वायु, पृथिवी एवं रयि है । सत्, असत् और अमृत भी यह प्राण ही है ॥ ५ ॥

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।

ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥ ६ ॥

जिस प्रकार रथचक्र की नाभि में अरे लगे रहते हैं, उसी प्रकार प्राण में ऋग्वेद की ऋचाएँ, यजुर्वेद और सामवेद के मन्त्र, ब्राह्मण, क्षत्रिय और यज्ञ-सभी सन्त्रिहित हैं ॥ ६ ॥

**प्रजापतिश्वरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे । तुभ्यं प्राण ! प्रजास्त्वमा बलिं हरन्ति  
यः प्राणैः प्रतिष्ठिसि ॥ ७ ॥**

‘हे प्राण ! आप ही प्रजापति हैं, गर्भ में आप ही निवास करते हैं और आप ही माता-पिता के समान आकृति वाले होकर जन्म लेते हैं । हे प्राण ! यह प्रजा आपको ही बलि प्रदान करती है, क्योंकि आप ही सम्पूर्ण इन्द्रियों सहित प्रतिष्ठित हैं ॥ ७ ॥

**देवानामसि वह्नितमः पितृणां प्रथमा स्वधा ।**

**ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ॥ ८ ॥**

(हे प्राण !) आप ही देवताओं के लिए अग्नि हैं । पितरणों के लिए स्वधा हैं । यह सत्य (तथ्य) अर्थवा और आङ्गिरस ऋषियों द्वारा प्रमाणित किया गया है ॥ ८ ॥

**इन्द्रस्त्वं प्राण ! तेजसा रुद्रोऽ सि परिरक्षिता ।**

**त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥ ९ ॥**

हे प्राण ! आप ही इन्द्र हैं । अपने तेज के फलस्वरूप रुद्र हैं और सब ओर से हमारी सुरक्षा करने वाले हैं । आप ही ज्योतियों के स्वामी सूर्य हैं । आप ही अन्तरिक्ष में विचरण करते हैं ॥ ९ ॥

**यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः ।**

**आनन्दरूपप्रस्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति ॥ १० ॥**

हे प्राण ! जब आप मेघरूप होकर वर्षण करते हैं, तब यह समस्त प्रजा प्रभूत अन्न उत्पादन की आशा से आहादित हो जाती है ॥ १० ॥

**ब्रात्यस्त्वं प्राणैकर्षिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः ।**

**वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्च नः ॥ ११ ॥**

हे प्राण ! आप ब्रात्य (संस्कार विहीन) होकर भी एकर्षि नामक अग्नि हैं । हम आपके निमित्त जो आहार प्रदान करते हैं, आप उसके भोक्ता हैं । आप इस जगत् के स्वामी हैं । हे प्राण ! आप हमारे पिता हैं तथा आप ही वायु रूप होकर आकाश में विचरण करने वाले मातरिश्च हैं ॥ ११ ॥

**या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि ।**

**या च मनसि संतता शिवां तां कुरु मोत्कर्मीः ॥ १२ ॥**

आपका जो स्वरूप वाणी, श्रोत्र, नेत्र और मन में संव्यास है, आप उसे शान्त करें (कल्याणमय करें) । आप शरीर से बहिर्गमन करने की चेष्टा न करें ॥ १२ ॥

**प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम् ।**

**मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्र प्रज्ञां च विधेहि न इति ॥ १३ ॥**

इस जगत् अथवा तृतीय द्युलोक (त्रिदिव-स्वर्ग) में जो भी प्रतिष्ठित है, वह सब प्राण के ही वश में है । हे प्राण ! आप हमारी उसी प्रकार रक्षा करें, जिस प्रकार माता पुत्र की सुरक्षा करती है । आप हमें श्री (समृद्धि) और प्रज्ञा प्रदान करें ॥ १३ ॥

[ भूलोक को ‘प्रथम’, भुवः (अन्तरिक्ष) लोक को द्वितीय तथा स्वः (स्वर्ग या त्रिदिव) लोक को ‘तृतीय’ की संज्ञा प्रदान की जाती है । ]

## ॥ तृतीयः प्रश्नः ॥

अथ हैनं कौसल्यश्वाश्वलायनः पप्रच्छ । भगवन्कुत एष प्राणो जायते ? कथमायात्यस्मिंश्चरीरे ? आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते ? केनोत्क्रमते ? कथं बाह्यमधिदत्ते ? कथमध्यात्ममिति ॥ १ ॥

तदुपरान्त कौसल्य आश्वलायन ने महर्षि पिप्पलाद से पूछा- भगवन् ! इस प्राण की उत्पत्ति कहाँ से होती है ? यह इस शरीर में किस प्रकार प्रविष्ट होता है, यह किस प्रकार शरीर से बाहर आता है और किस प्रकार बाहरी और भीतरी शरीर को धारण करता है ? ॥ १ ॥

तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्यृच्छसि ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि ॥ २ ॥

महर्षि पिप्पलाद ने उनसे कहा कि आप बहुत जटिल प्रश्न पूछते हैं; किन्तु आप ब्रह्मनिष्ठ हैं, इसलिए मैं आपके प्रश्नों के उत्तर देता हूँ ॥ २ ॥

[ सामान्य रूप से प्राण तत्त्व की अनुभूति कठिन है, उसकी उत्पत्ति एवं नियोजन का क्रम और भी कठिन है; लेकिन ब्रह्मनिष्ठ उसे समझ सकते हैं, इसलिए महर्षि उनके लिए वह विषय स्पष्ट करते हैं । ]

आत्मन एष प्राणो जायते । यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनाया-  
त्यस्मिंश्चरीरे ॥ ३ ॥

इस प्राण की उत्पत्ति आत्मा से होती है । जिस प्रकार छाया देहधारी की देह से उत्पन्न होती है अथवा छाया देहधारी के आश्रित है, उसी प्रकार प्राण आत्मा से उत्पन्न होकर, उसी के आश्रित रहता है । यह प्राण मन के संकल्प के अनुसार शरीर में प्रविष्ट होता है ॥ ३ ॥

यथा सप्ताङ्गेवाधिकृतान्विनियुडित्के एतान्ग्रामानेतान्ग्रामान-

धितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण इतरान्ग्राणान्यृथक्यृथगेव संनिधत्ते ॥ ४ ॥

जिस प्रकार राजा अपने विभिन्न अधिकारियों को पृथक्-पृथक् ग्रामों में नियुक्त करता है, उसी प्रकार प्राण (प्रमुख प्राण) अन्य प्राणों (इतर प्राणों-इन्द्रियों) की पृथक्-पृथक् नियुक्ति करता है ॥ ४ ॥

पायूपस्थेऽपानं चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु समानः ।  
एष ह्येतदधृतमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ॥ ५ ॥

वह प्राण स्वयं मुख और नासिका से निकलता हुआ नेत्र और श्रोत्र में प्रतिष्ठित होता है तथा गुदा (वायु) एवं उपस्थेन्द्रिय में अपान वायु को नियुक्त करता है । मध्य भाग में समान वायु रहता है, जो अन्न को समानतापूर्वक शरीर के विभिन्न भागों को वितरित करता है । उसी प्राण रूपी अग्नि से सात ज्वालाओं का प्रादुर्भाव होता है ॥ ५ ॥

हृदि होष आत्मा । अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिद्वा-  
सप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्वरति ॥ ६ ॥

यह आत्मा प्राणी के हृदय प्रदेश में स्थित है । इस हृदय प्रान्त में एक सौ एक नाड़ियाँ हैं, उन सभी नाड़ियों में प्रत्येक की सौ-सौ शाखायें हैं और उन सभी नाड़ी शाखाओं में भी प्रत्येक की बहतर-बहतर हजार प्रतिशाखायें हैं । इन सब नाड़ी शाखाओं में व्यान वायु सञ्चरित होता है ॥ ६ ॥

**अथैकयोर्ध्वं उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥**

इन नाड़ियों में एक नाड़ी (सुषुमा नाड़ी) ऊर्ध्वगामी है, जिसके माध्यम से उदान नामक वायु मनुष्य को पुण्य कृत्यों द्वारा पुण्यलोक को और पाप कृत्यों द्वारा अधम लोक को ले जाता है। यह उदान वायु पाप-पुण्य दोनों प्रकार के कर्मों द्वारा मनुष्य को मर्त्य लोक में प्रतिष्ठित करता है ॥ ७ ॥

**आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः । पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुव्यानः ॥ ८ ॥**

आदित्य निश्चित रूप से बाहरी प्राण है। यह चाक्षुष (चक्षु सम्बन्धी) प्राण को अनुगृहीत करता हुआ उदित होता है। पृथ्वी का देवता प्राणी के अपान वायु को आकर्षित करता है। इन दोनों (द्यु और पृथ्वी) के बीच का रिक्त स्थान (आकाश) ही समान वायु है तथा बाह्य वायु, व्यापकता में (आन्तरिक व्यान से) समानता होने से व्यान है ॥ ८ ॥

**तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः । पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः ॥ ९ ॥**

विश्वविष्वात (आदित्यरूपी) तेज ही उदान है, जिनका तेजस् शीतल हो जाता है, उनकी इन्द्रियों का मन में विलय हो जाता है, इस स्थिति में वे पुनर्जन्म प्राप्त करते हैं ॥ ९ ॥

**यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः । सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति ॥ १० ॥**

(मरणकाल में) इस (आत्मा) का जिस तरह का मनः संकल्प होता है, वह उसी प्रकार के संकल्प के साथ प्राण को प्राप्त करता है। वह प्राण तेजस् सम्पन्न होकर जीव के संकल्पानुसार उसे विभिन्न लोकों (योनियों) में ले जाता है ॥ १० ॥

**य एवं विद्वान्प्राणं वेद न हास्य प्रजा हीयतेऽ मृतो भवति तदेष श्रोकः ॥ ११ ॥**

जो विज्ञजन प्राण तत्त्व को इस प्रकार जानते हैं, उनकी प्रजा (वंश) कभी विनाश को प्राप्त नहीं होती और वे अमृतत्व को प्राप्त कर लेते हैं। यह श्रोक इसी तथ्य का प्रतिपादन करता है ॥ ११ ॥

**उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा ।**

**अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमशूते विज्ञायामृतमशूत इति ॥ १२ ॥**

जो मनुष्य प्राण तत्त्व की उत्पत्ति, आगमन, स्थान व्यापकत्व तथा बाहरी और आध्यात्मिक (आन्तरिक) स्थिति के पाँचों भेदों को भली प्रकार जान लेता है, वह अमर पद प्राप्त कर लेता है-वह निश्चित ही अमरत्व को प्राप्त कर लेता है ॥ १२ ॥

**॥ चतुर्थः प्रश्नः ॥**

**अथ हैनं सौर्यायणी गार्यः पप्रच्छ । भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति ? कान्यस्मिन् जाग्रति ? कतर एष देवः स्वप्नान्पश्यति ? कस्यैतत्पुखं भवति ? कस्मिन्नु सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥ १ ॥**

तदुपरान्त सूर्य-पौत्र गार्य ने महर्षि पिप्पलाद से प्रश्न किया-हे भगवन् ! इस पुरुष देह में कौन (इन्द्रियाँ) शयन करती हैं और कौन जाग्रत् रहती हैं ? कौन देवता स्वप्न देखता है और कौन सुख अनुभव करता है ? ये सब किसमें सम्प्रतिष्ठित होते हैं ? ॥ १ ॥

तस्मै स होवाच । यथा गार्य । मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति । ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति । तेन तर्हेष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते ॥ २ ॥

महर्षि पिप्लाद ने गार्य ऋषि से कहा— हे गार्य ! जिस प्रकार सूर्य की रश्मयाँ उसके अस्त होने पर सिमटकर उसी केतेजोमण्डल में एकीभूत हो जाती हैं और सूर्योदय होने पर पुनः सर्वत्र फैल जाती हैं, उसी प्रकार समस्त इन्द्रियाँ परमदेव मन में एकीभूत हो जाती हैं, तब यह पुरुष न देखता है, न सुनता है, न स्वाद लेता है, न सूंधता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न ग्रहण करता है, न मल का त्याग करता है, न आनंद का अनुभव करता है और न ही किसी प्रकार की चेष्टा करता है, तब उसकी इस स्थिति को शयन करना (सो जाना) कहते हैं ॥ २ ॥

**प्राणाग्रय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति गार्हपत्यो ह वा एषोऽ पानो व्यानोऽ न्वाहार्यपचनो यद्वार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः ॥ ३ ॥**

(सोते समय) इस शरीररूप पुर (नगर) में प्राणरूप अग्नि ही जाग्रत् रहता है । यह अपान ही गार्हपत्य अग्नि है । व्यान ही अन्वाहार्यपचन नामक अग्नि है । गार्हपत्य से ले जाया गया प्राण ही 'प्रणयन प्रक्रिया' के कारण आहवनीय अग्निरूप है ॥ ३ ॥

[ ऋषि यहाँ काया में सतत चलने वाली जीवन रूपी यज्ञीय प्रक्रिया का स्वरूप व्यक्त कर रहे हैं । ]

**यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानः । मनो ह वाव यजमान इष्टफलमेवोदानः स एनं यजमानमहरहर्षह्य गमयति ॥ ४ ॥**

शरीरधारी में उच्छ्वास और निःश्वास (श्वास लेना और छोड़ना) ही यज्ञाहुतियाँ हैं । उन आहुतियों को समानता पूर्वक विभक्त करने के कारण समान वायु (ही ऋत्विक्) है । मन निश्चित ही यजमान है और अभीष्ट फल उदान है । यही उदान (इच्छित फल) मन को नित्य ही ब्रह्म में स्थित करता है ॥ ४ ॥

**अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति । यददृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनु-शृणोति देशदिग्न्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चानुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति ॥ ५ ॥**

स्वप्न की स्थिति में यह देव अपनी महिमा का अनुभव करता है । जाग्रत् अवस्था में इसने जो देखा था, उसी को पुनः (स्वप्न में) देखता है, जो सुना था उसे ही सुनता है, विभिन्न दिशाओं में अनुभव किये हुए को पुनः-पुनः अनुभव करता है । (इतना ही नहीं) यह देखे-अनदेखे, सुने-अनसुने, अनुभूत-अनुभूत, सत् और असत् समस्त पदार्थों को देखता है और स्वयं भी सर्वरूप बनकर देखता है ॥ ५ ॥

**स यदा तेजसाभिभूतो भवत्यत्रैष देवः स्वजान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिञ्चरी एतत्सुखं भवति ॥**

जब यह जीवात्मा तेजस् से सम्पन्न होता है, तब यह स्वप्न नहीं देखता । उस समय शरीर में यह आनन्द (सुषुप्ति सुख) अनुभव करता है ॥ ६ ॥

**स यथा सोम्य ! वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥**

हे सोम्य ! जिस प्रकार पक्षी अपने निवास स्थान वृक्ष पर जाकर बैठ जाते हैं, उसी प्रकार ये समस्त तत्त्व परम आत्मा में प्रतिष्ठित हो जाते हैं ॥ ७ ॥

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक् च स्पर्शयितव्यं च वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहङ्कारश्चाहङ्कर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च ॥ ८ ॥

(गत मन्त्रों में जिन तत्त्वों का संकेत है, वे ये हैं) पृथ्वी एवं उसकी तन्मात्रा (गन्ध), जल एवं उसकी तन्मात्रा (रस), आकाश एवं उसकी तन्मात्रा (शब्द), वायु और उसकी तन्मात्रा (स्पर्श), तेज (अग्नि) और उसकी तन्मात्रा (रूप), नेत्र और देखने योग्य (दृश्य), कान और सुनने योग्य (शब्द), घ्राण और सूँघने योग्य (गंध), रसना और स्वाद ग्रहण करने योग्य (रस), त्वचा और स्पर्श करने योग्य (पदार्थ), हाथ और ग्रहण करने योग्य पदार्थ, वाक् शक्ति और वक्तव्य-विषय, उपस्थ और उससे सम्बन्धित विषय, गुदा और विसर्जन योग्य (मल), पैर और गन्तव्य स्थल, मन और मननीय विषय, बुद्धि और जानने योग्य विषय, अहंकार और उसका विषय, चित्त और चिंतनीय विषय, तेजस् और प्रकाशित करने योग्य पदार्थ, प्राण एवं उसके आश्रित रहने वाले पदार्थ (ये सब) परम आत्मा में विलीन हो जाते हैं ॥ ८ ॥

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धाकर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ ९ ॥

यही द्रष्टा (देखने वाला), स्प्रष्टा (स्पर्श करने वाला), श्रोता (सुनने वाला), घ्राता (सूँघने वाला), रसयिता (रस लेने वाला), मन्ता (मनन करने वाला), कर्ता (कर्म करने वाला) और बोद्धा (जानने वाला) विज्ञानात्मा पुरुष है; जो परम अविनाशी ब्रह्म में स्थित हो जाता है ॥ ९ ॥

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशारीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य! स सर्वज्ञः सर्वो भवति ॥ तदेष श्लोकः ॥ १० ॥

हे सोम्य! जो पुरुष, इस छायारहित, शारीरहित, अलोहित, शुभ्र अक्षर परमात्मा को भली-भाँति जानता है, वह सर्वज्ञ और सर्वरूप होकर उसी को प्राप्त हो जाता है—ऐसा इस श्लोक में भी वर्णित है ॥ १० ॥

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र । तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य! स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति ॥ ११ ॥

हे सोम्य ! जिस अविनाशी परब्रह्म में समस्त देवगण, समस्त प्राण और समस्त भूत भली प्रकार प्रतिष्ठित होते हैं, उसे जानने वाला सर्वज्ञता भी उसी में (परमात्मा में) प्रविष्ट हो जाता है ॥ ११ ॥

॥ पञ्चमः प्रश्नः ॥

अथ हैनं शैव्यः सत्यकामः पप्रच्छ । स यो ह वै तद्वगवन्मनुष्येषु प्रायणान्त-  
मोङ्कारमभिध्यायीत । कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति ॥ १ ॥

इसके उपरान्त शिवि पुत्र सत्यकाम ने महर्षि पिप्पलाद से पूछा— हे भगवन्! यह बताने का अनुग्रह करें कि जो मनुष्य जीवन भर (मरण पर्यन्त) ३० का ध्यान करे, वह इस (ओंकारोपासना) द्वारा किस लोक पर विजय प्राप्त कर लेता है? ॥ १ ॥

तस्मै स होवाच । एतद्वै सत्यकाम । परं चापरं च ब्रह्म यदोँकारस्तस्माद्विद्वा-  
नेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ॥ २ ॥

महर्षि पिप्पलाद ने कहा- हे सत्यकाम ! यह ॐ कार ही निश्चित रूप से परब्रह्म और अपरब्रह्म है । अतः जो विद्वान् इसे इस प्रकार जानता है, वह इनमें से किसी एक (ब्रह्म) को प्राप्त कर लेता है ॥ २ ॥

स यद्येकमात्रमधिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसंपद्यते । तमृचो  
मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संपन्नो महिमानमनुभवति ॥ ३ ॥

वह साधक यदि एक मात्रा वाले ॐकार का ध्यान करता है, तो उसके माध्यम से वह अतिशीघ्र इस जगत् को प्राप्त कर लेता है । वहाँ वह ब्रह्मचर्य, तप और श्रद्धा से सम्पन्न होकर महिमावान् होता है ॥ ३ ॥

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि संपद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकं स  
सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते ॥ ४ ॥

यदि वह द्विमात्रिक ॐकार का ध्यान करे, तो उसे यजुर्वेद के मन्त्र अन्तरिक्ष में स्थित सोम लोक में ले जाते हैं । वह वहाँ (सोम लोक में) विभूतियों का अनुभव करके पुनः (मर्त्यलोक में) वापस लौट आता है ॥ ४ ॥

यः पुनरेतन्निमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमधिध्यायीत स तेजसि सूर्ये संपन्नः ।  
यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं हृवै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं  
स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते । तदेतौ श्रोकौ भवतः ॥ ५ ॥

जो पुरुष त्रिमात्रिक ॐकार के ध्यान द्वारा साधना करता है, वह तेजोमय सूर्यलोक को प्राप्त करता है । जिस प्रकार सर्प के चुली से मुक्त होकर बाहर आ जाता है, उसी प्रकार वह पापों से छूट जाता है और साम-  
मन्त्रों द्वारा ब्रह्मलोक पहुँचा दिया जाता है । वह विद्वान् इस जीवनघन से भी श्रेष्ठ समस्त शरीरों में प्रविष्ट (हृदय में स्थित) परमात्मा का दर्शन करता है । ये दो श्रोक इसी तथ्य के प्रतिपादक हैं ॥ ५ ॥

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः ।

क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥ ६ ॥

ॐ कार मंत्र की तीनों मात्राएँ (अलग-अलग होने पर भी) परस्पर संबद्ध हैं - मृत्यु से युक्त हैं । ये (ध्यान प्रक्रिया में) प्रयुक्त होती हैं एवं आपस में ऐसी हैं, जिनका प्रतिकूल रूप में प्रयोग नहीं किया गया है । अस्तु, (इन्हें) बाहर-भीतर और बीच की क्रियाओं में भली प्रकार प्रयुक्त करने वाला विद्वान् पुरुष दृढ़ संकल्प वाला हो जाता है, जो कभी विचलित नहीं होता ॥ ६ ॥

ऋग्भरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते । तमोंकारेणैवायतनेनान्वेति  
विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥ ७ ॥

(एक मात्रिक ॐकार की साधना द्वारा) साधक को ऋग्वेद की ऋचाएँ इस लोक की प्राप्ति  
कराती हैं, (द्विमात्रिक ओंकार साधना से) यजुर्वेद के मंत्र अन्तरिक्ष लोक की और (त्रिमात्रिक  
ॐकार साधना द्वारा) सामवेद के मंत्र उसे उस (तृतीय ब्रह्म लोक) लोक की प्राप्ति कराते हैं, ऐसा  
विद्वज्जन जानते हैं । उस ॐकार मंत्र का आश्रय लेकर ही विद्वान् उस परमब्रह्म लोक को प्राप्त करता है, जो शांतिपूर्ण, अजर-अमर भयरहित एवं सर्वोत्कृष्ट है ॥ ७ ॥

## ॥ षष्ठः प्रश्नः ॥

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ । भगवन्हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो  
मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत । षोडशकलं भारद्वाज ! पुरुषं वेत्थ ? तमहं कुमारमब्रुवं नाहमिमं  
वेद यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति । समूलो वा एष परिशुद्ध्यति योऽ  
नृतमभिवदति तस्मान्नार्हम्प्यनृतं वक्तुम् । स तृष्णीं रथमारुह्य प्रवद्राज । तं त्वा पृच्छामि  
क्रासौ पुरुषः ? इति ॥ १ ॥

इसके बाद भरद्वाज ऋषि के पुत्र सुकेशा ने महर्षि पिप्पलाद से पूछा- हे भगवन्! कौसल देश के राजपुत्र हिरण्यनाभ ने मेरे निकट आकर जो प्रश्न किया था, वह मैं आपसे निवेदन कर रहा हूँ- हे भारद्वाज ! क्या आप सोलह कला से सम्पन्न पुरुष के विषय में जानते हैं ? मैंने उस राजकुमार से कहा- मैं उसे नहीं जानता, यदि मैं जानता होता, तो आपको क्यों नहीं बताता ? जो व्यक्ति झूठ बोलता है, वह समूल सूख जाता है, अस्तु, मैं झूठ नहीं बोल सकता । तदनन्तर वह राजकुमार चुपचाप रथारूढ़ होकर चला गया । आप हमारा समाधान करें कि वह 'पुरुष' कहाँ रहता है (जिसके विषय में राजकुमार ने पूछा था) ? ॥ १ ॥

तस्मै स होवाच । इहैवान्तःशरीरसोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेता: षोडशकलाः प्रभवन्तीति ॥

आचार्य पिप्पलाद ने उनसे कहा- हे सोम्य ! जिस पुरुष में षोडश कलाएँ उत्पन्न होती हैं, वह इस शरीर के ही अन्दर विद्यमान है ॥ २ ॥

स ईक्षांचक्रे । कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते  
प्रतिष्ठास्यामीति ॥ ३ ॥

उस (देह-स्थित) पुरुष ने चिन्तन किया कि किसके निकल जाने पर मैं निकल जाऊँगा और किसके प्रतिष्ठित रहने पर मैं प्रतिष्ठित रहूँगा ॥ ३ ॥

स प्राणमसृजत प्राणाच्छूद्धां खं वायुज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽ न्नमन्नाद्वीर्यं तपो  
मंत्राः कर्मलोका लोकेषु च नाम च ॥ ४ ॥

उस पुरुष ने सर्वप्रथम प्राण का सृजन किया, तदुपरान्त प्राण से श्रद्धा, आकाश, वायु, ज्योति, जल, पृथ्वी, इन्द्रियाँ, मन और अन्न सृजा गया । अन्न से वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक एवं नाम आदि (सोलह कलाओं) की रचना हुई ॥ ४ ॥

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां  
नामरूपे समुद्रं इत्येवं प्रोच्यते । एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः  
पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे पुरुषं इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽ कलोऽ  
मृतो भवति । तदेष श्रोकः ॥ ५ ॥

जिस प्रकार नदियाँ बहते-बहते समुद्र में जा मिलती हैं और उसमें ही विलीन होकर अपना नाम-रूप विनष्ट करके 'समुद्र' ही हो जाती हैं । उसी प्रकार सर्वद्रष्टा परम पुरुष की षोडश कलाएँ उस परम पुरुष में ही विलीन हो जाती हैं, उनके नाम-रूप भी विनष्ट हो जाते हैं और वे पुरुष ही कहलाती हैं । इसके बाद भी वह पुरुष कलारहित और अमर है, इस तथ्य के प्रतिपादन स्वरूप यह श्रोक है ॥ ५ ॥

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः ।

तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति ॥ ६ ॥

रथ की नाभि में जिस तरह अरे लगे होते हैं, उसी प्रकार जिस परम पुरुष (परमेश्वर) में समस्त कलाएँ प्रतिष्ठित हैं, उस ज्ञातव्य पुरुष को जानो, ताकि मृत्यु तुम्हें व्यथा न पहुँचा सके ॥ ६ ॥

तान्होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद नातः परमस्तीति ॥ ७ ॥

इसके बाद उन महर्षि पिप्पलाद ने समस्त ऋषियों से कहा इस परब्रह्म के विषय में मैं इतना ही ज्ञान रखता हूँ, इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है ॥ ७ ॥

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽ स्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति । नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥ ८ ॥

तदुपरान्त ऋषियों ने उन (महर्षि पिप्पलाद) की अर्चना करते हुए कहा—आप हमारे पिता हैं, क्योंकि आपने हमें अविद्या (अज्ञान) के उस पार कर दिया है। आप परम ऋषि हैं, हमारा आपको नमन है—नमन है ॥ ८ ॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम..... ॥

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः .....इति शान्तिः ॥

॥ इति प्रश्नोपनिषत्समाप्ता ॥



## ॥ बृहदारण्यकोपनिषद् ॥

शुक्ल यजुर्वेद की काण्ड-शाखा के वाजसनेयि ब्राह्मण-शतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत यह उपनिषद् है। बृहत् (बड़ी) और आरण्यक (वन) में विकसित होने के कारण इसे 'बृहदारण्यक' कहा गया है। इसमें छः अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय में अनेक ब्राह्मण हैं।

प्रथम अध्याय में छः ब्राह्मण हैं। प्रथम ब्राह्मण (अश्वमेध परक) में सृष्टि रूप यज्ञ को एक विराट् अश्व की उपमा से व्यक्त किया गया है और दूसरे में प्रलय के बाद सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। तीसरे में देवों - असुरों के प्रसंग से प्राण की महिमा और उसके भेद स्पष्ट किये गये हैं। चौथे में ब्रह्म को सर्वरूप कहकर उसके द्वारा चार वर्णों के विकास का उल्लेख है। छठवें में विभिन्न अन्नों की उत्पत्ति तथा मन, वाणी एवं प्राण के महत्त्व का वर्णन है। साथ ही नाम, रूप एवं कर्म की प्रतिष्ठा भी है। दूसरे अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में दींग हाँकने वाले गार्य बालकि एवं ज्ञानी राजा अजातशत्रु के संवाद के द्वारा ब्रह्म एवं आत्म तत्त्व को स्पष्ट किया गया है। दूसरे-तीसरे में प्राणोपासना तथा ब्रह्म के दो (मूर्त और अमूर्त) रूपों का वर्णन है। चौथे में याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद है। यह संवाद अध्याय ४ ब्राह्मण ५ में भी लगभग एक ही प्रकार से है। पाँचवें-छठें द्वादश में मधुविद्या और उसकी परम्परा का वर्णन है। तीसरे अध्याय के नौ ब्राह्मणों के अन्तर्गत राजा जनक के यज्ञ में याज्ञवल्क्य से विभिन्न तत्त्ववेत्ताओं की प्रश्नोत्तरी है। गार्गी ने दो बार प्रश्न किए हैं, पहली बार अतिप्रश्न करने पर याज्ञवल्क्य ने उन्हें मस्तक गिरने की बात कहकर रोक दिया। दुबारा वे सभा की अनुमति से पुनः दो प्रश्न करती हैं तथा सपाधान पाकर लोगों से कह देती हैं कि इनसे कोई जीत नहीं सकेगा, किन्तु शाकल्य विदर्घ नहीं माने और अतिप्रश्न करने के कारण उनका मस्तक गिर गया। चौथे अध्याय में याज्ञवल्क्य-जनक संवाद एवं याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद है। अन्त में इस काण्ड की परम्परा है। पाँचवें अध्याय में विविध रूपों में ब्रह्म की उपासना के साथ मनोमय पुरुष एवं वाक् की उपासना भी कही गयी है। मरणोत्तर ऊर्ध्वर्गति के साथ अन्न एवं प्राण की विविध रूपों में उपासना समझायी गयी है। गायत्री उपासना में जपनीय तीनों चरणों के साथ चौथे 'दर्शत' पद का भी उल्लेख है। छठें अध्याय में प्राण की श्रेष्ठता, पंचाग्नि विद्या, मन्थ विद्या तथा सन्तानोत्पत्ति के विज्ञान का वर्णन है। अन्त में समस्त प्रकरण के आचार्य परम्परा की शृंखला व्यक्त की गयी है।

### ॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमिदः पूर्णमिदं.....इति शान्तिः ॥ - (द्रष्टव्य-इशावास्योपनिषद्)

### ॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

#### ॥ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः । सूर्यश्वक्षुर्वातः प्राणो व्यात्तमग्निर्वेश्वानरः संवत्सर आत्माश्वस्य मेध्यस्य । द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यम् । दिशः पार्श्वे अवान्तरदिशः पर्शव ऋतवोऽङ्गानि मासाश्वार्धमासाश्व पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नभो माः सानि । ऊर्ध्वयः सिकता: सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्व पर्वता ओषधयश्व वनस्पतयश्व लोमानि उद्यन् पूर्वार्धो निम्लोचञ्च धनार्धो यद्विजृभ्वते यद्विद्योतते यद्विधूनुते तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक् ॥ १ ॥

प्रथम ब्राह्मण में विराट् 'मेध्य अश्व' का वर्णन किया गया है। जिसके अंग-अवयव तीनों लोकों में कण-कण में संव्याप्त हैं। यह एक आलंकारिक व्याख्या है। 'अश्व' शब्द शक्ति एवं गति का परिचायक है। यह ब्रह्माण्ड

गतिशील है। इसे जो शक्ति गतिशील किये हैं, उसे 'अश्व' कहा गया है। अशु-व्याप्रोति के अनुसार तीव्रगति से संचरित होने वाले को 'अश्व' कहना उचित है। यह अश्व 'मेध्य' है। 'मेध' शब्द 'यज्ञ' का पर्यायवाची है। अस्तु, यह शक्ति का संचार जो विश्व का संवाहक है, निश्चित रूप से 'मेध्य' (यजनीय) है। इसका उपयोग यज्ञीय दिव्य अनुशासन में ही किया जाना चाहिए। मेध (मेधृ) धातु के तीन अर्थ हैं — मेधा, हनन और संगम- संयोजन। इस विराट् यज्ञीय प्रक्रिया को हननीय-हिंसनीय तो नहीं ही कह सकते; अस्तु, यह अर्थ यहाँ अग्राह्य है। इसे मेध्य-मेधा से प्रभावित करने योग्य या मेधा से ग्रहण करने योग्य अवश्य कह सकते हैं। यह संगम योग्य भी है ही। इसके साथ जुड़ जाना या इस शक्ति प्रवाह को अपने साथ जोड़कर रखना आवश्यक भी है।

इस यज्ञीय अश्व या विश्वव्यापी शक्ति प्रवाह का सिर उषाकाल है। आदित्य ही नेत्र हैं, वायु ही प्राण है, वैश्वानरग्नि व्यात (खुला हुआ) मुख है और संवत्सर ही आत्मा है। द्युलोक उस यज्ञाश्व का पृष्ठ (ऊपरी या अव्यक्त) भाग, अन्तरिक्ष उसका उदर, पृथिवी पैर रखने का स्थल, दिशाएँ पार्श्व भाग, अवान्तर दिशाएँ- पसलियाँ, ऋतुएँ अन्य अङ्ग, मास और पक्ष-सन्धिस्थल, दिन और रात्रि दोनों पैर, नक्षत्र समूह-अस्थियाँ और आकाश उसका मांस है। अपरिपक्व (उदर स्थित) अन्न-सिकता (वस्तु या सूक्ष्मकण) है, नदियाँ- नाड़ी समूह, पर्वत समूह-यकृत् और हृदयगत मांस है। वनस्पतियाँ-रोम (लोम समूह), ऊर्ध्वगामी सूर्य- नाभि से ऊपर का स्थल, अधोगामी (अस्ताचल को जाता हुआ) सूर्य-कमर से नीचे का भाग है। विद्युत् चमकना मानों इस यज्ञाश्व का जनुहार्दि लेना है, मेघों का गरजना उसका अँगड़ार्दि लेना है, जल वर्षा ही मानों उसका मूत्र त्यागना है और शब्द घोष उसकी (अश्व) वाणी है ॥ १ ॥

[ उपमाएँ यथार्थ का बोध कराती हैं, वे स्वयं यथार्थ नहीं होतीं। अस्तु, अश्व के अङ्गों के साथ सिर आदि की जो उपमाएँ दी गयी हैं, वे बहुत अंशों तक सटीक हैं। अश्व का उदर 'अन्तरिक्ष' को कहा गया है, अस्तु (उदर में) अपरिपक्व अन्न 'सिकता' सामान्य बालू के कण नहीं, अन्तरिक्ष में स्थित सूक्ष्म कण (सब पार्टिकल्स) समझे जाने चाहिए, जो अभी अपरिपक्व हैं-पदार्थ रूप में परिवर्तित नहीं हुए हैं। ]

अहर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमान्वजायत तस्य पूर्वे समुद्रे योनी रात्रिरेनं पश्चान्महिमान्वजायत  
तस्यापरे समुद्रे योनिरेतौ वा अश्वं महिमानावभितः संबभूवतुः। हयो भूत्वा देवानवहद्वाजी  
गन्धर्वानर्वाऽसुरानश्चो मनुष्यान् समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः ॥ २ ॥

विराट् विश्व अथवा यज्ञाश्व की महिमा स्वरूप सर्वप्रथम दिन का प्राकट्य हुआ, उसकी पूर्व दिशा में समुद्र योनि विद्यमान है। इसकी द्वितीय महिमा के रूप में रात्रि का प्राकट्य हुआ, उसकी पश्चिम दिशा में समुद्र योनि है। ये दोनों समुद्र योनियाँ इस यज्ञाश्व के आगे-पीछे की महिमा संज्ञा वाले ग्रह हैं। इस (विराट् अश्व) ने हय (त्याग) रूप में देवों को वहन किया, वाजी (भोग) बनकर गन्धर्वों को वहन किया, अर्वा (चंचल-आक्रामक) रूप धारण कर असुरों और अश्व (अधिक भोजन करने वाला) रूप से मानवों को वहन किया है। इस यज्ञाश्व अथवा विराट् विश्व का उद्गम स्थल और बन्धु (बाँधकर रखने वाला प्रेमी-सहयोगी) भी समुद्र ही है ॥ २ ॥

[ हय, वाजी, अर्वा, अश्व यह सभी शब्द पर्यायवाची हैं, सभी का अर्थ गतिशील होता है; किन्तु भाव-भेद से इनमें कुछ अन्तर है। त्याग कर बढ़ने वाला 'हय' है। वाजीकरण औषधियाँ भोग शक्ति को बढ़ाने वाली होती हैं; अस्तु, वाजी योगपरक है। अर्वा चंचल-आक्रामक है और अश्व को महाशनो, बहुभोजी कहा गया है। अश्व का उद्गम स्थल और बन्धु समुद्र कहा गया है। यह सामान्य समुद्र नहीं 'आपः तत्त्व' कारण प्रकृति जिसमें हिलोरें लेती है, जिसकी लहरों से लोक - लोकान्तर बनते-बिगड़ते रहते हैं, वह विराट् सक्रिय व्योम है। वेद ने इसे ही 'समुद्रे अर्णवः' आदि कहा है। ]

## ॥ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत् । अशनाययाशनाया हि मृत्युस्तन्मनो-  
ऽकुरुतात्मन्वी स्यामिति । सोऽर्चन्नचरत्तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मेकमभूदिति  
तदेवार्कस्यार्कत्वम् कर्त ह वा अस्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्वं वेद ॥ १ ॥

प्रारम्भ में इस विश्व में और कुछ भी न था । सब कुछ मृत्यु से आवृत था । यह अशनाया (क्षुधा) से आवृत था । क्षुधा ही मृत्यु है । (संसार को अपने अन्दर विलीन कर लेने के कारण ईश्वर को भी मृत्यु कहते हैं ।) उसने सङ्कल्प किया कि मैं मन (संकल्पशक्ति) से युक्त हो जाऊँ । उसने अर्चन (इसके लिए प्रयत्न) किया, जिससे आपः (कारण रूप सक्रिय तत्त्व या प्रकृति) की उत्पत्ति हुई । यह (आपः) ही अर्क (ब्रह्माण्ड) का अर्कत्व (ऐश्वर्य) है । इस अर्क (मूल तत्त्व) को इस प्रकार जानने वाले को 'क' (सुख) की प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

[ सब कुछ मृत्यु एवं क्षुधा से आवृत था, यह आलंकारिक उक्ति है । मृत्यु निष्क्रियता की स्थिति है- प्रलय की स्थिति है । ब्रह्माण्ड को अपने में लय कर लेने की ईश्वरीय इच्छा को उसकी क्षुधा कह सकते हैं । लय करने की इच्छा या क्षुधा के फलस्वरूप ही प्रलय-मृत्यु की स्थिति आती है । उसी ब्रह्म की इच्छा पुनः उगल देने की-सृष्टि को प्रकट करने की हुई, तो वह चक्र पुनः चल पड़ा । अर्क शब्द 'अर्च' धातु से बना है । इसे अर्च+क या अर्क+क (= अर्चक-अर्क) कह सकते हैं । इसे देव संज्ञक मानते हैं । इस देव रहस्य को जानने वाले को सुख या देवत्व की प्राप्ति होना उचित है । ]

आपो वा अर्कस्तद्यदपाः शर आसीत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत्तस्यामश्राम्यत्तस्य  
श्रान्तस्य तस्य तेजोरसो निरवर्तताग्निः ॥ २ ॥

आपः (मूलतत्त्व) ही अर्क है । उस आपः के ऊपर स्थूल भाग एकत्र हो जाने से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई । तदुपरात उस पृथ्वी पर सृजेता के श्रम और तपश्चर्या के परिणाम स्वरूप उसका (ईश्वर का) सारभूत तेज अग्नि के रूप में प्रकट हुआ ॥ २ ॥

स त्रेधात्मानं व्यकुरुतादित्यं तृतीयं वायुं तृतीयं स एष प्राणस्त्रेधा विहितः । तस्य  
प्राची दिक्षिरोऽसौ चासौ चेमौ । अथास्य प्रतीची दिक् पुच्छपसौ चासौ च सक्षयो  
दक्षिणा चोदीची च पार्श्वे द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमियमुरः स एषोप्सु प्रतिष्ठितो यत्र क्वचैति  
तदेव प्रतितिष्ठत्येवं विद्वान् ॥ ३ ॥

उस परमेश्वर ने अपने (अग्निरूप अवतरण) के तृतीयांश को सूर्य, तृतीयांश को वायु (तथा शेष तृतीयांश अग्नि) इस प्रकार तीन भागों में विभक्त किया । पूर्व दिशा उस विराट् का शीर्ष भाग (सिर), ईशान दिशाएँ और आग्रेय दिशाएँ उसकी दोनों बाँहें, पश्चिम दिशा उसकी पूँछ तथा वायव्य और नैऋत्य दिशाएँ उस विराट् की जंघाएँ हैं । उत्तर और दक्षिण दिशाओं को उसका पार्श्व भाग तथा द्युलोक को पृष्ठ भाग कहते हैं । अन्तरिक्ष उसका उदर प्रदेश और पृथिवी वक्षस्थल (हृदय) है । यह (अग्नि रूप विराट् तत्त्व) आपः तत्त्व में प्रतिष्ठित है । इस विराट् को जो इस प्रकार जानता है, वह प्रतिष्ठा प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति स मनसा वाचं मिथुनः समभवदशनाया  
मृत्युस्तद्यद्रेत आसीत्स संवत्सरोऽभवत् । न ह पुरा ततः संवत्सर आस तमेतावन्तं  
कालमबिभः । यावान्संवत्सरस्तमेतावतः कालस्य परस्तादसृजत । तं जातमभिव्याददात्स  
भाणकरोत्सैव वागभवत् ॥ ४ ॥

उस विराट् ने इच्छा की कि मेरा द्वितीय (भिन्न) रूप या प्रयास भी प्रकट हो। अस्तु, उस क्षुधारूप मृत्यु ने मन के साथ वाणी की कामना की। दोनों के सम्बद्ध होने से जो रेतस् प्रकट हुआ, वही संवत्सर हुआ। उससे पूर्व संवत्सर अथवा काल नहीं था। उस संवत्सर को उतने ही समय तक वे मृत्यु स्वरूप हुए। प्रजापति गर्भ में धारण किये रहे। निर्धारित समय पूरा हो चुकने के बाद उस (संवत्सर) को प्रकट किया। उस उत्पन्न कुमार को खाने के लिए मृत्यु ने मुँह फैलाया, तब उस (कुमार के) मुख से 'भाण्' (शब्द) निकला, वही वाणी हो गई ॥ ४ ॥

[यह आलंकारिक वर्णन है। मन के साथ वाणी के संयोग से रेतस् अर्थात् प्रवहमान तेजस्-ज्ञान प्रकट हुआ। वही घनीभूत होकर संवत्सर (संवित्+सर) अर्थात् मन एवं वाणी के संयोग से बना ज्ञान सरोवर बना। वह ज्ञान काल-कवलित न हो जाये, इसलिए उसने भा=शोभायुक्त, ण=प्राण प्रयोग (शोभनीय प्राण प्रयोग अर्थात् ज्ञानयुक्त जीवों का विस्तार) किया। यह बात आगे सिद्ध होती है।]

स ऐक्षत यदि वा इममभिमःस्ये कनीयोऽन्नं करिष्य इति स तया वाचा तेनात्मनेदः सर्वमसृजत यदिदं किंचर्चो यजूःषि सामानि छन्दाःसि यज्ञान् प्रजाः पशून्। स यद्यदेवासृजत तत्तदत्तुमधियत सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वः सर्वस्यैतस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवमेतददितेरदितित्वं वेद ॥ ५ ॥

उस (मृत्यु) ने कुमार को भयभीत देखकर सोचा कि यदि मैं इसका भक्षण कर लूँ, तो यह अत्यल्प अन्न ही ग्रहण करूँगा। अस्तु, मृत्यु ने मन और वाणी के संयोग से ऋक्, यजु, साम, छन्द और यज्ञ, पशु और प्रजा की रचना की। इन सभी सृजित वस्तुओं को उसने भक्षण कर लेने का विचार किया। वह सबका भक्षण करता है। ईश्वर भी सभी को अपने में लीन कर लेता है। अतः यही उस अदिति (अखण्ड रूप ईश्वर) का अदितित्व (एकरस-एकरूप) है। जो इस प्रकार इस अदिति के अदितित्व का ज्ञान रखता है, वह इन सबका अत्ता होता है अर्थात् वह समस्त वस्तुओं और अन्नों का खाने वाला (आत्मसात् करने वाला) होता है ॥ ५ ॥

सोऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्य श्रान्तस्य तपस्य यशो वीर्यमुदक्रामत् प्राणा वै यशो वीर्यं तत्प्राणोषूक्लान्तेषु शरीरः श्वयितुमधियत तस्य शरीर एव मन आसीत् ॥ ६ ॥

उस (प्रजापति) ने कामना की कि मैं फिर से एक विराट् यज्ञ द्वारा यजन कार्य करूँ, सो उसने श्रम और तप किया। तप और श्रम से यश और बल प्रकट हुए। प्राण तत्त्व ही यश और बल (वीर्य) है। प्राणों के विस्तार के साथ ही शरीर फूलने (विस्तार पाने) लगा। तब भी उसका मन शरीर में (उस विकास प्रक्रिया में) ही लगा रहा ॥ ६ ॥

[वर्तमान वैज्ञानिक-अनुसंधान के आधार पर भी सृष्टि का उद्भव बिगबैंग-महाविस्फोट के साथ प्राण-प्रक्रिया का विस्तार हुआ और दृश्य जगत् फैल गया। पहले पदार्थ अत्यधिक घनीभूत था। उसके फैलने-फूलने से ही यह मेध्य समझा जाने योग्य ब्रह्माण्ड विकसित हुआ।]

सोऽकामयत मेध्यं म इदः स्यादात्मन्यनेन स्यामिति ततोऽश्वः समभवद्यदश्व-तत्मेध्यमभूदिति तदेवाश्वमेधस्याश्वमेधत्वं। एष ह वा अश्वमेधं वेद य एनमेवं वेद तमनवरु-द्व्यैवामन्यत तः संवत्सरस्य परस्तादात्मन आलभत पशून्देवताभ्यः प्रत्यौहत् तस्मात्सर्वदेवत्यं प्रोक्षितं प्राजापत्यमालभन्ते। एष ह वा अश्वमेधो य एष तपति तस्य संवत्सर आत्मायम-

गिरकंस्तस्येमे लोका आत्मानस्तावेतावर्काश्वमेधौ सोपुनरेकैव देवता भवति मृत्युरेवाप पुनर्मृत्युं जयति नैनं मृत्युराप्नोति मृत्युरस्यात्मा भवत्येतासां देवतानामेको भवति ॥ ७ ॥

तदुपरान्त उसने कामना की कि मेरा यह शरीर जानने योग्य अथवा यज्ञीय (मेध्य) हो जाए और मैं इसके माध्यम से शरीरवान् हो जाऊँ। तब यह शरीर अश्वत् (फैलकर बड़ा) हो गया। अस्तु वह अश्व कहलाया और वह अश्व ही मेध्य (जानने योग्य या संगति बिठाने योग्य अथवा यजनीय) हुआ। यही अश्वमेध का अश्वमेधत्व है। इसे इस प्रकार जानने वाला ही वस्तुतः अश्वमेध को जानता है। उसने (प्रजापति ने) उस अश्वमेध को अवरोध रहित ही विचार किया (दर्शन किया)। उसने (प्रजापति ने) संवत्सर के बाद उसका (अश्व का) अपने निमित्त आलभन किया और अन्य पशुओं को भी देवों के निमित्त प्रस्तुत किया। अस्तु, यजनकर्ता मन्त्र से संस्कारित समस्त देवों से सम्बन्धित प्राजापत्य पशु को आलभित करते हैं। यह तप्यमान (आदित्य) ही अश्वमेध है। संवत्सर उसकी देह है। अग्नि अर्क है और समस्त लोक ही इस (अश्व) की आत्मा हैं। ये अग्नि और आदित्य दोनों ही अर्क और अश्वमेध हैं; किन्तु वे मृत्यु स्वरूप देवता एक ही हैं। इस प्रकार से मृत्यु को जानने वाला मृत्युजित् या मृत्युंजय हो जाता है। वह स्वयं भी मृत्यु स्वरूप होकर देवों में भी मुख्य स्थान प्राप्त कर लेता है ॥ ७ ॥

## ॥ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

उद्गीथ विद्या की यह आख्यायिका कतिपय परिवर्तनों के साथ छान्दोग्य उपनिषद् के अध्याय-१ के द्वितीय खण्ड में भी आई है-

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त ते ह देवा ऊर्हन्तासुराच्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति ॥ १ ॥

प्रजापति के पुत्रों के दो वर्ग थे- देवता और असुर। उनमें देवता अल्प और असुर बहु संख्यक थे। विभिन्न लोकों में निवास करते हुए वे परस्पर प्रतिस्पर्धा करने लगे। देवताओं ने निश्चय किया कि हम लोग यज्ञ में 'उद्गीथ' के द्वारा असुरों का अतिक्रमण करें ॥ १ ॥

ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो वागुदगायत् यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत् कल्याणं वदति तदात्मने ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्त्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिस्तुपं वदति स एव स पाप्मा ॥ २ ॥

तदुपरान्त देवों ने उद्गीथ गान हेतु वाणी के अभिमानी देवता वाक् से निवेदन किया। उनके निवेदन को स्वीकार कर वाक् ने उद्गीथ पाठ किया। उसने अपने भोग को देवताओं के निमित्त गाया और अपने आक्रमण करेंगे। अस्तु, उन्होंने वाक् के निकट जाकर उसे पाप से विद्ध कर दिया। वाक् का निषिद्ध (अनुचित) वचन ही वस्तुतः पाप है ॥ २ ॥

अथ ह प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यः प्राण उद्गायद्यः प्राणे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत् कल्याणं जिघ्रति तदात्मने ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्त्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिस्तुपं जिघ्रति स एव स पाप्मा ॥ ३ ॥

तब देवों ने प्राण से कहा कि आप हमारे लिए उद्गाता बन जाएँ। प्राण ने 'तथास्तु' कहकर इसे स्वीकार कर लिया और उद्गीथ गायन सम्पन्न किया। उसने (प्राण ने) प्राण तत्त्व के भोग को देवताओं के लिए और जिस (श्रेष्ठ) गंध को वह सूँघता है, उसे अपने लिए गया। असुरों को विदित हो गया कि देवता प्राण रूप उद्गाता द्वारा हमारा अतिक्रमण करेंगे। अस्तु, वे प्राण के पास गये और उसे पाप से बींध दिया। प्राण (प्राण शक्ति) जिस अनुपयुक्त अथवा निषिद्ध को सूँघता है, वही पाप है ॥ ३ ॥

अथ ह चक्षुरुचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यश्चक्षुरुदगायद् यश्चक्षुषि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं पश्यति तदात्मने ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्त्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं पश्यति स एव स पाप्मा ॥ ४ ॥

तब देवों ने चक्षु से उद्गीथ गान करने के लिए निवेदन किया। उसे स्वीकार कर चक्षु इन्द्रिय ने उद्गीथ गान किया। चक्षु में स्थित भोग सामर्थ्य को उसने देवों के निमित्त गाया और उसमें जो शुभ दर्शन का गुण है, उसे अपने लिए गया। इस तथ्य को असुरगण जान गये कि देवता चक्षुरूप उद्गाता के द्वारा हमारा अतिक्रमण करेंगे, तब असुरों ने चक्षु के निकट जाकर (आक्रमण करके) उसे पाप से विद्ध कर दिया। नेत्रेन्द्रिय जिस अनुचित को देखती है, वही पाप है ॥ ४ ॥

अथ ह श्रोत्रमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यः श्रोत्रे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणः शृणोति तदात्मने ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्त्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपः शृणोति स एव स पाप्मा ॥ ५ ॥

इसके बाद देवताओं ने श्रोत्र (कण्ठेन्द्रिय) से कहा कि आप हमारे लिए उद्गान करें। श्रोत्र ने स्वीकार करके देवों के लिए उद्गान किया। श्रोत्रेन्द्रिय के भोग को उसने देवताओं के लिए और वह जो शुभ सुनता है, उसे अपने लिए गया। असुर यह जान गये कि श्रोत्र रूप उद्गाता के द्वारा देवता हमारे ऊपर आक्रमण करेंगे, तब उनने श्रोत्र पर आक्रमण किया और उन्हें पाप-रूप अस्त्र से बींध दिया। अनुचित और अनुपयुक्त सुनना ही पाप है ॥ ५ ॥

अथ ह मन ऊचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो मन उद्गायद्यो मनसि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणः संकल्पयति तदात्मने ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्त्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपः संकल्पयति स एव स पाप्मैवमुखल्वेता देवता: पाप्मभिरुपासृजन्नेवमेनाः पाप्मेनाविध्यन् ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् देवताओं ने मन से उद्गान करने की प्रार्थना की। मन ने उसे स्वीकार कर लिया और उद्गान सम्पन्न किया। मन के भोगों को उसने देवताओं के लिए और उसके शुभ संकल्पों का अपने लिए गान किया। इससे असुर यह जान गये कि देवगण मनरूप उद्गाता द्वारा हमारा अतिक्रमण करेंगे। तब उन्होंने (असुरों ने) मन पर आक्रमण करके उसे पाप से विद्ध कर दिया। अनुपयुक्त और अशुभ संकल्प करना ही पाप है। अतः देवगण पाप का संसर्ग पाकर (असुरों द्वारा) पाप से विद्ध हुए ॥ ६ ॥

अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उद्गायत्ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविव्यत्स्यन्प यथाशमानमृत्वा लोष्टो विध्वः से तैवः हैव विध्वः समाना विष्वञ्चो विनेशुस्तो देवा अभवन् परासुरा भवत्यात्मना परास्य द्विषन्धातृव्यो भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥

तब देवों ने अपने मुख में निवास करने वाले प्राण से निवेदन किया कि आप हमारे निमित्त उद्गीथ पाठ करें। मुखस्थ प्राण ने इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और उद्गीथ गान किया, जब असुरों ने यह जाना कि देवता (प्राणरूप) उद्गाता के द्वारा हमारे ऊपर आक्रमण करेंगे, तब उन्होंने प्राण के पास जाकर उसे भी पाप से बिछ करने का प्रयत्न किया, परन्तु मिट्टी के ढेले के पत्थर से टकराकर चूर-चूर हो जाने के समान वे असुरगण (मुखस्थ प्राण से टकराकर) विभिन्न प्रकार से छिन्न-भिन्न होकर ध्वस्त हो गये। इस प्रकार देवगण विजयी और असुर-गण पराजित हुए। जो इस तथ्य को इस प्रकार जानता है वह शत्रु को पराजित करके स्वयं विजयी होता है ॥ ७ ॥

ते होचु क्र नु सोऽभूद्यो न इत्थमसक्तेत्ययमास्येऽन्तरितिसोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानाः  
हि रसः ॥ ८ ॥

इसके पश्चात् उन देवताओं ने परस्पर चर्चा की कि जिनने हमें असक्त (स्व स्वरूप से युक्त) किया अर्थात् हमारी रक्षा की और हमें देवत्व भाव को प्राप्त कराया, वे कहाँ स्थित हैं? किसी ने उत्तर दिया कि वे (मुख्य प्राण) हमारे मुख में स्थित हैं, इसीलिए उनका नाम अयास्य हुआ। अङ्गों का रस होने के कारण उन्हें आङ्गिरस भी कहते हैं ॥ ८ ॥

सा वा एषा देवता दूर्नाम दूरः ह्यस्या मृत्युर्दूरः ह वा अस्मान्मृत्युर्भवति य एवं वेद ॥

यह (प्राण नाम वाले) देवता 'दूर' नाम से युक्त हैं, क्योंकि मृत्यु इससे दूर रहती है। जो इस (मृत्यु के प्राण से दूर रहने के रहस्य) को इस तरह जानता है, वह मृत्यु से बचा रहता है ॥ ९ ॥

स वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्य यत्रासां दिशामन्तस्तद्भयान्चकार तदासां पाप्मनो विन्यदधात्तस्मान्न जनमियान्नान्तमियान्नेत्याप्मानं मृत्युमन्ववायानीति ॥ १० ॥

उस, इस प्राण रूप देवता ने इन्द्रियरूपी देवताओं के पाप रूपी मृत्यु को विनष्ट करके दिशाओं के सीमान्त स्थल तक पहुँचा दिया और तिरस्कारपूर्वक उसने (प्राण ने) उन्हें (पापों को) वहाँ प्रतिष्ठित कर दिया। अतः किसी को भी यह सोचकर कि मैं पापरूप मृत्यु के पाश में न फँसूँ, दिशाओं के सीमान्त प्रदेश में नहीं जाना चाहिए (अर्थात् मर्यादाओं का उलंघन नहीं करना चाहिए) ॥ १० ॥

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्याथैनां मृत्युमत्यवहत् ॥ ११ ॥

उस प्राण देवता ने इन्द्रियादि देवताओं के पाप रूप मृत्यु को विनष्ट कर उन्हें मृत्यु के उस पार पहुँचा दिया अर्थात् मृत्यु रहित कर दिया (पाप का परित्याग कर मानव मोक्ष रूपी अमृतत्व को प्राप्त करता है) ॥

स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवत्सोऽयमग्निः परेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते ॥ १२ ॥

उस प्राण देवता ने सर्वप्रथम वाग्देवता को मृत्यु के पार किया। वाग्देवता मृत्यु के पार होते ही (अमृतत्व प्राप्त करके) अग्निरूप हुई वह वाणी ही मृत्यु का अतिक्रमण करके देदीप्यमान हो रही है ॥ १२ ॥

अथ ह प्राणमत्यवहत्सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत स वायुरभवत्सोऽयं वायुः परेण मृत्युमतिक्रान्तः पवते ॥ १३ ॥

तदुपरान्त उस प्राण देवता ने ग्राणशक्ति को मृत्यु के पार किया। तब (पापरूपी) मृत्यु से पार हुई वह ग्राण शक्ति वायुरूप हो गई। अब वही वायु मृत्यु के पाश से मुक्त होकर प्रवाहित हो रही है ॥ १३ ॥

तब देवों ने प्राण से कहा कि आप हमारे लिए उद्गाता बन जाएँ। प्राण ने 'तथास्तु' कहकर इसे स्वीकार कर लिया और उद्गीथ गायन सम्पन्न किया। उसने (प्राण ने) प्राण तत्त्व के भोग को देवताओं के लिए और जिस (श्रेष्ठ) गंध को वह सूँघता है, उसे अपने लिए गाया। असुरों को विदित हो गया कि देवता प्राण रूप उद्गाता द्वारा हमारा अतिक्रमण करेंगे। अस्तु, वे प्राण के पास गये और उसे पाप से बींध दिया। ग्राण (प्राण शक्ति) जिस अनुपयुक्त अथवा निषिद्ध को सूँघता है, वही पाप है ॥ ३ ॥

**अथ ह चक्षुरुचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यश्शक्षुरुदगायद् यश्शक्षुषि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं पश्यति तदात्मने ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्त्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिस्तुपं पश्यति स एव स पाप्मा ॥ ४ ॥**

तब देवों ने चक्षु से उद्गीथ गान करने के लिए निवेदन किया। उसे स्वीकार कर चक्षु इन्द्रिय ने उद्गीथ गान किया। चक्षु में स्थित भोग सामर्थ्य को उसने देवों के निमित्त गाया और उसमें जो शुभ दर्शन का गुण है, उसे अपने लिए गाया। इस तथ्य को असुरगण जान गये कि देवता चक्षुरूप उद्गाता के द्वारा हमारा अतिक्रमण करेंगे, तब असुरों ने चक्षु के निकट जाकर (आक्रमण करके) उसे पाप से विद्ध कर दिया। नेत्रेन्द्रिय जिस अनुचित को देखती है, वही पाप है ॥ ४ ॥

**अथ ह श्रोत्रमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यः श्रोत्रमुद्गायद्यः श्रोत्रे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणः शृणोति तदात्मने ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्त्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिस्तुपः शृणोति स एव स पाप्मा ॥ ५ ॥**

इसके बाद देवताओं ने श्रोत्र (कर्णेन्द्रिय) से कहा कि आप हमारे लिए उद्गान करें। श्रोत्र ने स्वीकार करके देवों के लिए उद्गान किया। श्रोत्रेन्द्रिय के भोग को उसने देवताओं के लिए और वह जो शुभ सुनता है, उसे अपने लिए गाया। असुर यह जान गये कि श्रोत्र रूप उद्गाता के द्वारा देवता हमारे ऊपर आक्रमण करेंगे, तब उनने श्रोत्र पर आक्रमण किया और उन्हें पाप-रूप अस्त्र से बींध दिया। अनुचित और अनुपयुक्त सुनना ही पाप है ॥ ५ ॥

**अथ ह मन ऊचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो मन उद्गायद्यो मनसि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत् कल्याणः संकल्पयति तदात्मने ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्त्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिस्तुपः संकल्पयति स एव स पाप्मैवमुखल्वेता देवताः पाप्मभिरुपासृजन्वेवमेनाः पाप्मेनाविध्यन् ॥ ६ ॥**

तत्पश्चात् देवताओं ने मन से उद्गान करने की प्रार्थना की। मन ने उसे स्वीकार कर लिया और उद्गान सम्पन्न किया। मन के भोगों को उसने देवताओं के लिए और उसके शुभ संकल्पों का अपने लिए गान किया। इससे असुर यह जान गये कि देवगण मनरूप उद्गाता द्वारा हमारा अतिक्रमण करेंगे। तब उन्होंने (असुरों ने) मन पर आक्रमण करके उसे पाप से विद्ध कर दिया। अनुपयुक्त और अशुभ संकल्प करना ही पाप है। अतः देवगण पाप का संसर्ग पाकर (असुरों द्वारा) पाप से विद्ध हुए ॥ ६ ॥

**अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उदगायत्ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविव्यत्स्यन्त्स यथाशमानमृत्वा लोष्टो विध्वःसे तैवः हैव विध्वःसमाना विष्वज्ञो विनेशुस्ततो देवा अभवन् परासुरा भवत्यात्मना परास्य द्विषन्धातृव्यो भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥**

तब देवों ने अपने मुख में निवास करने वाले प्राण से निवेदन किया कि आप हमारे निमित्त उद्गीथ पाठ करें। मुखस्थ प्राण ने इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और उद्गीथ गान किया, जब असुरों ने यह जाना कि देवता (प्राणरूप) उद्गाता के द्वारा हमारे ऊपर आक्रमण करेंगे, तब उन्होंने प्राण के पास जाकर उसे भी पाप से बिछू करने का प्रयत्न किया, परन्तु मिट्टी के ढेले के पथर से टकराकर चूर-चूर हो जाने के समान वे असुरगण (मुखस्थ प्राण से टकराकर) विभिन्न प्रकार से छिन्न-भिन्न होकर ध्वस्त हो गये। इस प्रकार देवगण विजयी और असुर-गण पराजित हुए। जो इस तथ्य को इस प्रकार जानता है वह शत्रु को पराजित करके स्वयं विजयी होता है ॥ ७ ॥

**ते होचु क्षु नु सोऽभूद्यो न इत्थमसक्तेत्यमास्येऽन्तरितिसोऽयास्य आङ्ग्निरसोऽङ्गानाः  
हि रसः ॥ ८ ॥**

इसके पश्चात् उन देवताओं ने परस्पर चर्चा की कि जिनने हमें असक्त (स्व स्वरूप से युक्त) किया अर्थात् हमारी रक्षा की और हमें देवत्व भाव को प्राप्त कराया, वे कहाँ स्थित हैं? किसी ने उत्तर दिया कि वे (मुख्य प्राण) हमारे मुख में स्थित हैं, इसीलिए उनका नाम अयास्य हुआ। अङ्गों का रस होने के कारण उन्हें आङ्ग्निरस भी कहते हैं ॥ ८ ॥

**सा वा एषा देवता दूर्नाम दूरः ह्यस्या मृत्युर्दूरः ह वा अस्मान्मृत्युर्भवति य एवं वेद ॥**

यह (प्राण नाम वाले) देवता 'दूर' नाम से युक्त हैं, क्योंकि मृत्यु इससे दूर रहती है। जो इस (मृत्यु के प्राण से दूर रहने के रहस्य) को इस तरह जानता है, वह मृत्यु से बचा रहता है ॥ ९ ॥

**स वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्य यत्रासां दिशामन्तस्तद्भयांचकार  
तदासां पाप्मनो विन्यदधात्तस्मान्न जनमियान्नान्तमियान्नेत्याप्मानं मृत्युमन्ववायानीति ॥ १० ॥**

उस, इस प्राण रूप देवता ने इन्द्रियरूपी देवताओं के पाप रूपी मृत्यु को विनष्ट करके दिशाओं के सीमान्त स्थल तक पहुँचा दिया और तिरस्कारपूर्वक उसने (प्राण ने) उन्हें (पापों को) वहाँ प्रतिष्ठित कर दिया। अतः किसी को भी यह सोचकर कि मैं पापरूप मृत्यु के पाश में न फँसूँ दिशाओं के सीमान्त प्रदेश में नहीं जाना चाहिए (अर्थात् मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं करना चाहिए) ॥ १० ॥

**सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्याथैनां मृत्युमत्यवहत् ॥ ११ ॥**

उस प्राण देवता ने इन्द्रियादि देवताओं के पाप रूप मृत्यु को विनष्ट कर उन्हें मृत्यु के उस पार पहुँचा दिया अर्थात् मृत्यु रहित कर दिया (पाप का परित्याग कर मानव मोक्ष रूपी अमृतत्व को प्राप्त करता है) ॥

**स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवत्सोऽयमग्निः  
परेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते ॥ १२ ॥**

उस प्राण देवता ने सर्वप्रथम वाग्देवता को मृत्यु के पार किया। वाग्देवता मृत्यु के पार होते ही (अमृतत्व प्राप्त करके) अग्निरूप हो गये। अग्निरूप हुई वह वाणी ही मृत्यु का अतिक्रमण करके देवीप्राप्ति हो रही है ॥ १२ ॥

**अथ ह प्राणमत्यवहत्सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत स वायुरभवत्सोऽयं वायुः परेण  
मृत्युमतिक्रान्तः पवते ॥ १३ ॥**

तदुपरान्त उस प्राण देवता ने ग्राणशक्ति को मृत्यु के पार किया। तब (पापरूपी) मृत्यु से पार हुई वह ग्राण शक्ति वायुरूप हो गई। अब वही वायु मृत्यु के पाश से मुक्त होकर प्रवाहित हो रही है ॥ १३ ॥

अथ चक्षुरत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स आदित्योऽभवत् सोऽसावादित्यः परेण  
मृत्युमतिक्रान्तास्तपति ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् वह प्राण चक्षु को मृत्यु के पार ले गया। मृत्यु बन्धन से विमुक्त हुआ चक्षु आदित्य रूप हो गया। अब वही चक्षु पाप (मृत्यु) बन्धन से मुक्त होकर आदित्य रूप से तपता है—प्रकाशित होता है।

अथ श्रोत्रमत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत ता दिशोऽभवत्स्ता इमा दिशः परेण  
मृत्युमतिक्रान्ताः ॥ १५ ॥

इसके बाद प्राण ने श्रोत्र को मृत्यु से पार किया। मृत्यु से मुक्त होकर श्रोत्र दिशारूप हो गये। इस प्रकार दिशारूप होकर श्रोत्र मृत्यु बन्धन से छूट गये ॥ १५ ॥

अथ मनोऽत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स चन्द्रमा अभवत्सोऽसौ परेण  
मृत्युमतिक्रान्तो भात्येवं ह वा एनमेषा देवता मृत्युमतिवहति य एवं वेद ॥ १६ ॥

तब उस प्राण ने मन को मृत्यु से पार किया। मृत्यु से पार होकर मन चन्द्रमा हो गया। पाप अथवा मृत्यु से मुक्त होकर वह मन ही चन्द्रमा होकर प्रकाशित हो रहा है। इस रहस्यात्मक तथ्य को जानने वाले (तत्त्वज्ञानी) के प्राण उसे मृत्यु से मुक्त कर देता है ॥ १६ ॥

अथात्मनेऽन्नाद्यमागायद्यद्विं किंचान्नमद्यतेऽनेनैव तदद्यत इह प्रतितिष्ठति ॥ १७ ॥

तदुपरान्त प्राण ने अपने निमित्त अन्न का गायन (गुणगान) किया, क्योंकि जो भी अन्न ग्रहण किया जाता है, वह प्राण द्वारा ही भक्षण किया जाता है और अन्न से ही प्राण प्रतिष्ठित होता है ॥ १७ ॥

ते देवा अब्रुवन्नेतावद्वा इदः सर्वं यदन्नं तदात्मन आगासीरनु नोऽस्मिन्नन्न आभजस्वेति  
ते वै माभिसंविशतेति तथेति तः समन्तं परिणयविशन्त तस्माद्यदनेनान्नमत्ति  
तेनैतास्तृप्यन्त्येवं ह वा एनः स्वा अभिसंविशन्ति भर्ता स्वानाः श्रेष्ठः पुरएता भवत्यन्नादो-  
ऽधिपतिर्य एवं वेद य उ हैवंविदः स्वेषु प्रति प्रतिबुभूषति न हैवालं भायेभ्यो भवत्यथ य  
एवैतमनुभवति यो वै तमनु भार्यान् बुभूषति स हैवालं भायेभ्यो भवति ॥ १८ ॥

इसके पश्चात् देवों ने प्राण से कहा कि आपने सम्पूर्ण अन्न का उद्गान अपने निमित्त ही किया है, अतः अपने उपभोग से अवशिष्ट अन्न में हमें भी भागीदार बनाएँ। प्राण ने कहा कि आप लोग अपना भाग ग्रहण करने हेतु चारों ओर से हममें प्रवेश करें। ‘ऐसा ही करेंगे’— यह कहकर वे समस्त (इन्द्रियरूप) देवगण प्राण में प्रवेश कर गये। इस प्रकार प्राण द्वारा अन्न (भोज्य-पदार्थ) ग्रहण किये जाने पर इन्द्रियरूप देवता भी तुसि अनुभव करते हैं। इस प्रकार से जानने वाले का ज्ञानीजन आश्रय ग्रहण करते हैं। वह स्वजनों का पोषक, उनमें श्रेष्ठ और अग्रगामी होता है। ज्ञानीजनों में से भी; जो इस प्रकार के ज्ञाता के विपरीत होना चाहते हैं, वे अपने आश्रित जनों का भरण-पोषण नहीं कर पाते और जो उनके अनुकूल होते हैं, वे अपने स्वजनों-आश्रितों ना भरण-पोषण करने में सक्षम होते हैं ॥ १८ ॥

सोऽयास्य आङ्गिरसोऽन्नानाः हि रसः प्राणो वा अङ्गानाः रसः प्राणो हि वा अङ्गानाः  
रसस्तस्माद्यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्माण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यत्येष हि वा अङ्गानाः रसः ॥

उस प्राण तत्त्व को अयास्य तथा आङ्गिरस कहा गया है, क्योंकि वह मुख में स्थित अङ्गों का (रस) सार होता है। निश्चित ही प्राण अङ्गों का रस है, क्योंकि जब शरीर के किसी भी अङ्ग से प्राण निकल जाता है, तो वह अङ्ग सूख जाता है ॥ १९ ॥

एष उ एव बृहस्पतिर्वाग् वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः ॥ २० ॥

प्राण को ही बृहस्पति कहा गया है, क्योंकि वाणी बृहती है और उसके पति बृहस्पति हैं ॥ २० ॥

एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग् वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मादु ब्रह्मणस्पतिः ॥ २१ ॥

यह ही ब्रह्मणस्पति है। वाणी ही ब्रह्म है और प्राण वाणी का स्वामी है, इसलिए यह प्राण ही ब्रह्मणस्पति है ॥

एष उ एव साम वाग् वै सामैष सा चामश्चेति तत्साम्नः सामत्वं यद्वेव समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण तस्माद्वेव सामाशनुते साम्नः सायुज्यं सलोकतां जयति य एवमेतत्साम वेद ॥ २२ ॥

यही (प्राण) साम है। यह वाक् ही 'सा' और यह प्राण ही 'अम' है। 'सा' और 'अम' के संयोग से ही 'साम' बनता है। साम का सामत्व भी यही है, क्योंकि यह (प्राण) मक्खी जैसा है, मच्छर जैसा है, हाथी जैसा है और तीनों लोकों के तुल्य है। इसी कारण वह साम है। जो इस प्रकार साम के विषय में जानता है, वह साम के सायुज्यत्व और सलोक्यत्व को प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

एष उ वा उद्गीथः प्राणो वा उत्प्राणेन हीदं सर्वमुत्तब्धं वागेव गीथोच्चगीथा चेति स उद्गीथः ॥ २३ ॥

इसी प्राण को उद्गीथ कहते हैं। प्राण के द्वारा ही सब कुछ धारण किया हुआ होने से इसे 'उत्' कहा गया है। वाक् अर्थात् वाणी ही गीथा (गीत) है, प्राण ही उत् है और गीथा भी, इसीलिए इसे 'उद्गीथ' कहते हैं ॥ २३ ॥

तद्वापि ब्रह्मदत्तश्चैकितानेयो राजानं भक्षयन्नुवाचायं त्यस्य राजा मूर्धनं विपातयता-  
द्यदितोऽयास्य आङ्गिरसोऽन्येनोदगायदिति वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायदिति ॥ २४ ॥

(प्राण के विषय में) एक प्रसिद्ध आख्यायिका यह भी है कि चैकितानेय ब्रह्मदत्त ने सोमपान करते समय यह कहा कि यदि मैंने मुख में निवास करने वाले अङ्गों के रस को प्राणों से अलग जानकर उद्गान (उद्गीथगान) किया हो, तो सोमदेव मेरा सिर गिरा दें (अर्थात् मेरा अपमान कर दें अथवा मेरा सोमपान व्यर्थ कर दें)। इससे स्पष्ट होता है कि उसने प्राण और वाक् द्वारा ही उद्गान किया था ॥ २४ ॥

[मुख से - वाणी से जो व्यक्त है, वह यदि प्राणों के स्पन्दन से युक्त नहीं तो व्यर्थ है- ढोंग है। केवल रटकर बोले गये शब्दों में अनुभूतिजन्य प्राणों का संचार न होने से वे निस्तेज-निष्प्रभावी होते हैं। प्राण एवं वाक् का संयोग जीवन साधना में अनिवार्य है।]

तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद भवति हास्य स्वं तस्य वै स्वर एव स्वं तस्मादात्विज्यं  
करिष्यन्वाचि स्वरमिष्ठेत तया वाचा स्वरसंपन्नयात्विज्यं कुर्यात्तस्माद्यज्ञे स्वरवत्तं दिदृक्षन्त  
एवाथो यस्य स्वं भवति भवति हास्य स्वं य एवमेतत्साम्नः स्वं वेद ॥ २५ ॥

जो व्यक्ति इस साम के 'स्वर' से यथार्थ रूप से विज्ञ है, वह निश्चित ही धन-ऐश्वर्य से सम्पन्न होता है। स्वर (कण्ठ की मधुरता) ही उसका धन है। अतः ऋत्विक्-कर्म सम्पादित करने वाले को स्वर में माधुर्य का समावेश करना चाहिए। उत्कृष्ट स्वर युक्त वाणी में ऋत्विक्-कर्म सम्पादित करना चाहिए; क्योंकि यज्ञ में मधुर स्वर युक्त उद्गाता का दर्शन करने की सभी इच्छा करते हैं। जो व्यक्ति साम के धन को जानता है, वह उस धन (मधुर स्वर) को अवश्य ही प्राप्त करता है ॥ २५ ॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः सुवर्णं वेद भवति हास्य सुवर्णं तस्य वै स्वर एव सुवर्णं  
भवति हास्य सुवर्णं य एवमेतत्साम्नः सुवर्णं वेद ॥ २६ ॥

जो इस साम के सुवर्ण (मधुर-स्वर या धन) को जानता है, उसे सुवर्ण (मधुर स्वररूपी धन) मिलता है; क्योंकि मधुर स्वर ही साम का सुवर्ण है। जो साम के सुवर्ण को इस प्रकार जानता है, वह निश्चित ही सुवर्ण प्राप्त करता है ॥ २६ ॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठति तस्य वै वागेव प्रतिष्ठा वाचि हि  
खल्वेष एतत्प्राणः प्रतिष्ठितो गीयतेऽन्न इत्यु हैक आहुः ॥ २७ ॥

जो व्यक्ति साम की प्रतिष्ठा के विषय में जानते हैं, वे प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। व्यक्ति की वाणी ही प्रतिष्ठा स्वरूप है (उसी से प्रतिष्ठा मिलती है)। प्राण ही निश्चित रूप से वाणी में प्रतिष्ठित होकर गाया जाता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि वह प्राण अन्न में प्रतिष्ठित होकर (अन्न की शुद्धि के साथ) गाया जाता है ॥ २७ ॥

**अथातः** पवमानानामेवाभ्यारोहः स वै खलु प्रस्तोता साम प्रस्तौति स यत्र  
प्रस्तुयात्तदेतानि जपेदसतो मा सदगमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मामृतं गमयेति स  
यदाहासतो मा सदगमयेति मृत्युर्वा असत्सदमृतं मृत्योर्मामृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह  
तमसो मा ज्योतिर्गमयेति मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतं मृत्योर्मामृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह  
मृत्योर्मामृतं गमयेति नात्र तिरोहितमिवास्ति । अथ यानीतराणि स्तोत्राणि  
तेष्वात्मनेऽन्नाद्यमागायेत्तस्मादु तेषु वरं वृणीत यं कामं कामयेत तःस एष एवंविदुद्गातात्मने  
वा यजमानाय वा यं कामं कामयते तमागायति तद्वैतल्लोकजिदेव न हैवालोक्यताया  
आशास्ति य एवमेतत्साम वेद ॥ २८ ॥

अब आगे पवमान-स्तोत्रों का पाठ करने का विधान वर्णित किया जाता है- प्रस्तोता (प्रस्तोता नामक ऋत्विज) यज्ञकर्म में सामग्रान प्रारम्भ करने से पहले इन मंत्रों का जप करे- ‘असत् मा सदगमय,’  
'तमसो मा ज्योतिर्गमय', 'मृत्योर्माऽमृतं गमय' अर्थात् हमें असत् से सत् की ओर ले चलो, हमें  
अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो, हमें मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलो। प्रस्तोता जब यह कहता है,  
मुझे असत् से सत् की ओर ले चलो, तब उसका अभिप्राय होता है- मृत्यु ही असत् और अमृत ही सत् है  
और मुझे मृत्यु से बचाकर अमर कर दो। जब वह यह कहता है कि मुझे तमस् से प्रकाशोन्मुख करो, तब  
उसका अभिप्राय होता है कि मृत्यु ही अंधेरा और अमृत ही प्रकाश है और मुझे मृत्यु से अमरत्व की ओर  
ले चलो। जब वह (प्रस्तोता) यह कहता है कि मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो, तो इस कथन में  
तो कुछ छुपी बात है ही नहीं अर्थात् कथन स्पष्ट ही है। अन्य स्तोत्रों में उद्गाता को अपने लिए अन्न  
(पोषक तत्त्वों) का उद्गान करना चाहिए। इन स्तोत्रों के द्वारा यजमान इच्छित भोगों की याचना करे। इस  
तथ्य को जानने वाला उद्गाता अपने या यजमान के निमित्त जिस वस्तु या भोग की कामना करता है, उसी  
का उद्गान करता है। यह प्राण दर्शन समस्त लोकों को प्राप्त करने का साधन है। जो ज्ञानी इस साम को इस  
प्रकार से जानता है, उसे कुछ भी प्राप्त करने के लिए निराश होने की आवश्यकता नहीं है ॥ २८ ॥

## ॥ चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत् सोऽहमस्मीत्यग्रे  
व्याहरंततोऽहंनामाभवत्स्मादप्येतहर्यामन्त्रितोऽहमयमित्येवाग्र उक्त्वाथान्यन्नाम प्रब्रूते यदस्य  
भवति स यत्पूर्वोऽस्मात्सर्वस्मात्सर्वान्याप्नन औषत्तस्मात्पुरुष ओषति ह वै स तं  
योऽस्मात्पूर्वो बुभूषति य एवं वेद ॥ १ ॥

पुरुष के रूप में यह आत्मा (पहले एकाकी) ही था। चतुर्दिक् दृष्टिपात करने पर उसने अपने से भिन्न  
कुछ भी नहीं पाया, तब उसने कहा 'अहमस्मि' अर्थात् मैं हूँ। इसीलिए उसे अहम् संज्ञक कहा जाता है।  
इसी कारण अभी भी बुलाए जाने पर कोई व्यक्ति पहले 'अयमहम्' अर्थात् 'यह मैं हूँ' कहने के बाद ही  
अपना अन्य नाम बतलाता है। उस (प्रजापति) ने (समस्त पापों को) दग्ध कर दिया था, इसीलिए वह  
पुरुष कहलाया। जो इस प्रकार इस पुरुष (आत्मा) को जानता है, वह उस (आत्मा) से स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध  
करने का प्रयास करने वाले को भस्मीभूत कर देता है ॥ १ ॥

[ पुर् =प्रथमे, उष=दाहे, प्रथम-पहले ही विकारों-पापों का दाह कर देने वाला होने से 'पुरुष' कहलाता है।  
पुरुष कहलाने वाले में विकारों को दग्ध कर देने का पुरुषोचित पौरुष होना चाहिए। ]

सोऽबिभेत्तस्मादेकाकी बिभेति स हायमीक्षांचक्रे यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीति  
तत एवास्य भयं वीयाय कस्माद्घ्यभेष्यद्वितीयाद्वै भयं भवति ॥ २ ॥

तदुपरान्त वह (पुरुष) भयभीत हो गया। इसी कारण अकेला पुरुष भयभीत होता है, तब उस पुरुष  
ने चिन्तन किया कि जब मेरे अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है, तब मैं किससे और क्यों भय करूँ? यह चिन्तन  
करते ही उसका भय दूर हो गया; क्योंकि भय तो दूसरों से ही होता है, अकेला होने पर तो उसके भय का  
कोई कारण नहीं है ॥ २ ॥

स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् स हैतावानास यथा स्त्रीपुमाः सौ  
संपरिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धबृगलमिव  
स्व इति ह स्माह याज्ञवल्क्यस्तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव ताः समभवत्ततो मनुष्या  
अजायन्त ॥ ३ ॥

(एकाकी होने के कारण) वह रमा नहीं अर्थात् उसका मन नहीं लगा। इसी कारण एकाकी  
पुरुष का मन अभी भी रमता नहीं। तब उसने किसी अन्य की आकांक्षा की। तदुपरान्त स्त्री और  
पुरुष के सम्मिलित होने पर जितना आकार होता है, वह पुरुष उतने ही आकार का बन गया और  
उसने अपने शरीर को स्त्री और पुरुष इन दो भागों में विभक्त कर दिया। जिससे दोनों भाग परस्पर  
पति-पत्नी हुए। ऋषि याज्ञवल्क्य का कथन है कि - इसी कारण यह काया अर्द्धबृगल (द्विदल अन्न  
के एक दल) की भाँति है। अस्तु, यह आकाश (पुरुष का रिक्त भाग) स्त्रीत्व से पूर्ण होता है।  
पुरुष और स्त्री के सम्मिलन से ही मनुष्यों की उत्पत्ति हुई है ॥ ३ ॥

[ शिव के अर्धनारी नटेश्वर की धारणा यहाँ स्पष्ट की गई है। प्रथम चरण में पुरुष एवं प्रकृति के प्रकटीकरण की घटना गर्भ से शिशु जन्म की तरह घटित नहीं हुई। दाल या सीप पकने पर उसके दो दल खुल जाने की तरह यह सृष्टि प्रक्रिया सम्पन्न हुई। ब्रह्म से पुरुष और प्रकृति, महादेव से शिव और शक्ति, प्रजापति से ब्रह्मा और सावित्री का प्राकट्य इसी प्रकार हुआ। ]

सो हेयमीक्षांचक्रे कथं नु मात्मान एव जनयित्वा संभवति हन्त तिरोऽसानीति सा  
गौरभवदृष्ट्यभ इतरस्ताः समेवाभवत्ततो गावोऽजायन्त वडवेतराभवदश्ववृष्ट इतरो गर्दभीतरा  
गर्दभ इतरस्ताः समेवाभवत्तत एकशफमजायताजेतराभवद्वस्त इतरोऽविरितरा मेष  
इतरस्ताः समेवाभवत्ततोऽजायन्तैवमेव यदिदं किंच मिथुनमापिपीलि-  
काभ्यस्तत्सर्वमसृजत ॥ ४ ॥

उस स्त्री ने सोचा कि अपने ही शरीर से मुझे प्रकट करके यह पुरुष मुझसे सम्पर्क क्यों करता है ? अच्छा हो मैं इससे बचने के लिए छिप जाऊँ, अस्तु उसने गौ का रूप धारण कर लिया, तब वह पुरुष वृष्ट बन गया, जिससे गौओं और बैलों की उत्पत्ति हुई, तदुपरान्त उसने घोड़ी का शरीर धारण कर लिया, तब पुरुष अश्व हो गया, फिर वह गर्दभी बन गई और पुरुष गर्दभ बन गया, इससे एक खुर वाले पशुओं का प्रादुर्भाव हुआ। तत्पश्चात् वह बकरी बन गई और पुरुष बकरा बन गया, जब वह भेड़ी बन गई, तो वह भेड़ा बन गया, इस प्रकार बकरियों और भेड़ों की उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार चींटी तक सभी जोड़े सहित मिथुनों की रचना सम्पन्न हुई ॥ ४ ॥

[ ऋषि यहाँ बहुत स्पष्टता से यह तथ्य प्रकट करते हैं कि विकासवाद के अनुसार अमीबा से धीरे-धीरे विभिन्न प्रजाति के प्राणियों के विकास की कल्पना उचित नहीं है। प्रथम- चरण में आवश्यकतानुसार जिस-जिस रूप में प्रकृति अपने संकल्प से ढलती गयी, उसी अनुरूप उसका पूरक पुरुष पक्ष भी संकल्प शक्ति से ही बना, उसके बाद मैथुनी सृष्टि का क्रम प्रारम्भ हुआ। ]

सोऽवेदहं वाव सृष्टिरस्यहःहीदःसर्वमसृक्षीति ततः सृष्टिरभवत्सृष्ट्याः हास्यैतस्यां  
भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥

यह रचना करने के बाद प्रजापति रूप उस पुरुष को ज्ञान हुआ कि मैंने सबकी रचना की है, इसलिए मैं ही सृष्टि हूँ। इस प्रकार वह 'सृष्टि' नाम से युक्त हुआ। सृष्टि को इस प्रकार जानने वाला व्यक्ति उसकी सृष्टि में प्रसिद्धि प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

अथेत्यभ्यमन्थत्प मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां चाग्निमसृजत तस्मादेतदुभयमलो-  
मकमन्तरतोऽलोमका हि योनिरन्तरतस्तद्यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देव-  
मेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वे देवा अथ यत्किंचेदमार्दं तद्रेतसोऽसृजत  
तदु सोम एतावद्वा इदःसर्वमन्त्रं चैवान्नादश्च सोम एवान्नमग्निरन्नादः सैषा  
ब्रह्मणोऽतिसृष्टिर्यच्छ्रेयसो देवानसृजताथ यन्मत्यः सन्नमृतानसृजत तस्मादतिसृ-  
ष्टिरतिसृष्ट्याः हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद ॥ ६ ॥

तदुपरान्त उस पुरुष (प्रजापति) ने मन्थन किया। उसने मुखरूपी योनि (उत्पत्ति स्थल) और दोनों हाथों से मन्थन करके अग्नि को प्रकट किया। हाथ और मुख दोनों में ही अन्दर की ओर लोम नहीं होते और योनि में भी अन्दर लोम नहीं होते। अस्तु, जो (याज्ञिक जन) एक-एक देवता (अग्नि, इन्द्र आदि) के लिए यजन करने को कहते हैं, वे इस तथ्य को नहीं जानते कि सब देवता एक ही परमेश्वर में समाहित हैं और उस एक (परमेश्वर) ने ही सृष्टि की रचना की है। जो भी द्रव पदार्थ है, वह वीर्य से उत्पन्न सोम है। निश्चित ही सोम ही अन्न, अग्नि और अन्नाद का उपभोग करने वाला है। परब्रह्म की यह महान् रचना है। यह ब्रह्मा की महान् सृष्टि (अतिसृष्टि) ही है कि उसने अमरत्व प्राप्त देवताओं का सृजन किया - स्वयं मर्त्य होकर अमृतों का निर्माण किया, इसलिए इसे अतिसृष्टि कहा जाता है। जो इस सृष्टि को इस प्रकार जानता है, वह इस (परब्रह्म) की अतिसृष्टि में (प्रसिद्धि को प्राप्त) हो जाता है ॥ ६ ॥

तद्वेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तत्रामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौनामायमिदःरूप इति तदिदमप्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौनामायमिदःरूप इति स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद्विश्वंभरो वा विश्वंभरकुलाये तं न पश्यन्ति । अकृत्स्नो हि स प्राणत्रेव प्राणो नाम भवति वदन् वाक्पश्यःश्वशुः शृणवन् श्रोत्रं मन्वानो मनस्तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येव स योऽत एकैकमुपास्ते न स वेदाकृत्स्नो होषोऽत एकैकेन भवत्यात्मेत्येवोपासीतात्र होते सर्व एकं भवन्ति तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मानेन होतस्वर्वं वेद । यथा ह वै पदेनानुविन्देदेवं कीर्तिं श्रोकं विन्दते य एवं वेद ॥ ७ ॥

पहले (सृष्टि के आरम्भ में) यह जगत् नाम रहित था। तत्पश्चात् वह नाम और रूप से युक्त होकर प्रकट हुआ। इसीलिए कोई वस्तु अभी भी 'इस नाम और रूप से युक्त है' इस प्रकार जानी जाती है। वह (आत्मा) इस शरीर में नखों के अग्रभाग तक इस प्रकार प्रविष्ट है, जिस प्रकार उस्तरे का फल काष्ठ में प्रविष्ट रहता है और अग्नि अपने आश्रय वेदी अथवा काष्ठ में स्थित रहती है, किन्तु उसे प्रत्यक्ष देख सकना किसी के लिए सम्भव नहीं है। वह आत्मा अपूर्ण है। प्राणन प्रक्रिया (श्वास-प्रश्वास) के कारण उसे प्राण, बोलने के कारण वाणी, देखने के कारण चक्षु, सुनने के कारण श्रोत्र और मनन करने के कारण मन कहते हैं। ये सभी संज्ञाएँ उसे उसके भिन्न-भिन्न कर्मानुसार प्रदान की गई हैं। अस्तु, जो व्यक्ति इनमें से पृथक्-पृथक् की उपासना करता है, वह (इसके वास्तविक स्वरूप को) नहीं जानता, क्योंकि सभी गुण उस एक में ही एकत्र हो जाते हैं। यह आत्मा सबके लिए प्राप्त करने योग्य है; क्योंकि इसे प्राप्त कर लेने अथवा जान लेने से सम्पूर्ण विश्व को जाना जा सकता है। जिस प्रकार पद-चिह्नों द्वारा खोये हुए (पशु आदि) को ढूँढ़ लिया जाता है (उसी प्रकार व्यक्ति आत्मा को जानकर उसके सूत्रों द्वारा सम्पूर्ण संसार को जान लेता है)। इस तथ्य को इस प्रकार जानने वाला कीर्ति लाभ प्राप्त करता है ॥ ७ ॥

**तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो विज्ञात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियः रोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति ॥ ८ ॥**

इस प्रकार यह (आत्मा) पुत्र से भी अधिक प्रिय, सम्पदा से भी अधिक प्रिय और अन्य सभी से भी अधिक प्रिय है। शरीर के अन्दर स्थित आत्मा से भिन्न वस्तु को यदि कोई अधिक प्रिय समझता है, तो वह मानों अपने अन्तरात्मा को ही खो देता है अर्थात् आत्मा को विस्मृत कर देता है। जो साधक आत्म तत्त्व को सर्वाधिक प्रिय मानकर उसकी उपासना करता है, वह कभी मरता नहीं- अमर हो जाता है॥ ८॥

**तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्या सर्वं भविष्यन्ते मनुष्या मन्यन्ते किमु तद्ब्रह्मावेद्यस्मा-  
तत्सर्वमभवदिति ॥ ९ ॥**

जिज्ञासु ब्राह्मणों द्वारा कहा गया है कि ब्रह्मविद्या के माध्यम से 'हम सब कुछ हो जाएँगे' अर्थात् हमें सब कुछ प्राप्त हो जायेगा। इस तथ्य का क्या आधार है? क्या अभी तक किसी ने उस ब्रह्मविद्या को भली-भाँति जान लिया है, जिसके द्वारा उसे सब कुछ प्राप्त हो गया है?॥ ९॥

**ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्तात्तत् सर्वमभवत् तद्यो  
यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्वैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः  
प्रतिपेदेऽहं मनुरभवः सूर्यश्चेति तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स इदःसर्वं  
भवति तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशते आत्मा ह्येषां स भवत्यथ योऽन्यां  
देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवः स देवानां यथा ह वै  
बहवः पश्वो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान् भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं  
भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तत्र प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः ॥ १० ॥**

सर्वप्रथम केवल ब्रह्म ही था। यह जानकर कि 'मैं ब्रह्म हूँ' वह सर्वरूप हो गया। देवताओं में से जिस-जिस ने उस ब्रह्म को जाना, वे सब ब्रह्मरूप हो गये। इसी तरह मानवों और ऋषियों में से भी जिस-जिस ने उसका ज्ञान प्राप्त किया, वे सब भी ब्रह्मस्वरूप हो गये। ऋषि वामदेव ने कहा- इसे (ब्रह्म को) जानकर मैं मनु और सूर्य हो गया। इस समय भी जो यह मानता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' वह सर्वरूप हो जाता है। उसको पराजित करने में देवता भी समर्थ नहीं होते; क्योंकि वह उनका ही आत्मस्वरूप हो जाता है। जो अपने और दूसरे में भेद देखता है, वह पशु के समान हो जाता है। जिस प्रकार विभिन्न पशु मनुष्यों को पोषित करते हैं, उसी प्रकार (देवों के लिए पशु तुल्य) मनुष्य भी अनेक देवताओं को पोषित करते हैं। एक पशु का ही अपहरण हो जाए, तो बुरा लगता है। यदि अनेक पशुओं का अपहरण हो, तब तो और भी बुरा लगेगा। इसी कारण देवगण यह नहीं चाहते कि मनुष्य सम्पूर्ण ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर सकें॥ १०॥

[ऋषि का यह कथन बड़ा रहस्यात्मक है। देवता मनुष्य देह में विभिन्न इन्द्रियों, अंग-अवयवों के अधिष्ठाता बनकर स्थित हैं। आत्म चेतना जब परमात्म तत्त्व की ओर उमुख होती है, तो इन्द्रियों की भोगेच्छाओं से उसका लगाव हटने लगता है तथा उनमें स्थित देवता, जीवात्मा (आत्मचेतना) का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हैं, यही प्रक्रिया उसके ब्रह्मज्ञान में प्रविष्ट होने में बाधक बनती है।]

**ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकः सत्र व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं  
यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति तस्मात्**

**क्षत्रात्परं नास्ति तस्माद्वाह्यणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये क्षत्र एव तद्यशो दधाति सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्भूहा तस्माद्यद्यपि राजा परमतां गच्छति ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति स्वां योनिं य उ एनः हिनस्ति स्वाः स योनिमृच्छति स पापीयान् भवति यथा श्रेयाः सः हिः सित्वा ॥**

सबसे पहले ब्रह्म (ब्राह्मण वर्ण) ही था; किन्तु एकाकी होने के कारण वह अपनी वृद्धि करने में समर्थ न हो सका। अस्तु, उसने क्षत्रिय वर्ण का सृजन किया। देवों में वरुण, इन्द्र, सोम, रुद्र, पर्जन्य, मृत्यु, यम और ईशान ये सभी क्षत्रिय ही हुए, इसीलिए क्षत्रिय सर्वोत्कृष्ट हैं। इसी कारण राजसूय यज्ञों में ब्राह्मण भी क्षत्रिय से नीचे आसीन होकर उसकी (क्षत्रिय की) उपासना (सम्मान) करता है। यह ब्रह्म (ब्राह्मण) क्षत्रिय की ही योनि है। अतः यद्यपि (राजसूय यज्ञ के क्रम में) क्षत्रिय उत्कृष्ट है, तो भी यज्ञ के पश्चात् वह ब्राह्मण का ही आश्रय ग्रहण करता है। जो क्षत्रिय ब्राह्मण को हिंसित करता है, वह अपनी ही योनि को विनष्ट करता है। वह अपने श्रेष्ठ आधार की हिंसा करने वाला व्यक्ति 'पापीयान्' (बड़ा पापी या पाप कर्म का आधार) बन जाता है ॥ ११ ॥

[ प्रारम्भ में सभी ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण जैसा जीवन जीते थे। समाज बढ़ा तो रक्षा करने वालों की आवश्यकता पड़ी। रक्षक वर्ग ( क्षत्रिय ) का विकास उन्हीं ब्रह्मनिष्ठों के बीच से किया गया। रक्षण कार्य के सन्दर्भ में उन्हें ही सर्वश्रेष्ठ माना गया। ]

स नैव व्यभवत् स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो  
रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति ॥ १२ ॥

वह ब्रह्म (ब्राह्मण) क्षत्रिय का सृजन करने के बाद भी अपनी वृद्धि में सक्षम नहीं हुआ, तब उसने वैश्य वर्ण का सृजन किया। वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेवा और मरुत् ये समस्त देवगण वैश्य कहलाते हैं ॥

[ समाज का और विकास हुआ, तो पुनः उभरी आवश्यकताओं के अनुरूप उत्पादन, वितरणपरक वैश्यवर्ण को उसी समाज में से विकसित किया गया। ]

स नैव व्यभवत् स शौद्रं वर्णमसृजत् पूषणमियं वै पूषेयः हीदः सर्वं पुष्टि यदिदं किंच ॥

इसके अनन्तर (अर्थात् क्षत्रिय और वैश्य की रचना के बाद) भी वह ब्रह्म प्रवृद्ध न हो सका, तब उसने शूद्र वर्ण की रचना की । पूषा देवता शूद्र वर्ण के हैं । यह पृथ्वी माता भी पूषा देवता ही है, क्योंकि यह समस्त प्राणियों का पोषण करती है ॥ १३ ॥

स नैव व्यभवत्तच्छ्रोस्तपमत्यसृजत धर्मं तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्वर्पस्तस्मा द्वर्पात्परं नास्त्यथो  
अबलीयान् बलीयां समाशः सते धर्मेण यथा राज्ञैवं यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्स्मात् सत्यं  
वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तः सत्यं वदतीत्येतद्येवैतदुभयं भवति ॥ १४ ॥

इतने (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों का सृजन करने) पर भी वह (ब्रह्म) प्रवृद्ध (सृष्टि कर्म का विस्तार) नहीं हुआ, तब उसने श्रेय स्वरूप धर्म की उत्पत्ति की। धर्म ही क्षत्रियों (शासकों) का भी क्षत्र (शासक-रक्षक है); अस्तु धर्म से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। राजा की तरह बलहीन व्यक्ति भी धर्म की शक्ति से अधिक बल सम्पत्तियों पर नियन्त्रण करने में सक्षम होता है। धर्म ही सत्य है। इसी कारण सत्य वचन

बोलने वालों को धर्मयुक्त वचन बोलने वाला और धर्म वचन बोलने वालों को सत्यवादी कहते हैं, अस्तु, इन दोनों में कोई भेद नहीं है ॥ १४ ॥

**तदेतद्ब्रह्म क्षत्रं विट् शूद्रस्तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवद्ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रस्तस्मादग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते ब्राह्मणे मनुष्येष्वेताभ्याः हि रूपाभ्यां ब्रह्माभवत्। अथ यो ह वा अस्मालोकात्स्वं लोकमद्विष्टा प्रैति स एनमविदितो न भुनक्ति यथा वेदो वाननृकोऽन्यद्वा कर्मकृतं यदिह वा अप्यनेवंविद् महत्पुण्यं कर्म करोति तद्वास्यान्ततः क्षीयत एवात्मानमेव लोकमुपासीत स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते अस्माद्वयेवात्मनो यद्यत्कामयते तत्तत्सृजते ॥ १५ ॥**

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं। इन वर्णों का रचयिता ब्रह्म देवताओं में अग्रि रूप से श्रेष्ठ (ब्राह्मण) हुआ। वह (ब्रह्म) मनुष्यों में ब्राह्मण रूप से ब्राह्मण, क्षत्रिय रूप से क्षत्रिय, वैश्य रूप से वैश्य और शूद्र रूप से शूद्र रूप में प्रकट हुआ। इसी कारण अग्निहोत्रादि धर्मकृत्य करके मनुष्य देवों से कर्मफल की इच्छा करता है, क्योंकि ब्रह्म इन्हीं दो रूपों से अभिव्यक्त हुआ था। स्वलोक अथवा अपने आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, अन्यथा अपने लोक और परलोक का सुधार असम्भव है। ऐसे व्यक्ति का पुण्य भी व्यर्थ ही हो जाता है, जिसने आत्मज्ञान प्राप्त नहीं किया। आत्मा के उपासक के पुण्य कृत्य कभी क्षीण नहीं होते, वरन् उसकी समस्त आकांक्षाएँ पूर्ण होती हैं ॥ १५ ॥

**अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः स यज्ञुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकोऽथ यदनुबूते तेन ऋषीणामथ यत्पितृभ्यो निपृणाति यत्प्रजामिच्छते तेन पितृणामथ यम्नुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणामथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन पशूनां यदस्य गृहेषु श्वापदा वयाः स्यापिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति तेन तेषां लोको यथा ह वै स्वाय लोकायारिष्टिमिच्छेदेवः हैवंविदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टिमिच्छन्ति तद्वा एतद्विदितं मीमांसितम् ॥ १६ ॥**

यह आत्मा समस्त जीवों का आश्रय प्रदाता है, अर्थात् उनका लोक है। यह (आत्मा) हवन-यज्ञ करने से देवताओं का लोक (आश्रयदाता) होता है। स्वाध्याय (वेदों का पठन-पाठन) करने से ऋषियों का, सन्तानोत्पादन (की इच्छा) करने तथा पिण्डदान करने से पितरों का, मनुष्यों को आश्रय स्थल और भोज्य पदार्थ देने से मनुष्यों का, पशुओं को तृण-जल आदि देने से पशुओं का तथा गृह स्थित कुते, बिली, पक्षी एवं चीटी आदि जीवों का आश्रय प्रदाता होता है, उससे यह उनका लोक होता है। जिस प्रकार लोक में (सभी) अपने शरीर की सुरक्षा चाहते हैं, उसी प्रकार ऐसा जानने वाले की सभी जीव सुरक्षा चाहते हैं। इस प्रकार उस कर्म की अनिवार्यता [पञ्च महायज्ञ प्रकरण में] ज्ञात है और इसकी मीमांसा की गई है ॥

**आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेत्येतावान् वै कामो नेच्छःश्वनातो भूयो विन्देत्तस्मादप्येतहौंकाकी कामयते जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति स यावदप्येतेषामेकैकं**

न प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तावन्मन्यते तस्यो कृत्स्नता मन एवास्यात्मा वाग्जाया प्राणः प्रजा चक्षुमनुषं वित्तं चक्षुषा हि तद्विन्दते श्रोत्रं दैवः श्रोत्रेण हि तच्छृणोत्यात्मैवास्य कर्मात्मना हि कर्म करोति स एष पाइक्तो यज्ञः पाइक्तः पशुः पाइक्तः पुरुषः पाइक्तमिदः सर्व यदिदं किंच तदिदः सर्वमाप्नोति य एवं वेद ॥ १७ ॥

सृष्टि के प्रारम्भ में यह आत्मा बिल्कुल अकेला था, उसने स्त्री (पत्नी) की कामना की, फिर प्रजा (सन्तति) प्राप्ति की कामना की। इसके पश्चात् इच्छा की कि मेरे पास धन हो, जिससे मैं कर्म कर सकूँ मानवों की प्रायः इसी स्तर की कामनाएँ होती हैं और वे इससे अधिक प्राप्त भी नहीं कर पाते। इन कामनाओं की पूर्ति के अभाव में वे अपने को अपूर्ण ही मानते रहते हैं। यदि वे चाहें, तो इस अपूर्णता की पूर्ति इस दृष्टिकोण द्वारा कर सकते हैं- अपने मन को आत्मा मानें, वाणी को स्त्री, प्राण को सन्तति, चक्षु को मानवी सम्पदा और श्रोत्रेन्द्रिय को दिव्य सम्पदा मानें। इस प्रकार साधन सम्पन्न पुरुष का शरीर ही कर्म है; क्योंकि शरीर से ही कर्म किया जाता है। इसलिए यह यज्ञ पाइक्त (पाँच-आत्मा, वाणी, प्राण, चक्षु एवं श्रोत्र से सम्पन्न होने वाला) है। समस्त जीवों में ये पाँचों विद्यमान हैं। अतः पशु पाइक्त है, पुरुष पांक्त है तथा अन्य भी जो कुछ है सब पाइक्त है, अर्थात् यह सृष्टि ही पञ्च तत्त्वात्मक यज्ञ स्वरूप है। इस ज्ञान को इस प्रकार जानने वाले को इन सबकी प्राप्ति हो जाती है ॥ १७ ॥

## ॥ पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

यत्सप्तसात्रानि मेधया तपसाजनयत्पिता । एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत् । त्रीण्यात्मनेऽकुरुत पशुभ्य एकं प्रायच्छत्तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदा । यो वैतामक्षितिं वेद सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन स देवानपि यच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति श्लोकाः ॥ १ ॥

परमपिता ने ज्ञान और तप के प्रभाव से सात प्रकार के अन्त्रों का सृजन किया। उन अन्त्रों में एक प्रकार का अन्त्र सभी के लिए, दो का देवताओं के निमित्त, तीन का अपने निमित्त और एक का पशुओं के निमित्त वितरण कर दिया। पशुओं को प्रदान किये गये उस अन्त्र में प्राणन क्रिया करने वाले और न करने वाले (श्वास लेने और न लेने वाले) सभी प्रतिष्ठित हैं। इन अन्त्रों का सदैव भक्षण किया जाता है, फिर भी ये क्षीण नहीं होते, इसका क्या कारण है? इस प्रकार सभी को सभी का अन्त्र भाग देने के अक्षय भाव को जो जानता है, वह अन्त्रोपभोग करते हुए कभी क्षीण नहीं होता अर्थात् अमृतत्व को प्राप्त होता है ॥ १ ॥

यत्सप्तसात्रानि मेधया तपसाजनयत्पितेति मेधया हि तपसाऽजनयत्पितैकमस्य साधारणमितीदमेवास्य तत्साधारणमन्तं यदिदमद्यते स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो व्यावर्तते मिश्रः होतद्वै देवानभाजयदिति हुतं च प्रहुतं च तस्मादेवेभ्यो जुह्वति च प्र च जुह्वत्यथो आहुर्दर्शपूर्णमासाविति । तस्मान्नेष्टियाजुकः स्यात्पशुभ्य एकं प्रायच्छदिति तत्पयः पयो

होवागे मनुष्याश्र पशवशेपजीवन्ति तस्मात् कुमारं जातं घृतं वै वागे प्रतिलेहयन्ति स्तनं वानुधापयन्त्यथ वत्सं जातमाहुरतृणाद इति । तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च नेति पयसि हीदः सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न । तद्यदिदमाहुः संवत्सरं पयसा यत्येवंविद्वान्सर्वं हि देवेभ्योऽन्नाद्यं प्रयच्छति । कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदेति पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं पुनः पुनर्जनयते यो वै -तामक्षितिं वेदेति पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं धिया धिया जनयते । कर्मभिर्यद्वैतन्नं कुर्यात्क्षीयेत ह सोऽन्नमत्ति प्रतीकेनेति मुखं प्रतीकं मुखेनेत्येतत्स देवानपि गच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति प्रशःसा ॥ २ ॥

पिता-प्रजापति ने अपने तप और ज्ञान से जिन सात अन्नों को उत्पन्न किया, उनमें से एक अन्न (धरती से उत्पन्न खाद्य) सामान्य है। उसमें सभी की साझेदारी है, अतः सभी को समान रूप से उसका उपभोग करना चाहिए। सबके लिए निर्धारित इस अन्न का अकेले ही उपभोग करने वाला कभी पाप से विमुक्त नहीं होता। पूर्व वर्णित जिन दो अन्नों को देवताओं के निमित्त बताया गया, उनमें एक हुत अर्थात् (हवन द्वारा दिया जाने वाला) और दूसरा प्रहुत (प्रत्यक्ष में अर्पित किया जाने वाला) है। कुछ विद्वान् इसे दर्श और पूर्णमास भी कहते हैं। (क्योंकि यज्ञ देवों के लिए निर्धारित है, इसलिए) यज्ञों को काम्य (लौकिक कामनाओं की पूर्ति के लिए) न करें। पशुओं के निमित्त दिया गया अन्न, दूध (पय-पान करने योग्य) है। मनुष्य और पशु दोनों ही उस अन्न का सेवन करते हैं। शीघ्र उत्पन्न हुए शिशु को घृत चटाते हैं अथवा स्तनपान कराते हैं। बछड़ा भी जन्म लेने के तुरन्त बाद घास ग्रहण नहीं करता, वरन् दुग्ध पान ही करता है। श्वास लेने और न लेने वाले सभी जीव दूध में ही प्रतिष्ठित हैं। अस्तु, जिनका यह कथन है कि एक वर्ष तक (दूध से) निरन्तर अग्निहोत्र करने वाला मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है (उनका यह कथन समीचीन नहीं); वरन् यह मानना चाहिए कि जिस दिन वह यज्ञ सम्पन्न करता है, उसी दिन मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। ऐसा जानने वाला देवताओं को उनके सेवन योग्य अन्न प्रदान करता है। बारम्बार भक्षित होने पर भी वह अन्न क्षीण क्यों नहीं होता? वह इसलिए क्षीण नहीं होता; क्योंकि वह पुरुष क्षयरहित है और पुनः-पुनः अन्नोत्पादन करने में समर्थ है। वह अविनाशी पुरुष कर्म और बुद्धि के संयोग से अन्नोत्पादन करता है। यदि वह पुरुष कर्म और बुद्धि से हीन हो जाए, तो अन्न और अन्नोत्पादन भी समाप्तप्राय हो जाए। उस अन्न का सेवन मुख के माध्यम से किया जाता है, इसी कारण देवताओं को भी वह प्राप्त हो जाता है और अमृतत्व प्रदायक होता है। यह इसकी (फलश्रुति) प्रशंसा है ॥ २ ॥

[‘श्वास लेने वाले और न लेने वाले सभी ‘पय’ पर निर्भर हैं’, इस कथन में ‘पय’ का अर्थ स्थूल दूध नहीं लिया जा सकता, यहाँ तो ‘पयः पृथिव्यां पयऽओषधीयु पयो दिव्यनरिक्षे पयोधाः’ - आदि कहकर जिस कारण रूप पान करने योग्य पोषक प्रवाह की ओर संकेत किया जाता है, उसे ही ‘पय’ मानना चाहिए। इसी प्रकार प्रकृति के पाश में बँधे हुए चेतन को ही पश मानना चाहिए।]

त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुतान्यत्रमना अभूवं

नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति । कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्हीर्थीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टे मनसा विजानाति यः कश्च शब्दो वागेव सैषा हृन्तमायत्तैषा हि न प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽन इत्येतत्सर्वं प्राण एवैतन्मयो वा अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः ॥ ३ ॥

उस (पुरुष) ने तीन अन्नों का चयन अपने लिए किया। ये तीन अन्न-मन, वाणी और प्राण हैं। मनोयोग से ही सभी कार्य सम्पन्न होते हैं। यदि मन अन्यत्र है, तो समुचित रूप से देखा-सुना भी नहीं जाता। इसीलिए प्रायः कहा जाता है- ‘मेरा मन दूसरी जगह था, इसलिए मैं नहीं देख सका’ तथा ‘मेरा मन यहाँ नहीं था, इसलिए मैं नहीं सुन सका।’ अतः स्पष्ट है कि व्यक्ति मन से ही देखता और सुनता है। काम, सङ्कल्प, श्रद्धा, संशय, अश्रद्धा, धारण शक्ति (धृति), अधृति, ही अर्थात् लज्जा, बुद्धि और भय ये सभी मन स्वरूप हैं। इसी कारण शरीर के पृष्ठभाग (पीठ) की ओर से स्पर्श किये जाने पर मनुष्य मन द्वारा इसे जान लेता है। समस्त शब्द ही वाक् शक्ति अर्थात् वाणी हैं, जिसके द्वारा समस्त अभिप्राय अभिव्यक्त किये जा सकते हैं। शरीर स्थित पञ्चप्राण हैं- प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान। आत्मा की निर्भरता (शरीर में रहने की स्थिति) इन्हीं पञ्च प्राणों पर आधृत है ॥ ३ ॥

[ जिस प्रकार हुत एवं प्रहृत से शरीर और प्रकृति में स्थित देवों को तृप्त और पृष्ठ किया जाता है, उसी प्रकार मन, वाणी और प्राण से ब्रह्म को शरीरस्थ और प्रकृति में व्याप्त ब्राह्मी चेतना को तुष्ट-पृष्ठ किया जा सकता है। इन तीनों का प्रयोग ब्रह्म के निमित्त ही करना चाहिए- भोगादि के लिए नहीं। जो ऐसा करता है, वही ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण या ब्रह्मचारी कहा जा सकता है। ]

**त्रयो लोका एत एव वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः ॥ ४ ॥**

पूर्व वर्णित मन, वाणी और प्राण ये ही तीनों लोक हैं। वाक् पृथिवी लोक है (इसीलिए पृथ्वी पर वाणी द्वारा ही समस्त कार्य सम्पादित होते हैं)। मन अन्तरिक्ष लोक है और प्राण द्यु (स्वर्ग) लोक है ॥ ४ ॥

**त्रयो वेदा एत एव वागेवग्वेदो मनो यजुर्वेदः प्राणः सामवेदः ॥ ५ ॥**

ये (वाणी, मन और प्राण) ही तीनों वेद हैं। वाक् शक्ति ऋग्वेद, मन यजुर्वेद और प्राण ही सामवेद है ॥

**देवाः पितरो मनुष्या एत एव वागेव देवा मनः पितरः प्राणो मनुष्याः ॥ ६ ॥**

ये तीनों ही देवता, पितरगण और मनुष्य हैं। वाक् शक्ति ही देवता, मन पितरगण और प्राण मनुष्य है ॥ ६ ॥

**पिता माता प्रजैत एव मन एव पिता वाङ्माता प्राणः प्रजा ॥ ७ ॥**

ये तीनों माता, पिता और प्रजा (सन्तान) हैं। वाक् माता, मन पिता और प्राण प्रजा-सन्तति रूप है ॥

**विज्ञातं विजिज्ञास्यमविज्ञातमेत एव यत् किंच विज्ञातं वाचस्तद्रूपं वाग्य विज्ञाता वागेन तद्भूत्वावति ॥ ८ ॥**

ये ही विज्ञात (जाने हुए), विजिज्ञास्य (जानने योग्य) और अविज्ञात (न जाने हुए) हैं। जाना हुआ (ज्ञान) ही वाक् है। वाक् शक्ति ही विज्ञात है। यह वाक् ही ज्ञानस्वरूप होकर अपने जीवात्मा (अपने ज्ञाता) की रक्षा करती है ॥ ८ ॥

यत्किञ्च विजिज्ञास्य मनसस्तदरूपं मनो हि विजिज्ञास्यं मन एनं तदभूत्वावति ॥  
जो कुछ भी जानने योग्य है, वह मन का ही स्वरूप है। वास्तव में मन ही जानने योग्य या विजिज्ञास्य है (क्योंकि सन्देह आदि भाव मन में ही उत्पन्न होते हैं)। वही (मन ही) विजिज्ञास्य होकर उसका संरक्षण करता है ॥ ९ ॥

यत्किञ्चाविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञातः प्राण एनं तदभूत्वावति ॥ १० ॥

जो कुछ भी अनजाना (अविज्ञात) है, वह प्राणस्वरूप है; क्योंकि वह अविज्ञात (छुपा) रहकर भी शरीर का संरक्षण करता है ॥ १० ॥

तस्यै वाचः पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमयमग्निस्तद्यावत्येव वाक्तावती पृथिवी तावानयमग्निः ॥ ११ ॥

उस वाक् शक्ति का शरीर, पृथिवी और ज्योतिष्मान् रूप अग्नि है। वाक् शक्ति की मात्रा जितनी ही पृथिवी है और उतना ही अग्नितत्त्व है ॥ ११ ॥

अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरं ज्योतीरूपमसावादित्यस्तद्यावदेव मनस्तावती द्यौस्तावानसावादित्यस्तौ मिथुनः समैतां ततः प्राणोऽजायत स इन्द्रः स एषोऽसपलो द्वितीयो वै सपलो नास्य सपलो भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥

द्युलोक मन की काया और आदित्य उसका (मन का) ज्योतिष्मान् स्वरूप है। जितने परिमाण का मन है, उतना ही द्युलोक और उतना ही आदित्य है। उन (आदित्य और अग्नि) के परस्पर संयोग से ही प्राण तत्त्व का उद्भव हुआ। प्राण को ही इन्द्र और शत्रुहीन कहा गया है। प्रतिपक्षी को ही सपल अर्थात् शत्रु कहते हैं। इस तथ्य को इस प्रकार जानने वाले का कोई सपल (शत्रु) नहीं होता ॥ १२ ॥

अथैतस्य प्राणस्यापः शरीरं ज्योतीरूपमसौ चन्द्रस्तद्यावानेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्रस्त एते सर्वे एव समाः सर्वेऽनन्ताः स यो हैताननन्तवत उपास्तेऽनन्तवन्तः स लोकं जयत्यथ यो हैताननन्तानुपास्तेऽनन्तः स लोकं जयति ॥ १३ ॥

जल उस प्राण का शरीर, चन्द्रमा ज्योतिष्मान् स्वरूप है। वहाँ प्राण के परिमाण जितना ही जल और चन्द्रमा है। ये सभी बराबर और अन्तरहित हैं। जो कोई इन्हें अन्तर्युक्त समझकर उनकी उपासना करता है, उसे अन्तर्युक्त लोक पर विजय प्राप्त होती है और जो अनन्त समझकर इनकी उपासना करता है, वह अनन्त लोक पर विजय प्राप्त करता है ॥ १३ ॥

स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलस्तस्य रात्रय एव पञ्चदशकला ध्रुवैवास्य षोडशी कला स रात्रिभिरेवा च पूर्यते ऽप च क्षीयते सोऽमावास्याः रात्रिमेतया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राणभृदनुप्रविश्य ततः प्रातर्जायते तस्मादेताः रात्रिं प्राणभृतः प्राणं न विच्छिन्न्यादपि कृकलासस्यैतस्या एव देवताया अपचित्यै ॥ १४ ॥

वह (ऊपर वर्णित) संवत्सर ही प्रजापति है। जिसकी सोलह कलाएँ हैं। रात्रियाँ उनकी पन्द्रह कलाएँ हैं। उसकी सोलहवीं कला नित्या (ध्रुवा) है। रात्रियों के माध्यम से ही वह (शुक्ल पक्ष में) प्रवृद्ध

और (कृष्ण पक्ष में) क्षीण होता है। वह प्रजापति अमावस्या की रत्नि में अपनी सोलहवीं कला के माध्यम से सबमें प्रविष्ट होकर प्रातः काल में पुनः प्रकट होता है। अस्तु, अमावस्या की रत्नि में किसी की हिंसा नहीं करनी चाहिए और देवता को बलि प्रदान करने के निमित्त भी किसी गिरगित तक का वध नहीं करना चाहिए ॥ १४ ॥

**यो वै संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलोऽयमेव स योऽयमेवंवित्पुरुषस्तस्य वित्तमेव पञ्चदशकला आत्मैवास्य षोडशी कला स वित्तेनैवा च पूर्यतेऽप च क्षीयते तदेतत्त्रभ्यं यदयमात्मा प्रधिर्वित्तं तस्माद्यद्यपि सर्वज्ञानिं जीर्यते आत्मना चेज्जीवति प्रधिनागादित्येवाहुः ॥ १५ ॥**

षोडश कलायुक्त यह संवत्सर निश्चित ही प्रजापति है। धन उसकी पन्द्रह कलाएँ और आत्मा (शरीर) उसकी सोलहवीं कला है। वह धन से ही प्रवृद्ध और क्षीण होता है। आत्मा इसकी नाभि और धन-सम्पदा प्रधि अर्थात् रथ के पहिए का बाहरी धेरा है। इसीलिए पुरुष का यदि सर्वस्व (सम्पूर्ण धन) हरण हो जाए और आत्मा (आत्मबल) बना रहे, तो यह कहा जाता है कि केवल प्रधि बाहर से ही क्षीण हुआ है (अर्थात् सम्पूर्ण धन के नष्ट होने पर भी व्यक्ति तब तक नष्ट नहीं होता, जब तक उसका जीवन है) ॥ १५ ॥

**अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृलोको विद्या देवलोको देवलोको वै लोकानाः श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशःसन्ति ॥ १६ ॥**

निश्चित ही ये तीन लोक हैं— मनुष्य लोक, पितृलोक और देवलोक। मनुष्य लोक पुत्र के द्वारा जीता जा सकता है, अन्य किसी के द्वारा नहीं। पितृलोक कर्म से और देवलोक विद्या द्वारा जीता जा सकता है। समस्त लोकों में देवलोक ही उत्कृष्ट है, इसी कारण विद्या को भी सर्वश्रेष्ठ कहकर उसकी प्रशंसा की जाती है ॥ १६ ॥

**अथातः संप्रत्तिर्यदा प्रैष्यमन्यतेऽथ पुत्रमाह त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोक इति स पुत्रः प्रत्याहाहं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं लोक इति यद्वै किंचानूक्तं तस्य सर्वस्य ब्रह्मेत्येकता । ये वै के च यज्ञास्तेषाः सर्वेषां यज्ञ इत्येकता ये वै के च लोकास्तेषाः सर्वेषां लोक इत्येकतैतावद्वा इदः सर्वमेतन्मा सर्वः सन्नयमितोऽभुनजदिति तस्मात् पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुस्तस्मा-देनमनुशासन्ति स यदैवंविदस्माल्लोकात्पैत्यथैभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति स यद्यनेन किंचिदक्षणयाकृतं भवति तस्मादेनः सर्वस्मात्पुत्रो मुञ्चति तस्मात्पुत्रो नाम स पुत्रेणैवास्मिन्लोके प्रतितिष्ठत्यथैनमेते देवाः प्राणा अमृता आविशन्ति ॥ १७ ॥**

अब ‘सम्प्रति’ (इस नाम से जानी जाने वाली प्रक्रिया) कहते हैं। जब पिता दुनिया से गमन करने की स्थिति में होता है अथवा स्वयं को पुत्र का मार्गदर्शक समझता है, तो वह पुत्र से कहता है—तुम ब्रह्म हो, यज्ञ हो, लोक हो। इसका प्रत्युत्तर देते हुए पुत्र कहता है— मैं ब्रह्म हूँ, यज्ञ हूँ, लोक हूँ। [इस संवाद का भाव यह है कि पिता अपने पुत्र को ब्रह्मज्ञानी, यज्ञ परायण और लोक में कीर्तिवान् बनने का शिक्षण देता है और पुत्र उसे ग्रहण करता है।] इस विश्व में जो कुछ भी अनूक्त (स्वाध्याय या ज्ञान) है, वह सब ‘ब्रह्म’ से एकीकृत है, जो कुछ भी ‘यज्ञ’ है (किए हुए अथवा बिना किये हुए) वे सब ‘यज्ञ’ शब्द से एकीकृत हैं।

हैं और जो भी लोक हैं (जीते हुए अथवा बिना जीते हुए) वे 'लोक' शब्द से एकीकृत हैं। यही गृहस्थ का कर्तव्य है। पिता की इच्छा होती है कि पुत्र उसकी आज्ञा का पालन अवश्य करेगा। इसीलिए शिक्षित पुत्र अनुशासन का पालन करते हुए लोक में पुण्य कृत्य करता है, अतः उसे 'लोक्य' कहते हैं। इस प्रकार ज्ञान रखने वाला पिता जब इस मर्त्य लोक से गमन करता है, तो प्राणों (अंश) के माध्यम से पुत्र में प्रतिष्ठित होता है (अर्थात् अपनी सम्पूर्ण जिम्मेदारी पुत्र को सौंपता है)। यदि किसी कारण (या प्रमादवश) पिता के द्वारा कोई करणीय कार्य शेष रह जाता है, तो पुत्र उसे पूर्ण कर देता है। इस प्रकार इह लोक में पिता को अपने पुत्र के माध्यम से ही प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। पिता के साथ उसके अमृत प्राण ही गमन करते हैं ॥ १७ ॥

**पृथिव्यै चैनमग्रेश्च दैवी वागाविशति सा वै दैवी वाग्यया यद्यदेव वदति तत्तद्भवति ॥**

मनुष्य की वाक् शक्ति पृथिवी और अग्नि से युक्त होती है। वह दिव्य वाणी कहलाती है; क्योंकि उस वाक् (वाणी) के माध्यम से वह (पिता) जो भी कहता है, वह पूर्ण होता जाता है ॥ १८ ॥

**दिवश्चैनमादित्याच्च दैवं मन आविशति तद्वै दैवं मनो येनानन्देव भवत्यथो न शोचति ॥**

द्युलोक और आदित्य के द्वारा इसमें दिव्य मन आवेशित हो जाता है। दिव्य मन से युक्त होने के कारण यह सदैव आनन्दमग्न रहता है, कभी भी शोकग्रस्त नहीं होता ॥ १९ ॥

**अद्यश्चैनं चन्द्रमसश्च दैवः प्राण आविशति स वै दैवः प्राणो यः संचरः श्वासंचरः श्व  
न व्यथतेऽथो न रिष्यति स एवंवित्सर्वेषां भूतानामात्मा भवति यथैषा देवतैवः स यथैतां  
देवताः सर्वाणि भूतान्यवन्त्येवः हैवंविदः सर्वाणि भूतान्यवन्ति यदु किंचेमाः प्रजाः  
शोचन्त्यमैवासां तद्वति पुण्यमेवामुं गच्छति न ह वै देवान् पापं गच्छति ॥ २० ॥**

जल और चन्द्रमा के माध्यम से यह प्राण तत्त्व इस तत्त्वदर्षा में आवेशित होता है। यह दिव्य प्राण ही है, जो सञ्चरित होते हुए और न होते हुए भी कभी व्यथित नहीं होता और न ही कभी विनष्ट होता है। इस तत्त्व को इस प्रकार जानने वाला सब प्राणियों में स्थित आत्मा प्राण देवता के समतुल्य हो जाता है। समस्त प्राणी जैसे प्राण देवता को पोषित करते हैं, ठीक उसी तरह तत्त्वदर्शी को पोषित करते हैं। लौकिक दुःखों में लिप्स रहकर ये सांसारिक प्राणी शोक ग्रस्त हो जाते हैं, किन्तु तत्त्व को जानने वाले पुरुष (दुःखों में भी) कभी शोक नहीं करते और देवत्व प्राप्त कर लेने के कारण पाप भी कभी उनके समीप नहीं आता ॥ २० ॥

**अथातो व्रतमीमाः सा प्रजापतिर्ह कर्माणि ससृजे तानि सृष्टान्यन्योन्येनास्पर्धन्त वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दधे द्रक्ष्याम्यहमिति चक्षुः श्रोष्याम्यहमिति श्रोत्रमेवमन्यानि कर्माणि यथाकर्म तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे तान्याप्नोत्तान्याप्त्वा मृत्युरवारुन्थ तस्माच्छाम्यत्येव वाक् श्राम्यति चक्षुः श्राम्यति श्रोत्रमथेममेव नाप्नोद्योऽयं मध्यमः प्राणस्तानि ज्ञातुं दधिर अयं वै नः श्रेष्ठो यः संचरः श्वासंचरः श्व न व्यथतेऽथो न रिष्यति हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वे रूपमभवः स्तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणा इति तेन ह वाव तत्कुलमाचक्षते यस्मिन्कुले भवति य एवं वेद य उ हैवंविदा स्पर्धतेऽनुशुष्यत्यनुशुष्य हैवान्ततो म्रियत इत्यध्यात्मम् ॥ २१ ॥**

अब व्रत (कर्तव्य) के विषय में वर्णन किया जाता है। प्रजापति ने कर्मों (कर्म की साधनभूत इन्द्रियों) की रचना की। सृजित होने के बाद वे इन्द्रियाँ परस्पर स्पर्धा करने लगीं। वाक् शक्ति ने कहा (व्रत लिया) कि मैं बोलती ही रहूँगी, चक्षु ने कहा मैं देखता ही रहूँगा और श्रोत्र ने कहा मैं सुनता ही रहूँगा। इसी प्रकार अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार समस्त इन्द्रियों ने व्रत धारण किया, तब मृत्यु देवता ने श्रम करके उनमें व्यास होकर समस्त इन्द्रियों की कार्यप्रणाली में अपराध उत्पन्न कर दिया, उनकी कार्य क्षमता समाप्त कर दी। इसीलिए मृत्यु के समय वाणी, नेत्र और श्रोत्र सभी निष्क्रिय हो जाते हैं; परन्तु प्राण मृत्यु को प्राप्त नहीं होता है। सभी इन्द्रियों ने यह जानकर प्राणतत्त्व की श्रेष्ठता को अंगीकार कर लिया, क्योंकि वह संचरित होता और न होता हुआ न कभी व्यथित होता है और न ही कभी समाप्त होता है। अस्तु, समस्त इन्द्रियाँ भी प्राणमय हो गईं। इसी कारण वे प्राण कहकर ही पुकारी जाती हैं। इस तत्त्व को जो जानता है, उसका वंश भी उसी के नाम से चलने लगता है। उस विद्वान् के प्रतिस्पर्धी शुष्कता को प्राप्त करते हुए विनष्ट हो जाते हैं, इसे अध्यात्म प्राण दर्शन कहते हैं ॥ २१ ॥

**अथाधिदैवतं ज्वलिष्याम्येवाहमित्यग्निर्दधे तप्त्याप्यहमित्यादित्यो भास्याम्यहमिति  
चन्द्रमा एवमन्या देवता यथादैवतः स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासां देवतानां  
वायुम्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः सैषानस्तमिता देवता यद्वायुः ॥ २२ ॥**

अब अधिदैव दर्शन विवेचित किया जाता है- अग्नि ने व्रत लिया कि मैं निरन्तर जलता ही रहूँगा। सूर्य ने निश्चय किया कि मैं तपता ही रहूँगा और चन्द्रमा ने निश्चय किया कि मैं प्रकाशित ही होऊँगा। इसी प्रकार अन्य समस्त देवों ने भी अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार निश्चय किये। जिस प्रकार इन्द्रियों के बीच में प्राण स्थित है, ठीक उसी प्रकार (अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि) देवताओं में भी वायु तत्त्व प्रतिष्ठित है; क्योंकि अन्य देवता तो अस्त को प्राप्त हो जाते हैं, किन्तु वायुदेव कभी अस्त नहीं होते ॥ २२ ॥

**अथैष श्रोको भवति यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छतीति प्राणाद्वा एष उदेति  
प्राणोऽस्तमेति तं देवाश्चक्रिरे धर्मः स एवाद्य स उ श्च इति यद्वा एतेऽमुर्हृद्धियन्त तदेवाप्यद्य  
कुर्वन्ति । तस्मादेकमेव व्रतं चरेत्प्राण्याच्चैवापान्याच्च नेम्मा पाप्मा मृत्युरापूर्वदिति यद्यु  
चरेत्समापिपयिषेत्तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यः सलोकतां जयति ॥ २३ ॥**

इसी विषय को प्रतिपादित करने वाला यह श्रोक है- यह आदित्य जहाँ से उदित होता है, वहीं अस्त हो जाता है अर्थात् यह सूर्य निश्चित ही प्राण से उदित होता है और प्राण में ही अस्त हो जाता है। इस धर्म को देवों ने भी धारण किया। वह व्रत (धर्म) आज विद्यमान है और कल (भविष्य में भी) रहेगा। देवों ने जिस व्रत को उस समय धारण किया था, उसे अब भी करते हैं- अस्तु, सभी को एक ही व्रत का आचरण करना चाहिए। रेचक और पूरक क्रिया करके प्राणायाम करे, ताकि कहीं पापरूपी मृत्यु हमारा स्पर्श न कर ले (हमें जीत न ले)। यदि किसी व्रत को धारण करे, तो उसके समाप्ति की भी इच्छा करे अर्थात् उसका विधिवत् समाप्त भी करे- पूर्ण भी करे। ऐसा करने से वह इस (प्राण और वायु) देवता के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त करता है ॥ २३ ॥

## ॥ षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

त्रयं वा इदं नामरूपं कर्म तेषां नामाणां वागित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्त्येतदेषाः सामैतद्विद्धि सर्वैर्नामभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्विद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति ॥ १ ॥

इस संसार में जो कुछ भी है, वह नाम, रूप और कर्म इन तीनों का ही समुदाय है। इन नामों का उक्थ (उपादान) 'वाणी' है; क्योंकि समस्त नामों की उत्पत्ति इस वाणी से ही होती है। यह वाणी ही इन नामों का साम है, क्योंकि यही समस्त नामों के समतुल्य है। नामों का ब्रह्म भी यह (वाणी) है; क्योंकि समस्त नामों को वाणी ही धारण करती है ॥ १ ॥

अथ रूपाणां चक्षुरित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि रूपाण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषाः सामैतद्विद्धि सर्वैः रूपैः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्विद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति ॥ २ ॥

समस्त रूपों का उक्थ (उपादान) चक्षु है, क्योंकि समस्त सूर्य इस चक्षु से ही उत्पन्न होते हैं। समस्त रूपों के साथ यह समान भाव रखता है, इसलिए यह चक्षु समस्त रूपों का साम है। समस्त रूपों को धारण करने से यह (चक्षु) ही इन रूपों का ब्रह्म है ॥ २ ॥

अथ कर्मणामात्मेत्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि कर्माण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषाः सामैतद्विद्धि सर्वैः कर्मभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्विद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति तदेतत्त्रयः सदेकमयमात्मात्मो एकः सन्नेतत्त्रयं तदेतदमृतः सत्येन छन्नं प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः ॥ ३ ॥

समस्त कर्मों का उक्थ (उपादान कारण) यह आत्मा (शरीरस्थ जीवात्मा) है, क्योंकि समस्त कर्म शरीर से ही उत्पन्न होते हैं, यह समस्त कर्मों का साम है, क्योंकि यह सब कर्मों का धारणकर्ता होने से यह (आत्मा या शरीर) सब कर्मों का ब्रह्म है। आत्मा के द्वारा ही नाम, रूप और कर्म ये तीनों उत्पन्न हुए हैं। अतः ये तीन (पृथक्) होते हुए भी एक आत्मा ही है और यह आत्मा एक होते हुए भी तीन (में विभक्त) है। यह आत्मा सत्य से आच्छादित और अमृत है। प्राण ही अमृत स्वरूप है। नाम और रूप ही सत्य है। इन दोनों (अमृत और सत्य) से ही यह प्राण आच्छन्न है ॥ ३ ॥



## ॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

### ॥ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

दृष्टबालाकिर्हनूचानो गार्य आस स होवाचाजातशत्रुं काश्यं ब्रह्म ते ब्रवाणीति स होवाचाजातशत्रुः सहस्रमेतस्यां वाचि दद्यो जनको जनक इति वै जना धावन्तीति ॥ १ ॥

(कभी) गर्ग गोत्रीय बालाकि नामक वेद प्रवक्ता ने काशी नरेश अजातशत्रु से अहंकार पूर्ण वाणी में कहा कि मैं आपको ब्रह्मज्ञान का उपदेश करूँगा, तब काशी नरेश अजातशत्रु ने कहा- इसके निमित्त मैं आपको एक सहस्र गौएँ प्रदान करता हूँ; क्योंकि प्रजाजन (ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हेतु) 'जनक' 'जनक' कहकर उन्हीं की ओर दौड़ते रहते हैं (अर्थात् सभी प्रजाजन यही कहते हैं कि जनक बहुत बड़े दाता हैं और बहुत बड़े श्रोता भी। मुझे ब्रह्मज्ञान देने का वचन देते ही आपने मेरे लिए दोनों बातें सुगम कर दीं। इसलिए मैं आपको एक हजार गौएँ प्रदान करता हूँ।) ॥ १ ॥

स होवाच गार्यो य एवासावादित्ये पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजा भवति ॥ २ ॥

तब गर्गवंशी उन बालाकि ने कहा कि मैं आदित्य स्थित पुरुष की ब्रह्मरूप में उपासना करता हूँ। यह सुनकर अजातशत्रु ने कहा-आप ऐसा न बोलें, जो समस्त प्राणियों के मूर्धा स्वरूप हैं, दीसिमान् हैं एवं सबका अतिक्रमण करके स्थित हैं, उन ब्रह्म की मैं उपासना करता हूँ। ऐसा जानते हुए जो उस ब्रह्म की उपासना करता है, वह समस्त भूतों में उनकी मूर्धा (मस्तक) स्वरूप स्थित होता हुआ सबका राजा होता है ॥ २ ॥

स होवाच गार्यो य एवासौ चन्द्रे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा बृहत्पाण्डरवासाः सोमो राजेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽहरहर्ह सुतः प्रसुतो भवति नास्यान्नं क्षीयते ॥ ३ ॥

इसके पश्चात् उन गार्य बालाकि ने कहा कि चन्द्रमा में स्थित पुरुष की मैं ब्रह्म मानकर उपासना करता हूँ। (यह सुनकर) राजा अजातशत्रु बोले- आप ऐसा न कहें, यह चन्द्रमा शुभ्र वस्त्र धारण करने वाला देदीप्यमान और राजा सोम है, ऐसा मानकर मैं इसकी उपासना करता हूँ। इस प्रकार जान कर इसकी उपासना करने वाले की सम्पत्ति सदैव बनी रहती है और उसका अन्त कभी क्षीण नहीं होता ॥ ३ ॥

स होवाच गार्यो य एवासौ विद्युति पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठास्तेजस्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते तेजस्वी ह भवति तेजस्विनी हास्य प्रजा भवति ॥ ४ ॥

वेद प्रवक्ता बालाकि ने कहा- मैं तो विद्युत के अन्तर्गत निहित शक्ति को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता हूँ। अजातशत्रु बोले- नहीं, नहीं-ऐसा न कहो, मैं तो विद्युत को तेजःस्वरूप मानकर उपासना करता हूँ। ऐसा मानकर जो ब्रह्म की उपासना करता है, वह तेजस्वी होता है और उसकी सन्तति भी तेजस्विनी होती है ॥ ४ ॥

स होवाच गार्यो य एवायमाकाशे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुमा॒ मैतस्मिन्संवदिष्ठाः पूर्णमप्रवर्तीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते पूर्यते प्रजया पशुभिर्नास्यास्माल्लोकात्प्रजोद्वर्तते ॥ ५ ॥

उन गर्गवंशी बालाकि ने कहा- आकाशस्थ पुरुष को ही ब्रह्म मानकर मैं उसकी उपासना करता हूँ। इस पर अजातशत्रु ने कहा- नहीं व्यर्थ वार्ता न करो, मैं उस आकाश तत्त्व को पूर्ण मानकर उसकी उपासना करता हूँ। इस तथ्य को इस प्रकार जानकर उसकी उपासना करने वाला सदैव प्रजा (सन्तान) और पशुओं से परिपूर्ण रहता है। उसकी प्रजा कभी विनष्ट नहीं होती ॥ ५ ॥

स होवाच गार्यो य एवायं वायौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुमा॒ मैतस्मिन्संवदिष्ठा इन्द्रो वैकुण्ठोऽपराजिता सेनेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते जिष्णुर्हार्षपराजिष्णुर्भवत्यन्यतस्त्यजायी ॥ ६ ॥

इसके बाद बालाकि ने कहा- मैं वायु स्थित पुरुष को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता हूँ, तब राजा अजातशत्रु बोले- आप ऐसा न कहें, मैं इस वायु की इन्द्र, वैकुण्ठ और अपराजिता सेना के रूप में उपासना करता हूँ। जो इस वायु की इस प्रकार (उपर्युक्त रूप में) जानकर उपासना करता है, वह प्रसिद्ध विजयशील, अपराजित (जिसे कोई पराजित न कर सके) और शत्रु विजेता होता है ॥ ६ ॥

स होवाच गार्यो य एवायमग्नौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुमा॒ मैतस्मिन्संवदिष्ठा विषासहिरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते विषासहिर्भवति विषासहिर्हास्य प्रजा भवति ॥ ७ ॥

वे गर्गवंशी बोले- मैं तो अग्नि में स्थित पुरुष (अथवा आग्रेय शक्ति) को ब्रह्म मानकर उपासना करता हूँ। तब काशी नरेश अजातशत्रु ने कहा- ब्रह्म के सम्बन्ध में व्यर्थ प्रलाप मत करो, मैं तो अग्नि की विषासहि (सब कुछ सहन करने की या सब कुछ आत्मसात् कर लेने की सामर्थ्य) को ब्रह्म मानकर उपासना करता हूँ। अग्नि के सम्बन्ध में इस प्रकार जानने वाला विषासहि होता है और उसकी प्रजा भी विषासहि होती है ॥

स होवाच गार्यो य एवायमप्सु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुमा॒ मैतस्मिन्संवदिष्ठाः प्रतिरूप इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते प्रतिरूपः हैवैनमुपगच्छति नाप्रतिरूपमथो प्रतिरूपोऽस्माज्जायते ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् बालाकि गार्य ने कहा- जल में स्थित पुरुष को ब्रह्म मानकर मैं उसकी उपासना करता हूँ। यह सुनकर राजा अजातशत्रु बोले- ऐसा न कहो, मैं तो जल तत्त्व को प्रतिरूप मानकर उपासना करता हूँ। ऐसा जानकर उपासना करने वाला अपना प्रतिरूप प्राप्त करता है। उसे कभी अपना अप्रतिरूप प्राप्त नहीं होता और उससे प्रतिरूप (पुत्र) उत्पन्न होता है ॥ ८ ॥

स होवाच गार्यो य एवायमादर्शे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुमा॒ मैतस्मिन्संवदिष्ठा रोचिष्णुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते रोचिष्णुर्भवति रोचिष्णुर्हास्य प्रजा भवत्यथो यैः सन्त्रिगच्छति सर्वाःस्तानतिरोचते ॥ ९ ॥

इसके बाद वे गर्गवंशी बालाकि बोले-दर्पण स्थित छाया पुरुष को ही ब्रह्म मानकर मैं उसकी उपासना करता हूँ। इसके बाद अजातशत्रु ने कहा- ऐसा न कहें, मैं तो इसे देवीप्यमान (रोचिष्णु) मानकर इसकी उपासना करता हूँ। जो इसे इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है, वह प्रकाशमान होता है। उसकी प्रजा (संतान) और सहचर भी प्रकाश सम्पत्र अर्थात् तेजस् सम्पत्र होते हैं ॥ ९ ॥

**स होवाच गार्यो य एवायं यन्तं पश्चाच्छब्दोऽनूदेत्येतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा॑ मैतस्मिन्संवदिष्ठा असुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते सर्वं॒ हैवास्मिंलोक आयुरेति नैनं पुरा कालात्माणो जहाति ॥ १० ॥**

वे गार्य बालाकि बोले- गमन करने वाले के पीछे जो शब्द होता है, मैं उसी को ब्रह्मरूप मानकर उसकी उपासना करता हूँ। अजातशत्रु ने कहा कि ऐसा न कहें, मैं तो उसे प्राण के रूप में उसकी उपासना करता हूँ। जो इसे इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है, वह पूर्ण आयु प्राप्त करता है। उसकी अकाल मृत्यु नहीं होती ॥ १० ॥

**स होवाच गार्यो य एवायं दिक्षु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा॑ मैतस्मिन्संवदिष्ठा द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते द्वितीयवान्॒ ह भवति नास्माद्गणश्छद्यते ॥ ११ ॥**

वे बालाकि गार्य बोले कि मैं दिशाओं में स्थित पुरुष (शक्ति) को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता हूँ। इस पर अजातशत्रु ने कहा- नहीं-नहीं ऐसा न कहो, मैं इसे द्वितीय और वियुक्त न होने वाला मानकर उसकी उपासना करता हूँ। उस ब्रह्म को इस प्रकार जानने वाले साथी युक्त होते हैं और वे साथी उन्हें कभी नहीं त्यागते ॥

**स होवाच गार्यो य एवायं छायामयः पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा॑ मैतस्मिन्संवदिष्ठा मृत्युरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते सर्वं॒ हैवास्मिंलोक आयुरेति नैनं पुरा कालामृत्युरागच्छति ॥ १२ ॥**

गार्य ने कहा मैं छायामय पुरुष को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता हूँ। काशी नरेश अजातशत्रु ने कहा कि व्यर्थ बात न करो, मैं तो छाया पुरुष को मृत्यु समझकर उसकी उपासना करता हूँ। जो इसकी ऐसा जानकर उपासना करता है, वह पूर्ण आयु प्राप्त करता है तथा समय से पूर्व मृत्यु उसे विनष्ट नहीं करती ॥ १२ ॥

**स होवाच गार्यो य एवायमात्मनि पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा॑ मैतस्मिन्संवदिष्ठा आत्मन्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते आत्मन्वीह भवत्यात्मन्विनी हास्य प्रजा भवति स ह तूष्णीमास गार्यः ॥ १३ ॥**

बालाकि ने कहा- मैं आत्मस्थ पुरुष को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता हूँ। अजातशत्रु ने कहा- ऐसा न कहो। मैं तो उसे ब्रह्म जिज्ञासु (आत्मन्वी) मानकर उपासना करता हूँ। उसे इस प्रकार जानकर जो उपासना करने वाला होता है, वह ब्रह्म जिज्ञासु होता है एवं उसकी प्रजा (संतान) भी ब्रह्म जिज्ञासु होती है। यह सुनकर बालाकि ने मौन धारण कर लिया ॥ १३ ॥

स होवाचाजातशत्रुरेतावनूऽ इत्येतावद्धीति नैतावता विदितं भवतीति स होवाच  
गार्य उपत्वायानीति ॥ १४ ॥

यह स्थिति देखकर अजातशत्रु बोले कि क्या इतना ही ज्ञान है ? बालाकि गार्य ने कहा कि हाँ केवल इतना ही ज्ञान है । अजातशत्रु ने कहा कि इतने मात्र से तो ब्रह्मज्ञान असम्भव है । तब गार्य बोले कि क्या मैं आपकी सेवा के लिए तैयार होऊँ ? ॥ १४ ॥

स होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमं चैतद्ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयादब्रह्म मे वक्ष्यतीति  
व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति तं पाणावादायोत्तस्थौ तौ ह पुरुषः सुप्रभाजग्मतुस्त-  
मेतैर्नामभिरामन्त्रयांचक्रे बृहन् पाण्डरवासः सोमराजन्निति स नोत्तस्थौ तं पाणिना पेषं  
बोधयांचकार स होत्तस्थौ ॥ १५ ॥

(यह सुनकर) अजातशत्रु बोले- यह तो विपरीत तथ्य है कि कोई ब्राह्मण ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए किसी क्षत्रिय के पास जाए । तो भी मैं आपको ब्रह्म का उपदेश करूँगा (अर्थात् ब्रह्मज्ञान प्रदान करूँगा) । तब अजातशत्रु उठे और बालाकि का हाथ पकड़कर एक सोते हुए पुरुष के पास ले गये । राजा अजातशत्रु ने उस सोते हुए पुरुष को हे ब्रह्मन् ! हे श्वेताम्बरधारी, हे सोम !, हे राजन् ! आदि कहकर जगाने का प्रयत्न किया, किन्तु वह जाग्रत् स्थिति में नहीं आया । इसके बाद अजातशत्रु ने उसे झकझोर कर उठाने का प्रयत्न किया, तब वह जागकर उठ बैठा ॥ १५ ॥

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुमोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत्कुत  
एतदागादिति तदु ह न मेने गार्यः ॥ १६ ॥

इसके पश्चात् राजा अजातशत्रु ने बालाकि गार्य से प्रश्न किया कि इस प्रसुप्त व्यक्ति का (जीवात्मा) विज्ञानमय पुरुष उस समय कहाँ था, जब वह सो रहा था और अब कहाँ से (जागने पर) यहाँ आ गया; किन्तु बालाकि गार्य इसे नहीं जान सका अर्थात् इस प्रश्न का उत्तर न दे सका ॥ १६ ॥

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुमोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन  
विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन्नेते तानि यदा गृहीत्यथ हैतत्पुरुषः स्वपिति  
नाम तदगृहीत एव प्राणो भवति गृहीता वाग् गृहीतं चक्षुर्गृहीतः श्रोत्रं गृहीतं मनः ॥ १७ ॥

तब अजातशत्रु ने कहा- जब वह (जीवात्मा) विज्ञानमय पुरुष प्रसुप्तावस्था में था, तब अपनी विज्ञान की शक्ति से समस्त इन्द्रियों की शक्ति को अपने में एकत्र कर लिया था । सुप्रसिद्ध स्थिति में जीवात्मा हृदयाकाश में स्थित रहकर इन्द्रियों को ग्रहण करता है । उस समय इसे 'स्वपिति' कहते हैं । उस समय प्राण, नेत्र, श्रोत्र और मन सभी गृहीत स्थिति में होते हैं ॥ १७ ॥

स यत्रैतत्स्वप्न्याचरति ते हास्य लोकास्तदुतेव महाराजो भवत्युतेव महाब्राह्मण  
उतेवोच्चावचं निगच्छति स यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं  
परिवर्त्तेतैवमेवैष एतत्प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते ॥ १८ ॥

जब यह जीवात्मा स्वप्रवृत्ति में होता है अथवा स्वप्रावस्था में होता है, तब उसके लोक अर्थात् कृत कर्मों के प्रतिफल उदित होते हैं। उस समय वह विभिन्न प्रकार की स्थितियों को प्राप्त करता हुआ कभी महाराजा, कभी महाब्राह्मण, कभी उच्चावस्था और कभी निम्नावस्था को प्राप्त होता है। वह प्रजा के साथ भ्रमण करने के समान ही प्राणेन्द्रियों को लेकर शरीर में यथेच्छ स्थलों पर भ्रमण करता रहता है ॥ १८ ॥

अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्तिसहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृष्ट्य पुरीतति शेते स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वातिष्ठीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते ॥ १९ ॥

इसके बाद जब वह जीवात्मा सुषुप्तावस्था में होता है, तब उसे बाह्य जगत् का कुछ भी भान नहीं रहता। उस समय हिता नामक (अथवा हितकारिणी) बहतर हजार नाड़ियाँ जो हृदय प्रदेश से सम्पूर्ण शरीर में संव्यास हैं, उन्हीं के माध्यम से वह (जीवात्मा) बुद्धि के साथ सम्पूर्ण शरीर में संव्यास होकर सो जाता है। जिस प्रकार कोई बालक, महाब्राह्मण या महाराजा अतिशय आनन्द की स्थिति प्राप्त करके सो जाता है, उसी प्रकार यह जीवात्मा भी सो जाता है (अर्थात् सुप्तावस्था में बालक, विद्वान् एवं राजा सभी एक जैसी विश्राम की स्थिति में होते हैं) ॥ १९ ॥

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्रेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥ २० ॥

जिस प्रकार मकड़ी (अपने द्वारा निर्मित) तन्तुओं पर चलकर ऊर्ध्वगमन करती है और जिस प्रकार अग्नि में अनेक छोटी-छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं, ठीक उसी तरह इस आत्मा से सभी प्राण, सभी लोक, सभी देवता और समस्त भूत उत्पन्न होते हैं। इसका उपनिषदीय नाम 'सत्य का सत्य' है। निश्चित रूप से प्राण ही सत्य है और यह आत्मा उस (प्राण का) सत्य है ॥ २० ॥

## ॥ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

यो ह वै शिशुः साधानः सप्रत्याधानः सस्थूणः सदामं वेद सप्त ह द्विषतो भ्रातृव्यानवरुणद्वयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणस्तस्येवाधानमिदं प्रत्याधानं प्राणः स्थूणान्नं दाम ॥ १ ॥

जो कोई आधान, प्रत्याधान, स्थूणा (खूँटे) और दाम (बाँधने की रस्सी) के साथ इस प्राण तत्त्व रूप शिशु को जानने वाला है, वह द्वेष करने वाले सात भ्रातृव्यों (सात विरोधियों-पाँच ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धि) को अवरुद्ध करने में समर्थ होता है। मध्य स्थित या मध्यम प्राण ही शिशु रूप है, उसी का यह शरीर (अधिष्ठान) है। उस शिशु का सिर ही प्रत्याधान (आश्रय स्थल), शिशु रूप है, उसी का यह शरीर (अधिष्ठान) है। उस शिशु की रज्जु है ॥ १ ॥

तमेताः सप्ताक्षितय उपतिष्ठन्ते तद्या इमा अक्षन् लोहिन्यो राजयस्ताभिरेनः रुद्रो-  
उन्वायत्तोऽथ या अक्षव्वापस्ताभिः पर्जन्यो या कनीनिका तयादित्यो यत्कृष्णं तेनाग्निर्यच्छुक्लं  
तेनेन्द्रोऽधरयैनं वर्तन्या पृथिव्यन्वायता द्यौरुत्तरया नास्यान्नं क्षीयते य एवं वेद ॥ २ ॥

उस (प्राण) की (सहायिका) ये सात अक्षितियाँ (क्षीण न होने वाली) उपस्थित होती हैं। उन (सप्त अक्षितियों में दोनों नेत्रों की लाल रेखाएँ रुद्र शक्ति (विद्युत) की प्रतीक हैं। नेत्रों में जल पर्जन्य शक्ति का प्रतीक है, जो कनीनिका (पुतलियाँ) हैं, वह आदित्य शक्ति की, कालिमा अग्नि शक्ति की, श्वेत भाग इन्द्र शक्ति का, नीचे के पलक पृथिवी शक्ति के एवं ऊपर के पलक द्युलोक के प्रतीक हैं। इस प्रकार जो जानता है, उसका अन्न कभी क्षीण नहीं होता ॥ २ ॥

तदेष श्रोको भवति । अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुधस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम् ।  
तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेत्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीदं  
तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुधस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपमिति प्राणा वै यशो  
विश्वरूपं प्राणनेतदाह तस्यासत ऋषयः सप्त तीर इति प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह  
वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति वागष्टमी ब्रह्मणा संविते ॥ ३ ॥

इस श्रोक से उपरि निर्दिष्ट तथ्य की पुष्टि होती है। यह चमस ही नीचे की ओर मुख वाला और ऊपर की ओर जड़ से युक्त है। इसमें विभिन्न प्रकार का यश सन्निहित है। चमस के किनारे पर सात ऋषिगण निवास करते हैं तथा अष्टम वाणी निवास करती है, जो वेदों (ब्राह्मणों) द्वारा संवाद करने में समर्थ होती है। यह चमस जो नीचे की ओर मुख और ऊपर की ओर पैर वाला है और जिसमें सम्पूर्ण विश्व का यश निहित है, वह वस्तुतः प्राण ही है। उसके किनारे पर सप्त ऋषियों का निवास वर्णित है। ये सात ऋषि इन्द्रियाँ हैं। आठवीं वागिन्द्रिय है, जो ब्राह्मणों द्वारा बोली जाने वाली (वेदवाणी) वर्णित है ॥ ३ ॥

इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भरद्वाज इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव  
विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिवर्चाचा  
ह्यन्नमद्यतेऽन्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद ॥

ये दोनों कान ही गोतम और भरद्वाज ऋषि हैं। इसी प्रकार दोनों चक्षु ही विश्वामित्र और जमदग्नि हैं। नासिका के दोनों छिद्र ही वसिष्ठ और कश्यप ऋषि हैं। वाणी ही अत्रि ऋषि है; क्योंकि वाणी अर्थात् रसना ही अन्न ग्रहण करने में सक्षम है और अन्न का भोग ग्रहण करने वालों में अत्रि प्रख्यात हैं, इसलिए वाक् ही अत्रि है। जो इस तथ्य को इस प्रकार जानता है, वह समस्त अन्त्रों का भोग करने वाला (सबका अत्ता) और उनका स्वामी होता है ॥ ४ ॥

## ॥ तृतीयं ब्रह्मणम् ॥

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्य चैवामूर्त्य च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च ॥ १ ॥

ब्रह्म के दो स्वरूप हैं- एक व्यक्त और दूसरा अव्यक्त। इसमें मरणधर्मा व्यक्त है और अमर्त्य ही अव्यक्त है। जो मर्त्य है, वह जड़- स्थिर है और अमृत (अविनाशी) सतत गतिमान् है ॥ १ ॥

तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्च तन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य  
मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो य एष तपति सतो होष रसः ॥ २ ॥

वायु और अन्तरिक्ष से भिन्न तत्त्व (अग्नि, जल और पृथिवी) ये सभी मूर्त मरणधर्मा एवं स्थिर हैं। इन तीनों का सारतत्त्व तप्यमान (आदित्य या यज्ञपुरुष) है ॥ २ ॥

अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतमेतद्यदेतत्यत्तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत  
एतस्य त्यस्यैष रसो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य होष रस इत्यधिदैवतम् ॥ ३ ॥

वायु और अन्तरिक्ष अव्यक्त हैं, ये अमर्त्य और गतिशील हैं। इस (आदित्य या ब्रह्माण्ड) मण्डल में जो विशिष्ट तेजस् सम्पन्न पुरुष है, वही इन अमर्त्य एवं अव्यक्त भूतों का साररूप है। यह अधिदैव दर्शन है ॥

अथाध्यात्ममिदमेव मूर्तयदन्यत्राणाच्च यश्चायमन्तरात्मनाकाश एतन्मर्त्यमेतत्स्थित-  
मेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो यच्चक्षुः सतो होष रसः ॥

अब अध्यात्म विषय प्रतिपादित किया जाता है। देहान्तर्गत आकाश और प्राण से भिन्न जो अग्नि, जल एवं पृथिवी का अंश इस शरीर में विद्यमान है, वह मूर्त और मरणधर्मा है। नेत्र इस सत् का सार रूप है ॥ ४ ॥

अथामूर्तं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मनाकाश एतदमृतमेतद्यदेतत्यं तस्यैतस्यामूर्त-  
स्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो योऽयं दक्षिणेक्षन्पुरुषस्त्यस्य होष रसः ॥ ५ ॥

अब अमूर्त का वर्णन किया जाता है। प्राण और इस देह मे स्थित जो आकाश है, ये दोनों ही अमूर्त हैं, अविनाशी हैं और गतिशील हैं। इस अविनाशी अमूर्त प्राण और आकाश तत्त्व का सार ही दक्षिण नेत्र के अन्तर्गत स्थित पुरुष अथवा विशिष्ट शक्ति है ॥ ५ ॥

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा माहारजनं वासो यथा पाण्डवाविकं यथेन्द्रगोपो  
यथागन्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युत्तः सकृद्विद्युतेव ह वा अस्य श्रीर्भवति य एवं  
वेदाथात आदेशो नेति नेति न होतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामथेयः सत्यस्य सत्यमिति  
प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥ ६ ॥

(दाहिने नेत्र में निवास करने वाले) उस पुरुष (आत्मा) का रूप इस प्रकार का है, जैसे माहारजन (कुसुम्घ पुष्प का रंग या महान् रंगने वाले) से रंगा हुआ वस्त्र हो, जैसे पाण्डु (हल्का पीला) ऊन हो, जैसे इन्द्रगोप (वीर बहूटी) हो, जैसे आग की लपट हो तथा जैसे कोई श्वेत कमल या विद्युत् की चमक हो। जो ऐसा जानने वाला है, उसकी श्री (ऐश्वर्य) विद्युत् कान्ति के समान (सर्वत्र फैलने वाली) होती है। अब (इस कारण) ब्रह्म सम्बन्धी उपदेश किया जाता है। उसके लिए सर्वोत्कृष्ट उपदेश 'नेति-नेति' है। अन्य कोई उपदेश इतना उत्कृष्ट नहीं है। उसे 'सत्य का भी सत्य' इस नाम से ही जाना जाता है। प्राण ही निश्चित रूप से सत्य है और वह (ब्रह्म) उस (प्राण)का भी सत्य है ॥ ६ ॥

## ॥ चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽन्या  
कात्यायन्यान्तं करवाणीति ॥ १ ॥

महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी धर्मपती मैत्रेयी से कहा- हे मैत्रेयी ! मैं अब वर्तमान स्थान (गृहस्थाश्रम) से ऊपर (वानप्रस्थ आश्रम में) जाना चाहता हूँ। अतः मेरी आकंक्षा है कि दूसरी धर्मपती कात्यायनी और आपके बीच (सम्पत्ति का) विच्छेद (बँटवारा) कर दूँ ॥ १ ॥

सा होवाच मैत्रेयी यन्मु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता  
स्यामिति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितः  
स्यादमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति ॥ २ ॥

(यह सुनकर) मैत्रेयी बोली- हे भगवन् ! धन्य-धान्य से पूरित इस सम्पूर्ण धरती की यदि मैं स्वामिनी बन जाऊँ, तो क्या मैं अमर पद पा सकूँगी ? महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा नहीं, जैसे साधन-सम्पत्तों का जीवन होता है, वैसा ही तुम्हारा जीवन हो जायेगा। धन से अमृतत्व की आशा नहीं करनी चाहिए ॥ २ ॥

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याद् ? यदेव भगवान्वेद तदेव मेभ्रूहीति ॥

मैत्रेयी बोली- हे स्वामी ! जिस धन-ऐर्शव्य से मैं अमृतत्व प्राप्त नहीं कर सकती, उसे ग्रहण करके मैं क्या करूँगी ? हे भगवन् ! यदि आप कोई अमृतत्व प्राप्त करने के उपाय जानते हों, तो वह मुझे बताने का अनुग्रह करें ॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषस एह्यास्त्व व्याख्यास्यामि ते  
व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥ ४ ॥

याज्ञवल्क्य ने कहा- हे मैत्रेयी ! तुम हमारी प्रिया हो और प्रिय लगने योग्य वचन भी बोल रही हो। तुम आकर बैठो-मैं तुम्हारे लिए अमृतत्व प्राप्त कराने वाला उपदेश प्रदान करता हूँ। तुम मेरे आदेश का निदिध्यासन (अनुपालन) करना ॥ ४ ॥

स होवाच न वा अरेपत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति  
न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति न वा अरे  
पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति न वा अरेवित्तस्य  
कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति न वा अरेब्रह्मणः कामाय ब्रह्मप्रियं  
भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्मप्रियं भवति न वा अरेक्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु  
कामाय क्षत्रं प्रियं भवति न वा अरेलोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय  
लोकाः प्रिया भवन्ति न वा अरेदेवानां कामाय देवाः प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय  
देवाः प्रिया भवन्ति न वा अरेभूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवत्यात्मनस्तु  
कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति न वा अरेसर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु  
कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मा वा अरेद्रष्टव्यः श्रोत्रव्यो मन्त्रव्यो निदिध्यासितव्यो  
मैत्रेय्यात्मनो वा अरेदर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदः सर्वं विदितम् ॥ ५ ॥

ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- हे मैत्रेयी ! निश्चित ही पति की आकांक्षा पूर्ति के लिए पति प्रिय नहीं होता वरन् अपनी (आत्मीयता) आकांक्षा पूर्ति के लिए (पत्नी को) पति प्रिय होता है । इसी प्रकार पत्नी के प्रयोजन के लिए नहीं बल्कि अपने प्रयोजन के लिए (पति को) पत्नी प्रिय होती है । पुत्रों की आकांक्षा पूर्ति के लिए नहीं, वरन् अपनी आकांक्षा पूर्ति के लिए (पिता को) पुत्र प्रिय होते हैं । धन के प्रयोजन पूर्ति के लिए नहीं, वरन् अपने प्रयोजन की पूर्ति के लिए (व्यक्ति को) धन प्रिय होता है । ज्ञान या ब्राह्मण के प्रयोजन के लिए नहीं, वरन् अपने प्रयोजन के लिए ज्ञान या ब्राह्मण प्रिय होता है । शक्ति अथवा क्षत्रिय की आकांक्षा के लिए नहीं, वरन् अपनी आकांक्षा पूर्ति के लिए शक्ति (क्षत्रिय को) प्रिय होती है । देवों के प्रयोजन के लिए नहीं, वरन् स्व प्रयोजन की पूर्ति के लिए देवता प्रिय होते हैं । लोकों के प्रयोजन के लिए नहीं, वरन् अपनी ही इच्छा पूर्ति के लिए लोक प्रिय होते हैं । प्राणियों के हित के लिए नहीं, वरन् अपने हित के लिए प्राणी प्रिय होते हैं । सभी के हित के निमित्त नहीं, वरन् अपने हित के निमित्त सब प्रिय होते हैं । इसलिए हे मैत्रेयी ! यह आत्मा ही दर्शन करने योग्य, श्रवण करने योग्य, मनन करने योग्य और निदिध्यासन (अनुभव) ध्यान करने योग्य है । इस आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन और ज्ञान से सभी का ज्ञान हो जाता है ॥ ५ ॥

**ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान्वेद देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदः सर्वं यदयमात्मा ॥ ६ ॥**

जो ब्राह्मण या ज्ञान को आत्मा से भिन्न किसी अन्य वस्तु में जानने वाला होता है, उसे ब्राह्मण या ज्ञान परित्यक्त कर देता है । क्षत्रिय या बल को आत्मा से भिन्न किसी अन्य वस्तु में देखने वाले को बल या क्षत्रिय परित्यक्त कर देता है । लोकों को आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य में जानने वाले को लोक त्याग देते हैं । देवताओं को आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य में जानने वाले को देवता छोड़ देते हैं और समस्त प्राणियों को आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य में देखने वाले को समस्त प्राणी त्याग देते हैं । इस प्रकार ब्राह्मण (ज्ञान), क्षत्रिय (शक्ति), लोक, देवता और समस्त प्राणी ये सभी आत्मा ही हैं, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं ॥

**स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छकुयादग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ७ ॥**

जिस प्रकार बजती हुई दुन्दुभि के बाहर निकलते हुए शब्दों को ग्रहण कर सकने में कोई दूसरा समर्थ नहीं है । उन (शब्दों) को केवल स्वयं दुन्दुभि अथवा उसका वादक ही ग्रहण कर सकता है (उसी प्रकार आत्म चेतना से आत्मा को प्राप्त किया जाता है) ॥ ७ ॥

**स यथा शङ्खस्य ध्यायमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छकुयादग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्यमस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ८ ॥**

जैसे बजाये जाते हुए शङ्ख के शब्दों को केवल वह शङ्ख या उसका वादक ही ग्रहण कर सकता है, अन्य कोई ग्रहण करने में समर्थ नहीं है (उसी प्रकार आत्मा द्वाग ही आत्मा को ग्रहण किया जा सकता है) ॥ ८ ॥

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्यान् शब्दान् शक्तुयात् ग्रहणाय वीणायै तु  
ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ९ ॥

जैसे बजायी जाती हुई वीणा के शब्दों को स्वयं वह वीणा अथवा उसका वादक ही ग्रहण कर सकता है, अन्य कोई नहीं (वैसे आत्मा को आत्मा अथवा उसके संचालक द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है) ॥

स यथार्द्धाग्रेभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य  
निःश्वसितमेतद्वृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः  
श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि ॥ १० ॥

जिस तरह चारों ओर से आधान किये हुए गीले ईधन से उत्पन्न अग्नि से धूम निकलता है, उसी प्रकार हे मैत्रेयी ! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, उपनिषद, सूत्र, श्लोक, व्याख्यान और अनुव्याख्यान ये सभी उस महान् सत्ता के निःश्वास ही हैं ॥ १० ॥

स यथा सर्वासामपाः समुद्र एकायनमेवः सर्वेषाः स्पर्शानां त्वगेकायनमेवः सर्वेषां  
गन्धानां नासिके एकायनमेवः सर्वेषाः रसानां जिह्वैकायनमेवः सर्वेषाः रूपाणां  
चक्षुरेकायनमेवः सर्वेषाः शब्दानाः श्रोत्रमेकायनमेवः सर्वेषाः संकल्पानां मन  
एकायनमेवः सर्वासां विद्यानाः हृदयमेकायनमेवः सर्वेषां कर्मणाः हस्तावेकायनमेवः  
सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेवः सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवः सर्वेषामध्वनां  
पादावेकायनमेवः सर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ॥ ११ ॥

जिस प्रकार समस्त जल का आश्रय स्थल एकमात्र समुद्र है, समस्त स्पर्शों का अयन त्वचा है, समस्त गन्धों का आश्रय नासिका है, समस्त रसों का आश्रय रसना (जिह्वा) है, समस्त रूपों का आश्रय चक्षु है, समस्त शब्दों का आश्रय श्रोत्र, समस्त संकल्पों का आश्रय मन, समस्त विद्याओं का आश्रय हृदय, समस्त कर्मों का आश्रय हस्त, समस्त आनन्दों का आश्रय उपस्थ, समस्त विसर्गों (विसर्जनों) का आश्रय पायु (गुदा), समस्त मार्गों का आश्रय चरण और समस्त वेदों का आश्रय वाक् शक्ति (वाणी) है ॥ ११ ॥

स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्राप्त उदकमेवानुविलीयेत न हास्योदग्रहणायेव स्याद्यतो  
यतस्त्वाददीत लवणमेवैवं वा अर इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः  
समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥ १२ ॥

जिस प्रकार जल के अन्दर नमक की डली डालने पर वह उसी में विलीन हो जाती है, उसे पकड़ सकना किसी के लिए सम्भव नहीं है, ठीक उसी प्रकार यह महद्भूत, अन्तहीन, पाररहित, विज्ञानघन आत्मा समस्त भूतों से ऊँचा उठकर इन्हीं में विलुप्त हो जाता है। मृत्युपरान्त इस तत्त्व का नाम भी शेष नहीं रहता, क्योंकि वह देहेन्द्रिय भाव से मुक्त हो जाता है- ऐसा ऋषि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा ॥ १२ ॥

सा होवाच मैत्रैव्यत्रैव मा भगवान्मूमुहन्त्र प्रेत्य संज्ञास्तीति स होवाच याज्ञवल्क्यो  
न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यलं वा अर इदं विज्ञानाय ॥ १३ ॥

मैत्रेयी ने कहा- हे भगवन् ! मृत्यु के उपरान्त नाम भी नहीं बचता, आपके इस वाक्य से तो मुझे

मोहरूपी भ्रम उत्पन्न हो गया है। यह सुनकर महर्षि याज्ञवल्क्य बोले- हे मैत्रेयी! ऐसा नहीं है, मैंने भ्रम में डालने के लिए कुछ नहीं कहा है, वरन् जो कुछ कहा है, वह उस महदभूत का ज्ञान प्राप्त कराने के लिए कहा है और वह उस ज्ञान के लिए पर्याप्त है ॥ १३ ॥

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिधति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरः शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूतत्केन कं जिधेत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन करं शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत् केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयाद्येनेदः सर्व विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ॥ १४ ॥

जहाँ (अज्ञानावस्था में) द्वैत प्रतीत होता है, वही दूसरा दूसरे को सूँघता है, दूसरा दूसरे को देखता है, दूसरा ही दूसरे का श्रवण करता है, दूसरा ही दूसरे के प्रति कहता है, दूसरा ही दूसरे का मनन करता है और दूसरा ही दूसरे को जानता है; किन्तु जब यह सब आत्मरूप ही हो गया, तब वह किसके द्वारा किसको सूँधे, किसके द्वारा किसको देखे, किसके द्वारा किसको सुने, किसके द्वारा किसको कहे और किसके द्वारा किसका मनन करे एवं जाने। जिससे सब कुछ जाना जाता है, उसे किसके माध्यम से जाने। अस्तु, हे मैत्रेयी! विज्ञाता को कैसे जाना जा सकता है? ॥ १४ ॥

## ॥ पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मः शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदः सर्वम् ॥ १ ॥

यह पृथिवी समस्त प्राणियों का मधु है और समस्त प्राणी पृथिवी के लिए मधु स्वरूप है। इस पृथिवी में जितने भी अमर्त्य और तेजरूपी पुरुष हैं एवं इस शरीर में विनाशरहित और तेजस् सम्पन्न जो आत्मा है, वही सर्वव्यापी परमात्मा है। यही कभी नष्ट न होने वाला ब्रह्म है एवं जो कुछ भी है, सब कुछ यही है ॥ १ ॥

[ मधु रोचक और पोषक होता है। पृथिवी के लिए प्राणी तथा प्राणियों के लिए पृथिवी रोचक एवं पोषक है, इसीलिए वे एक दूसरे के मधु कहे गये हैं। यह संगति स्त्रष्टा का कौशल है- कमाल है। इसी प्रकार प्रकृति के अन्य घटकों के बारे में भी कहा गया है। ]

इमा आपः सर्वेषां भूतानां मध्वासामपाः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमास्वप्नु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मः रैतसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदः सर्वम् ॥ २ ॥

यह जल समस्त प्राणियों का मधु है और समस्त प्राणी जल के लिए मधु तुल्य हैं। जल में स्थित जो तेजोमय अमृतस्वरूप पुरुष है और जो इस शरीर में अविनाशी आत्मास्वरूप पुरुष स्थित है, वही सर्वव्यापी परमात्मा है, वही अविनाशी ब्रह्म है। यहाँ जो कुछ भी है, सब कुछ यही है ॥ २ ॥

**अयमग्निः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याग्नेः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नग्रौ  
तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं वाइमयस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स  
योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदः सर्वम् ॥ ३ ॥**

यह अग्नि समस्त प्राणियों का मधु है और समस्त प्राणी इस अग्नि के लिए मधुस्वरूप हैं। इस अग्नि में स्थित तेजोमय और विनाशरहित जो पुरुष है और इस शरीर में स्थित वाइमय तेजस्वरूप जो पुरुष आत्मा रूप में स्थित है, वही ब्रह्म, अमर्त्य और सर्व है अर्थात् जो कुछ भी है, सब यही है ॥ ३ ॥

**अयं वायुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य वायोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्वायौ  
तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं प्राणस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स  
योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदः सर्वम् ॥ ४ ॥**

यह वायु समस्त जीवों का मधु है और समस्त जीव वायु के लिए मधु तुल्य हैं। वायु में संव्यास तेजोमय अमृत पुरुष और देह में संव्यास प्राणरूप अमृतमय तेजस्वी आत्मा ही ब्रह्म (परमात्मा) है। यहाँ जो कुछ भी है, सब कुछ यही है ॥ ४ ॥

**अयमादित्यः सर्वेषां भूतानां मध्वस्यादित्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु  
यश्चायमस्मिन्नादित्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं चाक्षुषस्तेजोमयोऽमृतमयः  
पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदः सर्वम् ॥ ५ ॥**

यह आदित्य समस्त प्राणियों का मधु है। समस्त प्राणी आदित्य के लिए मधु स्वरूप हैं। इस आदित्य में विद्यमान जो तेजःसम्पन्न और अविनाशी पुरुष है और इस शरीर में स्थित चाक्षुष तेजःसम्पन्न और अमृत युक्त जो सर्वव्यापी आत्मा है। यहीं परब्रह्म, अमर्त्य और सब कुछ है ॥ ५ ॥

**इमा दिशः सर्वेषां भूतानां मध्वासां दिशाः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमासु दिक्षु  
तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मः श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कस्तेजोमयोऽमृतमयः  
पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदः सर्वम् ॥ ६ ॥**

ये दिशाएँ समस्त प्राणियों के लिए मधु स्वरूप हैं और समस्त प्राणी दिशाओं के निमित्त मधु स्वरूप हैं। इन दिशाओं में स्थित तेजःसम्पन्न अमर पुरुष तथा शरीर में स्थित श्रौत्रमय तेजःसम्पन्न अविनाशी पुरुष (आत्मा) ही सर्वव्यापी ब्रह्म, विनाश रहित और सर्वस्वरूप अर्थात् सब कुछ है ॥ ६ ॥

**अयं चन्द्रः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य चन्द्रस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिः श्वन्दे  
तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं मानसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स  
योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदः सर्वम् ॥ ७ ॥**

यह चन्द्रमा समस्त भूतों-प्राणियों के लिए और समस्त भूत (प्राणी) चन्द्रमा के लिए मधुरूप हैं। चन्द्रमा में स्थित तेजोमय-अविनाशी पुरुष तथा शरीर में स्थित, मन में विद्यमान तेजोयुक्त अमर पुरुष ही सर्व-व्यापक परब्रह्म है, यहीं अविनाशी तथा सभी कुछ है ॥ ७ ॥

इयं विद्युत्सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै विद्युतः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां विद्युति  
तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं तैजसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स  
योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदः सर्वम् ॥ ८ ॥

यह विद्युत् समस्त भूतों का मधु और समस्त भूत इस विद्युत् के लिए मधुरूप हैं। विद्युत् स्थित जो तेजोमय और अमर्त्य पुरुष है एवं शरीर स्थित (तैजस) जो तेजःसम्पन्न और अमर पुरुष है, वही सर्वव्यापक और कभी नष्ट न होने वाला आत्मा है, यही अमृत, यही ब्रह्म और यही सब कुछ है ॥ ८ ॥

अयः स्तनयित्रः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य स्तनयित्रोः सर्वाणि भूतानि मधु  
यश्चायमस्मिन्स्तनयित्रौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मः शाब्दः  
सौवरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदःसर्वम् ॥ ९ ॥

गरजते हुए मेघ प्राणियों के मधु हैं और प्राणी मेघों के मधु हैं। इस मेघ में जो तेजस्वी और अविनाशी पुरुष है तथा शरीर में जो तेजोमय-अविनाशी पुरुष है, वही आत्मा है, अनश्वर है और सब कुछ है ॥ ९ ॥

अयमाकाशः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याकाशस्य सर्वाणि भूतानि मधु  
यश्चायमस्मिन्नाकाशे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मः हृद्याकाशस्तेजो  
मयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदः सर्वम् ॥ १० ॥

यह आकाश समस्त जीवों का मधु है और समस्त जीव आकाश के लिए मधुरूप हैं। इस अन्तरिक्ष में जो तेजोयुक्त अविनाशी पुरुष स्थित है और इस शरीर में जो हृद्याकाश स्थित तेजः सम्पन्न और अनश्वर आत्मा विद्यमान है, वही सर्वव्यापक ब्रह्म और समस्त भूतों से युक्त है, यही सब कुछ है ॥ १० ॥

अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य धर्मस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्धर्मे  
तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं धार्मस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स  
योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदः सर्वम् ॥ ११ ॥

यह धर्म प्राणियों का मधु है और प्राणी धर्म के मधुरूप हैं। धर्म स्थित तेजोमय और अविनाशी पुरुष तथा शरीर स्थित तेजोमय और अमर्त्य पुरुष ही सर्वव्यापी, अविनाशी परमात्मा है। यही सभी कुछ है ॥ ११ ॥

इदं सत्यः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य सत्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्सत्ये  
तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मः सात्यस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स  
योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदः सर्वम् ॥ १२ ॥

यह सत्य सभी भूतों (प्राणियों) के लिए मधु है तथा समस्त भूत (प्राणी) सत्य के लिए मधु स्वरूप हैं। सत्य स्थित जो तेजः सम्पन्न अविनाशी पुरुष विद्यमान है और शरीर में स्थित जो सत्य स्वरूप तेजः सम्पन्न अनश्वर आत्मा है, वही अविनाशी और सर्वस्वरूप ब्रह्म है, सब कुछ यही है ॥ १२ ॥

इदं मानुषः सर्वेषां भूतानां मध्वस्व मानुषस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्मानुषे  
तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः यश्चायमध्यात्मं मानुषः तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स  
योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदः सर्वम् ॥ १३ ॥

यह मनुष्य समुदाय समस्त प्राणियों का मधु है और समस्त प्राणी मानव समुदाय के लिए मधु है। मनुष्य समुदाय में स्थित जो अविनाशी और तेजःसम्पन्न पुरुष है तथा इस मानव शरीर में जो भावयुक्त तेजस्वी, अमर्त्य पुरुष है, वही सर्वव्यापक अविनाशी ब्रह्म है और सब कुछ यही है ॥ १३ ॥

अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मध्वस्यात्मनः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमात्मा तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ १४ ॥

यह आत्मा जीवों का मधु है और जीव इस आत्मा के मधु हैं। आत्मा में स्थित जो तेजस्वी और अविनाशी पुरुष है तथा आत्मा रूप में तेजस्वी और अविनाशी परब्रह्म है, वही सर्वव्यापक अविनाशी ब्रह्म है, यही सब कुछ है ॥ १४ ॥

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्वे एत आत्मानः समर्पिताः ॥ १५ ॥

निश्चित रूप से आत्मा ही समस्त प्राणियों का अधिपति और राजा है। जिस प्रकार रथ की नाभि में एवं नेमि में सभी ओरे जुड़े रहते हैं, उसी प्रकार समस्त जीव, समस्त देवता, समस्त लोक और समस्त प्राण आत्मा से जुड़े रहते हैं अथवा आत्मा में सन्त्रिहित हैं ॥ १५ ॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्गाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । तद्वां नरा सनये दःस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम् । दध्यङ्ग ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्णा प्रयदीमुवाचेति ॥ १६ ॥

इस मधु (आत्मविद्या) का वर्णन दध्यङ्ग आर्थर्वण ने अश्विनीकुमारों से किया था। ऋषि ने उनसे कहा कि हे अश्विनीकुमारो! जिस प्रकार मेघ वृष्टि को प्रकट करते हैं, उसी प्रकार मैं तुम्हारे उग्र कर्म को प्रकट करता हूँ। अश्व के मस्तक वाले तुम दोनों के लिए यह आर्थर्वण मधु विद्या प्रदान कर रहा हूँ ॥ १६ ॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्गाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचदाथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्वःशिरः प्रत्यैरयतम् । स वां मधुप्रवोचदूतायन्त्वाङ्गयद्वावपि कक्षयं वामिति ॥ १७ ॥

इस मधु विद्या को आर्थर्वण दध्यङ्ग ने अश्विनीकुमारों को प्रदान किया था। मंत्रद्रष्टा ऋषि बोले- हे अश्विनीकुमारो! आप आर्थर्वण के निमित्त अश्व का मस्तक लाएँ। उन्होंने सत्य की रक्षा करते हुए आपको त्वाष्टोपदेश (अर्थात् सूर्य सम्बन्धी मधुविद्या का उपदेश) किया, वह ज्ञान गोपनीय था ॥ १७ ॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्गाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । पुरश्चके द्विपदः पुरश्चके चतुष्पदः पुरःस पक्षी भूत्वा पुरःपुरुष आविशदिति । स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैनेन किंचनानावृतम् ॥ १८ ॥

इस मधुविद्या का उपदेश आर्थर्वण दध्यङ्ग ने अश्विनीकुमारों के प्रति किया था। मंत्रद्रष्टा ने कहा कि परब्रह्म ने सर्वप्रथम द्विपादों और चतुष्पादों वाले शरीरों का निर्माण किया। इसके पश्चात् वह विराट् पुरुष

उन शरीरों में प्रविष्ट हो गया। इसी कारण पुरुष को “पुरिशय” (पुरों-शरीरों में स्थित) कहते हैं। इस सृष्टि में ऐसा कोई नहीं है, जिसके अन्दर वह प्रविष्ट न हो ॥ १८ ॥

**इदं वै तन्मधु दध्यद्वार्थर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचद्वूपःस्तपं प्रतिस्तपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुस्तप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेत्ययं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च तदेतद्वृह्यापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम् ॥ १९ ॥**

इस मधु का उपदेश दध्यद्वा आर्थर्वण ने अश्विनीकुमारों को दिया था। मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने कहा कि शरीरधारी को उसके (वास्तविक) स्वरूप में प्रकट करने के लिए वह पुरुष शरीरधारी का प्रतिस्तप (जल, वायु या आकाश की तरह पात्र के आकार का) हो जाता है। वह परमात्मा एक होते हुए भी माया से अनेक रूपों वाला प्रतिभासित होता है। शरीर रूपी रथ में जुते इन्द्रियों रूपी अश्व-दस, सहस्र और अनन्त हैं। वह ब्रह्म कारण विहीन, कार्यविहीन, अन्तर और बाहर से भी विहीन है। समस्त विषयों का अनुभव करने वाला आत्मा ही ब्रह्मरूप है। समस्त वेदान्तों का उपदेश भी यही है ॥ १९ ॥

## ॥ षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

**अथ व॒शः पौतिमाष्यो गौपवनाद्वौपवनः पौतिमाष्यात्पौतिमाष्यो गौपवनाद्वौपवनः कौशिकात्कौशिकः कौण्डन्यात्कौण्डन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः ॥ १ ॥ आग्निवेश्यादाग्निवेश्यःशाण्डिल्याच्चानभिम्लाताच्चानभिम्लात आनभिम्ला-तादानभिम्लात-आनभिम्लातादानभिम्लातो गौतमाद्वौतमः सैतवप्राची-नयोग्याभ्याः सैतवप्राचीनयोग्यौ पाराशर्यात्पाराशर्यो भारद्वाजाद्वारद्वाजो भारद्वाजाच्च गौतमाच्च गौतमो भारद्वाजाद्वारद्वाजः पाराशर्यात् पाराशर्यो बैजवापायनाद्वैजवापायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिः ॥ २ ॥ घृतकौशिकाद्वृतकौशिकः पाराशर्यायणा-त्पाराशर्यायणः पाराशर्यात् पाराशर्यो जातूकण्ठ्यजातूकण्ठ्य आसुरायणाच्च यास्का-च्चासुरायणस्त्रैवणोस्त्रैवणिरौपजन्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद्वारद्वाज आत्रेयादात्रेयो माण्टेर्माण्टिगौतमाद्वौतमो गौतमाद्वौतमो वात्स्याद्वात्स्यः शाण्डिल्या-च्छाण्डिल्यः कैशोर्यात्काप्यात्कैशोर्यः काप्यः कुमारहारितात्कुमारहारितो गालवाद्वालवो विदर्भीकौण्डन्याद्विदर्भीकौण्डन्यो वत्सनपातो बाध्ववाद्वत्सनपाद्वाध्ववः पथः सौभरात्पन्थाः सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसादयास्य आङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्टादाभूतिस्त्वाष्टो विश्वरूपात्वाष्टाद्विश्वरूपस्त्वाष्टोऽश्विभ्यामश्विनौ दधीच आर्थर्वणादध्यद्वार्थर्वणोऽर्थर्वणो दैवादथर्वा दैवो मृत्योः प्राध्व॑सनामृत्युः प्राध्व॑सनः प्राध्व॑सनात्प्रध्व॑सन एकर्षेकर्षिर्विप्रचित्तेर्विप्रचित्तिर्विष्टेर्विष्टः सनारोः सनारुः सनातनात्सनातनः सनगात्सनगः परमेष्ठिनः परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः ॥ ३ ॥**

अब इस (मधुकाण्ड) की वंशावली का वर्णन किया जाता है। पौत्रिमात्र्य ने गौपवन से विद्या पायी। गौपवन ने पौत्रिमात्र्य से और पौत्रिमात्र्य ने गौपवन से विद्या पायी। गौपवन ने कौशिक से, कौशिक ने कौण्डन्य से विद्या अर्जित की। कौण्डन्य ने शाण्डिल्य से और शाण्डिल्य ने कौशिक से और गौतम से विद्या प्राप्त की। गौतम ने आग्निवेश्य से, आग्निवेश्य ने शाण्डिल्य और आनभिम्लात से ज्ञान प्राप्त किया। आनभिम्लात ने आनभिम्लात से, आनभिम्लात ने आनभिम्लात से विद्या प्राप्त की। आनभिम्लात ने गौतम के माध्यम से, गौतम ने सैतव और प्राचीनयोग्य से ज्ञानार्जन किया। सैतव और प्राचीनयोग्य ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने भारद्वाज से विद्या पायी। भारद्वाज ने भारद्वाज और गौतम ऋषि से, गौतम ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने बैजवापायन से और बैजवापायन ने कौशिकायनि से विद्यार्जन किया। कौशिकायनि ने घृतकौशिक से, घृतकौशिक ने पाराशर्यायण से ज्ञानार्जन किया। पाराशर्यायण ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने जातूकर्ण्य से, जातूकर्ण्य ने आसुरायण और यास्कमुनि से, आसुरायण ने त्रैवणि से, त्रैवणि ने औपजन्थनि से ज्ञानार्जन किया। औपजन्थनि ने आसुरि से, आसुरि ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने आत्रेय से, आत्रेय ने माणिट से विद्या प्राप्त की। माणिट ने गौतम से, गौतम ने वात्स्य से, वात्स्य ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने कैशोर्य काप्य से ज्ञान लाभ प्राप्त किया। कैशोर्य काप्य ने कुमार हारित से, कुमार हारित ने गालव से, गालव ने विदर्भी कौण्डन्य से, विदर्भी कौण्डन्य ने वत्सनपात् बाभ्रव से, वत्सनपात् बाभ्रव ने पन्थासौभर से, पन्थासौभर ने अयास्य आङ्गिरस से, अयास्य आङ्गिरस ने आभूति त्वाष्ट्र से विद्यार्जन किया। आभूति त्वाष्ट्र ने विश्वरूप त्वाष्ट्र से, विश्वरूप त्वाष्ट्र ने अश्विनीकुमारों के द्वारा, अश्विनीकुमारों ने दध्यङ् आर्थर्वण से, दध्यङ् आर्थर्वण ने अथर्वादैव से, अथर्वादैव ने मृत्यु प्राध्वंसन से ज्ञान प्राप्त किया। मृत्यु प्राध्वंसन ने प्रध्वंसन से एवं प्रध्वंसन ने एकर्षि से, एकर्षि ने विप्रचित्ति के द्वारा ज्ञान पाया। विप्रचित्ति ने व्यष्टि से, व्यष्टि ने सनारु से, सनारु ने सनातन से, सनातन ने सनग के माध्यम से, सनग ने परमेष्ठी के द्वारा और परमेष्ठी ने इस दिव्य ज्ञान को ब्रह्मा के द्वारा प्राप्त किया। ब्रह्मा स्वयंभू हैं। उन ब्रह्मा को नमन है॥ १-३॥

[ इस ब्राह्मण में ज्ञान-प्राप्त करने वाले ऋषियों की परम्परा का उल्लेख है। किसी-किसी ऋषि का परस्पर एक दूसरे से ज्ञान प्राप्त करने का तथा किसी-किसी को एकाधिक बार परस्पर ज्ञान प्राप्त करने का उल्लेख है। लगता है कि सर्वोच्च शक्तिमान् की जैसी अनुभूति जिसे हुई, उन्होंने एक दूसरे को उससे लाभान्वित किया और यह एकाधिक बार भी हुआ होगा। ]



## ॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

### ॥ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणोन यज्ञेनेजे तत्र ह कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुस्तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कःस्विदेषां ब्राह्मणानामनूचानतम इति स ह गवाः सहस्रमवरुरोध दश दश पादा एकैकस्याः शृङ्गयोराबद्धा बभूवुः ॥ १ ॥

विदेहराज जनक ने एक महान् (बड़ी) दक्षिणा वाले यज्ञ (अश्वमेध) के द्वारा यजन किया। उस यज्ञ में पाञ्चाल और कुरु प्रदेशों के बहुत से विद्वान् ब्राह्मण एकत्र हुए। तब राजा को यह ज्ञात करने की इच्छा हुई कि इन विद्वानों में सर्वोत्कृष्ट कौन है? इस निमित्त उनने अपनी गोशाला की एक सहस्र गौओं के सींगों में दस-दस पाद (लगभग १०० ग्राम) स्वर्ण बँधवा दिया ॥ १ ॥

तान्होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मिष्ठः स एता गा उदजतामिति ते ह ब्राह्मणा न दधृषुरथ ह याज्ञवल्क्यः स्वमेव ब्रह्मचारिणमुवाचैताः सोम्योदज सामश्रवा ३ इति ता होदाचकार ते ह ब्राह्मणाश्शुक्रुधुः कथं नो ब्रह्मिष्ठो ब्रुवीतेत्यथ ह जनकस्य वैदेहस्य होताश्वलो बभूव स हैनं पप्रच्छ त्वं नु खलु नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसी३ति स होवाच नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयः स्म इति तः ह तत एव प्रष्टं दधे होताश्वलः ॥ २ ॥

राजा जनक ने उन ब्राह्मणों से कहा- हे पूज्य विद्वानो! आप लोगों में जो सर्वाधिक ब्रह्मनिष्ठ हो, वह इन गौओं को ले जाए। उन ब्राह्मणों में से किसी का भी अपने को श्रेष्ठ ब्रह्मनिष्ठ कहने का साहस न हुआ। तब महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपने एक शिष्य ब्रह्मचारी सामश्रवा से कहा- हे सोम्य सामश्रवा! तुम इन गौओं को (हमारे निमित्त) हाँक ले जाओ। उस ब्रह्मचारी द्वारा गौओं को हाँक ले जाने पर अन्य विद्वान् ब्राह्मण बहुत क्रोधित हुए और बोले कि इसने हममें से अपने को सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मनिष्ठ कैसे समझ लिया? इसके पश्चात् राजा के यज्ञ के होता अश्वल ने ऋषि याज्ञवल्क्य से पूछा- हे ऋषे! क्या आप हम सभी में उत्कृष्ट ब्रह्मज्ञानी हैं? ऋषि याज्ञवल्क्य बोले- ब्रह्मज्ञानियों को तो मेरा नमन है। हमें तो केवल गौओं की आकांक्षा है। तब अश्वल ने दृढ़ निश्चय करके ऋषि से प्रश्न किया ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदः सर्व मृत्युनामः सर्व मृत्युनाभिपन्नं केन यजमानो मृत्योरास्मिमतिमुच्यत इति होत्रत्विजाग्निना वाचा वाचै यज्ञस्य होता तद्येयं वाक् सोऽयमग्निः स होता स मुक्तिः सातिमुक्तिः ॥ ३ ॥

हे याज्ञवल्क्य! यह समस्त विश्व जब मृत्यु से संव्यास और मृत्यु के द्वारा अधीन किया हुआ है, तब केवल यजमान ही किस तरह मृत्यु के बन्धन का अतिक्रमण कर सकता है? ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा कि केवल यजमान ही मृत्यु के बन्धन का अतिक्रमण कर सकता है? ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा कि होता नामक ऋत्विक् वाक् और अग्नि है, वह (होता-वाक् शक्ति और अग्नि के द्वारा) मृत्यु को पार कर सकता है। वही मुक्ति और अतिमुक्ति है ॥ ३ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदः सर्वमहोरात्राभ्यामासः सर्वमहोरात्राभ्यामभिपन्नं केन यजमानोऽहोरात्रयोरासिमतिमुच्यत इत्यध्वर्युणर्त्तिजा चक्षुषादित्येन चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युस्तद्यदिदं चक्षुः सोऽसावादित्यः सोऽध्वर्युः स मुक्तिः सातिमुक्तिः ॥ ४ ॥

अश्वल ने कहा- हे याज्ञवल्क्य ! सब कुछ दिन और रात्रि से संव्याप्त है और सभी कुछ दिन और रात्रि द्वारा अपने वश में किया हुआ है, फिर यजमान किस प्रकार दिन और रात्रि के बन्धन से मुक्त हो सकता है ? ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा कि ऋत्तिविक् नेत्र और सूर्य के माध्यम से ( यजमान दिन और रात्रि के बन्धन से) मुक्त हो सकता है । अध्वर्यु ही यज्ञ का चक्षु है, अस्तु, नेत्र ही आदित्य और वही अध्वर्यु है । मुक्ति और अतिमुक्ति भी वही है ॥ ४ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदः सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामासः सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामभिपन्नं केन यजमानः पूर्वपक्षापरपक्षयोरासिमतिमुच्यत इत्युद्गात्रर्त्तिजा वायुना प्राणेन प्राणो वै यज्ञस्योदाता तद्योऽयं प्राणः स वायुः स उद्गाता स मुक्तिः सातिमुक्तिः ॥ ५ ॥

अश्वल ने प्रश्न किया- हे याज्ञवल्क्य ! सब कुछ पूर्वपक्ष ( कृष्णपक्ष ) और अपर पक्ष ( शुक्लपक्ष ) के द्वारा आवृत है और उन्हीं के द्वारा ग्रसित है, फिर यजमान किस प्रकार कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष से मुक्त हो सकता है ? तब ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- ऋत्तिविज्, उद्गाता, वायु और प्राण के माध्यम से मुक्त हो सकता है । उद्गाता को यज्ञ का प्राण कहा गया है तथा यह प्राण ही वायु और उद्गाता है । यही मुक्ति और अतिमुक्ति स्वरूप है ॥ ५ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदमन्तरिक्षमनारम्बणमिव केनाक्रमेण यजमानः स्वर्गलोकमाक्रमत इति ब्रह्मणर्त्तिजा मनसा चन्द्रेण मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा तद्यदिदं मनः सोऽसौ चन्द्रः स ब्रह्मा स मुक्तिः सातिमुक्तिरित्यतिमोक्षा अथ संपदः ॥ ६ ॥

अश्वल ने कहा- हे याज्ञवल्क्य ! यह अन्तरिक्ष निरालम्ब प्रतीत होता है, फिर यजमान किस संसाधन से स्वर्गारोहण करता है ? याज्ञवल्क्य बोले कि ऋत्तिविज्-ब्रह्मा और चन्द्रमा के माध्यम से स्वर्गारोहण करता है । मन ही चन्द्रमा है । मन ही यज्ञ का ब्रह्मा है । मुक्ति और अतिमुक्ति भी वही है । यजमान इसी के द्वारा अतिमुक्ति प्राप्त करता है । अब सम्पद निरूपण किया जाता है ॥ ६ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्यार्ग्भर्होतास्मिन्यज्ञे करिष्यतीति तिसृभिरिति कतमास्तास्तिस्त इति पुरोऽनुवाक्या च याज्ञ्या च शस्यैव तृतीया किं ताभिर्जयतीति यत्किंचेदं प्राणभृदिति ॥ ७ ॥

अश्वल ने पूछा- हे याज्ञवल्क्य ! आज होता यज्ञ में कितनी ऋचाओं का शस्त्रशंसन ( प्रयोग ) करेगा ? याज्ञवल्क्य ने कहा- तीन ऋचाओं के द्वारा । अश्वल ने पूछा- उन तीन ऋचाओं के क्या नाम हैं ? ऋषि ने कहा- प्रथम- पुरोनुवाक्या ( यजन से पहले वाली ) है, द्वितीय- याज्ञ्या ( यज्ञ के समय उच्चारित ) है और तृतीय - शस्या ( यज्ञ के बाद की स्तुतियाँ ) है । प्रश्नः- इनसे किसे जीता जाता है ? उत्तरः- यह जो भी प्राणि-समुदाय है, वह सब ( जीता जाता है ) ॥ ७ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्याध्वर्युरस्मिन्यज्ञ आहुतीहोष्ट्रीति तिस्त्र इति कतमास्तास्तिस्त्र इति या हुता उज्ज्वलन्ति या हुता अतिनेदन्ते या हुता अधिशेरते किं ताभिर्जयतीति या हुता उज्ज्वलन्ति देवलोकमेव ताभिर्जयति दीप्यत इव हि देवलोको या हुता अतिनेदन्ते पितृलोकमेव ताभिर्जयत्यतीव हि पितृलोको या हुता अधिशेरते मनुष्यलोकमेव ताभिर्जयत्यथ इव हि मनुष्यलोकः ॥ ८ ॥

अश्वल ने प्रश्न किया- हे याज्ञवल्क्य ! इस यज्ञ में आज अध्वर्यु कितनी आहुतियाँ प्रदान करेगा ? उन्होंने कहा- 'तीन' । फिर उसने पूछा कि तीन कौन-कौन सी ? तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि पहली वह जो होमे जाने पर प्रज्ज्वलित होती है, दूसरी वह जो तीव्र शब्द करती है और तीसरी आहुति वह, जो होमे जाने पर पृथ्वी में विलीन हो जाती है । अश्वल ने पुनः प्रश्न किया कि इन आहुतियों के द्वारा यजमान किस प्रकार विजय प्राप्त करता है ? ऋषि ने बताया- प्रथम आहुति से यजमान देवलोक को जीत लेता है, द्वितीय के द्वारा पितृलोक को और तृतीय के द्वारा मनुष्य लोक को जीत लेता है, क्योंकि मनुष्य लोक निम्रवर्ती है ॥ ८ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्य ब्रह्मा यज्ञं दक्षिणतो देवताभिर्गोपायतीत्येकयेति कतमा सैकेति मन एवेत्यनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥ ९ ॥

अश्वल ने पूछा- यज्ञ के ब्रह्मा आज इस यज्ञ में दक्षिण दिशा की ओर से कितने देवताओं के द्वारा यज्ञ का संरक्षण करेंगे ? ऋषि ने उत्तर दिया केवल एक देवता के द्वारा । अश्वल ने कहा- किस देवता के द्वारा ? ऋषि ने कहा- वह देवता मन है । मन अनन्त है और विश्वेदेवा भी अनन्त हैं । उस मन रूपी देवता के द्वारा यजमान अनन्त लोकों पर विजय प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्योद्दातास्मिन्यज्ञे स्तोत्रियाः स्तोष्ट्रीति तिस्त्र इति कतमास्तास्तिस्त्र इति पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया कतमास्ता या अध्यात्ममिति प्राण एव पुरोनुवाक्याऽपानो याज्या व्यानः शस्या किं ताभिर्जयतीति पृथिवीलोकमेव पुरोनुवाक्यया जयत्यन्तरिक्षलोकं याज्यया द्युलोकः शस्यया ततो ह होताश्वल उपरराम ॥

अश्वल ने पूछा- हे याज्ञवल्क्य ! आज उद्गाता इस यज्ञ में कितने स्तोत्रों का गायन करेगा ? याज्ञवल्क्य ने कहा- तीन स्तोत्रों का । तब अश्वल ने पूछा- वे तीन स्तोत्र कौन से हैं ? ऋषि ने कहा- पुरोनुवाक्या, याज्या और शस्या नामक वे तीन स्तोत्र हैं । अश्वल ने पूछा- इनमें शरीर में रहने वाले कौन से हैं ? ऋषि ने कहा- प्राण ही पुरोनुवाक्या है, अपान ही याज्या है और व्यान ही शस्या है । अश्वल के यह पूछने पर कि इन स्तोत्रों द्वारा किस पर विजय प्राप्त की जा सकती है, ऋषि बोले- पुरोनुवाक्या से पृथिवी लोक पर, याज्या द्वारा अन्तरिक्ष लोक पर और शस्या द्वारा द्युलोक पर विजय प्राप्त की जा सकती है । यह सुन कर अश्वल चुप हो गये ॥ १० ॥

॥ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनं जारत्कारव आर्तभागः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इत्यष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इति ये ते तेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः कतमे त इति ॥ १ ॥

इसके बाद जारत्कारव आर्तभाग (जरत्कारु के पुत्र आर्तभाग) ने ऋषि याज्ञवल्क्य से पूछा - हे याज्ञवल्क्य ! ग्रह और अतिग्रहों की संख्या कितनी है ? ऋषि ने उत्तर दिया कि ये आठ-आठ हैं । इस पर आर्तभाग ने पूछा- वे आठ ग्रह-आठ अतिग्रह कौन-कौन हैं ॥ १ ॥

**प्राणो वै ग्रहः सोऽपानेनातिग्राहेण गृहीतोऽपानेन हि गन्धाज्जिघ्रति ॥ २ ॥**

ऋषि याज्ञवल्क्य बोले - प्राण ही ग्रह है, वह प्राण रूपी ग्रह अपान सम्पन्न अतिग्रह के द्वारा गृहीत है, क्योंकि प्राणग्रह अपान अतिग्रह द्वारा ही सूँधने का कार्य सम्पन्न कर सकता है ॥ २ ॥

**वाग्वै ग्रहः स नाम्नातिग्राहेण गृहीतो वाचा हि नामान्यभिवदति ॥ ३ ॥**

वाक् शक्ति ही ग्रह है, वह नाम रूपी अतिग्रह द्वारा ग्रहण की हुई है, क्योंकि वाक् के द्वारा ही उच्चारण सम्पन्न होता है ॥ ३ ॥

**जिह्वा वै ग्रहः स रसेनातिग्राहेण गृहीतो जिह्वया हि रसान्विजानाति ॥ ४ ॥**

रसना ही ग्रह है, वह रसरूपी अतिग्रह द्वारा ग्रहण की हुई है, क्योंकि रसना के द्वारा ही स्वादानुभूति होती है ॥

**चक्षुर्वै ग्रहः स रूपेणातिग्राहेण गृहीतश्चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति ॥ ५ ॥**

नेत्रेन्द्रिय ही ग्रह है, वह रूप के अतिग्रह द्वारा ग्रहण किया गया है; क्योंकि नेत्रेन्द्रिय द्वारा ही रूप का दर्शन किया जा सकता है ॥ ५ ॥

**श्रोत्रं वै ग्रहः स शब्देनातिग्राहेण गृहीतः श्रोत्रेण हि शब्दाञ्छृणोति ॥ ६ ॥**

श्रोत्रेन्द्रिय ही ग्रह है, वह शब्द रूपी अतिग्रह द्वारा ग्रहण किया हुआ है; क्योंकि जीवात्मा श्रोत्र द्वारा ही शब्द का श्रवण करता है ॥ ६ ॥

**मनो वै ग्रहः स कामेनातिग्राहेण गृहीतो मनसा हि कामान्कामयते ॥ ७ ॥**

मन ही ग्रह है, वह कामनारूपी अतिग्रह द्वारा ग्रहण किया हुआ है; क्योंकि मन से ही कामनाएँ की जाती हैं ॥

**हस्तौ वै ग्रहः स कर्मणातिग्राहेण गृहीतो हस्ताभ्यां हि कर्म करोति ॥ ८ ॥**

हाथ ही ग्रह हैं, वे कर्मरूपी अतिग्रह से ग्रस्त हैं; क्योंकि व्यक्ति हाथों द्वारा ही कार्य सम्पादित करता है ॥ ८ ॥

**त्वचौ वै ग्रहः स स्पर्शेनातिग्राहेण गृहीतस्त्वचा हि स्पर्शान्वेदयत इत्येतेऽष्टौ ग्रहाअष्टावतिग्रहाः ॥ ९ ॥**

त्वचा ही ग्रह है, वह स्पर्श रूपी अतिग्रह से गृहीत है; क्योंकि त्वचा द्वारा ही स्पर्श की अनुभूति की जाती है । इस प्रकार ग्रह और अतिग्रह ये आठ-आठ हैं ॥ ९ ॥

**याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदः सर्वं मृत्योरन्नं का स्वित्सा देवता यस्या मृत्युरन्नमित्यग्निर्वै मृत्युः सोऽपामन्नमप पुनर्मृत्युं जयति ॥ १० ॥**

आर्तभाग जारत्कारव ने कहा- हे याज्ञवल्क्य ! इस सृष्टि में जो कुछ है, सब मृत्यु का ही खाद्य पदार्थ है, अतः वह कौन सा देवता है, जिसका भोजन मृत्यु है ? ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- अग्रि ही मृत्यु है और वह अप् (कारण रूप प्रकृति अथवा जल) का भोजन है । इस तथ्य को जानने वाला मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है ॥ १० ॥

**याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो मियत उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो ३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवनीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते ॥ ११ ॥**

आर्तभाग ने पुनः प्रश्न किया- हे याज्ञवल्क्य ! मरने के समय इस पुरुष के प्राण उत्क्रमण (बहिर्गमन) करते हैं या नहीं ? ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- नहीं ऐसा नहीं है। उस पुरुष के प्राण मृत्यु के पश्चात् यहीं विलीन हो जाते हैं। वह फूल जाता है (वायु को अन्दर खींचता है) और मृत होकर वहीं शयन करता है ॥

**याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो मियते किमेनं न जहातीति नामेत्यनन्तं वै नामानन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥ १२ ॥**

आर्तभाग ने फिर पूछा- हे याज्ञवल्क्य ! मृत्यु के उपरान्त पुरुष का कौन परित्याग नहीं करता ? ऋषि ने उत्तर दिया- मृत्यु के पश्चात् 'नाम' पुरुष का परित्याग नहीं करता। नाम अनन्त है और विश्वेदेवा भी अनन्त हैं, अतः पुरुष अनन्तलोक पर विजय प्राप्त कर लेता है ॥ १२ ॥

**यज्ञवल्क्येति होवाच यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्वक्षुरादित्यं मनश्वन्दं दिशः श्रोत्रं पृथिवीः शरीरमाकाशमात्मौषधीलोमानि वनस्पतीन्केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते क्रायं तदा पुरुषो भवतीत्याहर सोम्य हस्तमार्तभागावामेवैतस्य वेदिष्यावो न नावेतत् सज्जन इति तौ होत्क्रम्य मन्त्रयांचक्राते तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ यत्प्रशशाः सतुः कर्म हैव तत्प्रशशाः सतुः पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति ततो ह जारत्कारव आर्तभाग उपरराम ॥ १३ ॥**

जारत्कारव आर्तभाग ने पुनः पूछा- हे याज्ञवल्क्य ! जिस समय इस पुरुष की वाक् अग्नि में विलीन हो जाती है, प्राण वायु में, चक्षु आदित्य में, मन चन्द्रमा में, श्रोत्र दिशाओं में, शरीर पृथ्वी में, आत्मा आकाश में, लोम समूह औषधियों में, केश वनस्पतियों में लीन हो जाते हैं और रक्त तथा रेतस् का जल में स्थापन हो जाता है, उस समय वह पुरुष कहाँ निवास करता है ? याज्ञवल्क्य बोले- हे सोम्य आर्तभाग ! तुम मुझे अपना हाथ पकड़ाओ, हम दोनों को ही इस प्रश्न का उत्तर समझना होगा; किन्तु इस जनसभा के बीच यह उचित नहीं है। (हम दोनों बाहर चलें) दोनों ने उठकर बाहर (एकान्त में) जाकर चिन्तन किया और लौटकर दोनों कर्म के विषय में प्रशंसा करने लगे। निश्चित ही पुण्य कृत्यों से पुण्य और पाप कृत्यों से पाप प्राप्त होता है। इसके अनन्तर जारत्कारव आर्तभाग मौन हो गये ॥ १३ ॥

[ यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि ऋषियों के वार्तालाप जिज्ञासा समाधान के लिए, सत्य शोध के लिए ही होते थे। जो तथ्य सुनिश्चित रूप से पता था, वे वही कहते थे, जिन तथ्यों को परामर्श द्वारा स्पष्ट किया जाना है, उनके बारे में स्पष्ट रूप से सुपात्र के साथ विचार मंथन किया जाता था । ]

## ॥ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनं भुज्युलाह्यायनिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम ते पतञ्जलस्य काप्यस्य गृहानैम तस्यासीद्दुहिता गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत्सुधन्वा ऽद्विरस इति तं यदा लोकानामन्तानपृच्छामाथैनमब्रूम क्व पारिक्षिता अभवन्निति क्व पारिक्षिता अभवन् स त्वा पृच्छामि याज्ञवल्क्य क्व पारिक्षिता अभवन्निति ॥ १ ॥

इसके बाद भुज्यु लाह्यायनि (लाह्य के पुत्र) ने ऋषि याज्ञवल्क्य से पूछा- हे याज्ञवल्क्य ! हम लोग मद्र प्रदेश में व्रताचरण (भ्रमण) करते हुए विद्यार्थी के रूप में कपि गोत्र में उत्पन्न पतञ्चल काप्य के घर गये। काप्य की पुत्री गन्धर्व (से आवेशित) गृहीत थी। हमारे उससे यह पूछने पर कि तुम कौन हो ? वह (गन्धर्व जो काप्यसुता पर आवेशित था) बोला- मैं आङ्गिरस सुधन्वा हूँ। तदुपरान्त लोकों के अन्त के सम्बन्ध में प्रश्न करते हुए हमने उससे यह भी पूछा कि पारिक्षित कहाँ रहे ? पारिक्षित कहाँ रहे ? अतः हे याज्ञवल्क्य ! हम आप से भी पूछते हैं कि पारिक्षित कहाँ रहे ? ॥ १ ॥

स होवाचोवाच वै सोगच्छन्वै ते तद्यत्राश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति क्र न्वश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति द्वात्रिःशतं वै देवरथाह्यान्ययं लोकस्तः समन्तं पृथिवी द्विस्तावत्पर्येति ताः समन्तं पृथिवीं द्विस्तावत्समुद्रः पर्येति तद्यावती क्षुरस्य धारा यावद्वा मक्षिकायाः पत्रं तावानन्तरेणाकाशस्तानिन्द्रः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छन्तान्वायुरात्मनि धित्वा तत्रागमयद्यत्राश्वमेधयाजिनोऽभवन्नित्येवमेव वै स वायुमेव प्रशशः स तस्माद्वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद ततो ह भुज्युर्लाह्यायनिरुपरराम ॥ २ ॥

ऋषि याज्ञवल्क्य बोले- उस गन्धर्व ने अवश्य ही यह उत्तर दिया होगा कि पारिक्षित वहाँ चले गये, जहाँ अश्वमेध सम्पन्न करने वाले जाते हैं। भुज्यु ने पूछा- अश्वमेध सम्पादक कहाँ जाते हैं ? ऋषि बोले- एक दिन और रात्रि में आदित्य का रथ जितने स्थान में चलता है, उतने को 'ज्ञाह्य' कहते हैं। ऐसे बत्तीस आह्य परिमाण वाला वह लोक है। उस लोक को चारों ओर से पृथिवी और उस पृथिवी से दुगुना समुद्र उसे घेरे हुए है। उन अण्ड कपालों के बीच में छुरे की धार अथवा मक्खी के पंख जितना चौड़ा आकाश (अथवा प्रवेश मार्ग) है। इन्द्र ने उन्हें (पारिक्षित को) वायु को प्रदान किया और वायुदेव उन्हें अपने में स्थापित करके वहाँ ले गये, जहाँ अश्वमेध सम्पन्न करने वाले रहते हैं। इस प्रकार उस गन्धर्व ने वायुदेव की सराहना की। अस्तु, वायु ही व्यष्टि और समष्टि है। इस प्रकार ज्ञान रखने वाला पुनर्मृत्यु को जीत लेता है। यह सुनकर भुज्यु लाह्यायनि भी चुप हो गये ॥ २ ॥

## ॥ चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनमुषस्तश्चाक्रयणः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्मय आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्व इत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानीति स त आत्मा सर्वान्तरो यो व्यानेन व्यानिति स त आत्मा सर्वान्तरो य उदानेनोदानिति स त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्मा सर्वान्तरः ॥ १ ॥

इसके पश्चात् चक्रपुत्र उषस्त ने ऋषि याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया- हे याज्ञवल्क्य ! जो प्रत्यक्ष और साक्षात् ब्रह्म है तथा सबके अन्तर में स्थित आत्मा है, उसका मेरे लिए वर्णन कीजिए। ऋषि याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- तुम्हारी आत्मा ही सबके अन्तर में विराजमान है। जब उषस्त ने कहा- हे याज्ञवल्क्य ! सर्वान्तर कौन है ? तब ऋषि ने कहा- जो प्राण के द्वारा प्राणन प्रक्रिया करता है (श्वास लेता है), वही तुम्हारा

आत्मा सर्वान्तर है, जो अपान के द्वारा अपानन क्रिया करता है, वही तुम्हारा आत्मा सर्वान्तर है, जो व्यान से व्यानन क्रिया करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही सर्वान्तर है, जो उदान से उदानन क्रिया सम्पन्न करता है, वही तुम्हारी आत्मा सर्वान्तर होकर विराजित है ॥ १ ॥

स होवाचोषस्तश्चाक्रायणो यथा विब्रूयादसौ गौरसावश्च इत्येवमेवैतद्व्यपदिष्टं भवति  
यदेव साक्षादपरोक्षाद्व्यह्य य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्षवेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो  
याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येन्श्रुतेः श्रोतारः शृणुयान्न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न  
विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीया एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तं ततो होषस्तश्चाक्रायण  
उपराम ॥ २ ॥

चाक्रायण उषस्त ने कहा- जिस प्रकार कोई यह कहता है कि यह गौ है, यह अश्व है, आपका यह कथन उसी प्रकार का है। अतः आप हमें साक्षात्, प्रत्यक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा के विषय में स्पष्ट रूप से बतलाएँ। याज्ञवल्क्य ने कहा- तुम्हारी आत्मा ही सर्वान्तर में प्रतिष्ठित है। दृष्टि के द्रष्टा को देख सकना, श्रुति के श्रोता को सुन सकना, मति के मन्ता को मनन करना और विज्ञाति के विज्ञाता को जान सकना तुम्हरे लिए असम्भव है। तुम्हारा यह आत्मा ही सर्वान्तर है, इसके अतिरिक्त सब नाशवान् (और दुःख का कारण) है। यह सुनने के पश्चात् उषस्त मौन हो गए ॥ २ ॥

## ॥ पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनं कहोलः कौषीतकेयः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदेव साक्षादरपरोक्षाद्व्यह्य  
य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्षवेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो  
योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति । एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः  
पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्य चरन्ति या होव पुत्रैषणा  
सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे होते एषणे एव भवतस्तस्माद् ब्राह्मणः  
पाणिडत्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्वाल्यं च पाणिडत्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च  
निर्विद्याऽथ ब्राह्मणः स ब्राह्मणः केन स्याद्येन स्यात्तेनेदश एवातोऽन्यदार्तं ततो ह कहोलः  
कौषीतकेय उपराम ॥ १ ॥

तत्पश्चात् कौषीतकेय कहोल ने ऋषि याज्ञवल्क्य से पूछा- हे याज्ञवल्क्य! आप साक्षात्, अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा का हमारे प्रति वर्णन कीजिए। तब याज्ञवल्क्य ने कहा- तुम्हारा आत्मा ही सर्वान्तर में प्रतिष्ठित है। पुनः कहोल ने पूछा कि यह सर्वान्तर आत्मा कौन सा है? तब याज्ञवल्क्य ने कहा- वह भूख, प्यास, जरा, मृत्यु, शोक और मोह से परे है। इस आत्म तत्त्व को जानकर ही ब्रह्मवेत्ता पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा का परित्याग कर भिक्षाटन करते हुए विचरण करते हैं। पुत्रैषणा ही वित्तैषणा है और वित्तैषणा ही लोकैषणा है। अतः ब्रह्मज्ञानी को चाहिए कि इन दोनों (काम्य और कामनाओं) को जानता हुआ आत्मबल सम्पन्न होकर मनन करे। अमौन (बोलने की शक्ति) और मौन साधना युक्त होकर ब्राह्मण (धन्य) होता है। ब्राह्मण होने के यही साधन हैं। इसके अतिरिक्त जो भी हैं, वह नाशवान् और दुःख के हेतु हैं। यह सुनने के बाद कौषीतकेय कहोल मौन हो गए ॥ १ ॥

## ॥ षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनं गार्गी वाचक्रवी पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदः सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च कस्मिन् खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति वायौ गार्गीति कस्मिन् खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति कस्मिन् खल्वन्तरिक्षलोका ओताश्च प्रोताश्चेति गन्धर्वलोकेषु गार्गीति कस्मिन् खलु गन्धर्वलोका ओताश्च प्रोताश्चेत्यादित्यलोकेषु गार्गीति कस्मिन् खलु गन्धर्वलोका ओताश्च प्रोताश्चेति चन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन् खलु चन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति नक्षत्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन् खलु नक्षत्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति देवलोकेषु गार्गीति कस्मिन् खलु देवलोका ओताश्च प्रोताश्चेतीन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन् खल्वन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति प्रजापतिलोकेषु गार्गीति कस्मिन् खलु प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ब्रह्मलोकेषु गार्गीति कस्मिन् खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति स होवाच गार्गी मातिप्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपसदनतिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि गार्गी मातिप्राक्षीरिति ततो ह गार्गी वाचक्रव्युपरराम ॥ १ ॥

इसके पश्चात् वचक्षुसुता गार्गी ने याज्ञवल्क्य से पूछा- हे याज्ञवल्क्य ! जब सभी कुछ जल में ओत-प्रोत है, तब जल किसमें ओत-प्रोत है ? ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- हे गार्गी ! जल, वायु में ओत-प्रोत है। गार्गी ने पुनः प्रश्न किया, फिर वायु किसमें ओत-प्रोत है ? ऋषि ने कहा- वायु अन्तरिक्ष लोकों में ओत-प्रोत है। पुनः पूछा गया- और अन्तरिक्ष किसमें ओत-प्रोत है ? तब उत्तर दिया गया कि अन्तरिक्ष गन्धर्व लोकों में ओत-प्रोत है। गार्गी के पुनः यह पूछे जाने पर कि गन्धर्व लोक किसमें ओत-प्रोत हैं ? ऋषि ने उत्तर दिया- आदित्य लोकों में। गार्गी ने पूछा- आदित्य लोक किसमें ओत-प्रोत है ? याज्ञवल्क्य ने कहा- चन्द्रलोकों में, फिर चन्द्रलोक किसमें ओत-प्रोत है ? उत्तर मिला- नक्षत्र लोकों में। नक्षत्र लोक किसमें ओत-प्रोत है ? देव लोकों में। देवलोक किसमें है ? इन्द्र लोकों में। पुनः गार्गी ने पूछा- इन्द्र लोक किसमें ओत-प्रोत है ? ऋषि ने कहा- प्रजापति लोकों में। प्रजापति लोक किसमें ओत-प्रोत है ? ब्रह्म लोकों में। गार्गी ने पुनः पूछा- हे याज्ञवल्क्य ! फिर ब्रह्म लोक किसमें ओत-प्रोत है ? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा- हे गार्गी ! आप अधिक न पूछें। अधिक पूछने से कहीं ऐसा न हो कि आपका मस्तक गिर जाए। आप ऐसे देवता के विषय में अति प्रश्न कर रही हैं, जिसके विषय में अति प्रश्न करना वर्जित है। तब वाचक्रवी गार्गी चुप हो गई ॥ १ ॥

[ जो वाणी से व्यक्त नहीं हो सकता, उस विषय को केवल तर्क से सिद्ध करने का प्रयास करना अति प्रश्न है। जो विद्वान् जानबूझकर अपनी मेधा का उपयोग अहंकारवश ऐसे अनर्गल प्रसंगों में करता है, परा प्रकृति उसे दण्डित कर सकती है। अस्तु, ऋषि ने गार्गी को सावधान कर दिया और वह चुप हो गयी ]

---

## ॥ सप्तमं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनमुदालक आरुणः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेष्ववसाम पतञ्जलस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयानास्तस्यासीद्वार्या गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत् कबन्ध आर्थर्वण इति सोऽब्रवीत्पतञ्जलं काप्यं याज्ञिकाः श्च वेत्थ नु त्वं काप्य तत्सूत्रं

येनायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृष्ट्यानि भवन्तीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तद्दग्वन्वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाः श्रु वेत्थ नु त्वं काप्य तमन्तर्यामिणं य इमं च लोकं परं च लोकः सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयतीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तं भगवन्वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाः श्रु यो वै तत्काप्यसूत्रं विद्यात्तं चान्तर्यामिणमिति स ब्रह्मवित्स लोकवित्स देववित्स वेदवित्स भूतवित्स आत्मवित्स सर्वविदिति तेभ्योऽब्रवीत्तदहं वेद तच्चेत्वं याज्ञवल्क्य सूत्रमविद्वाः स्तं चान्तर्यामिणं ब्रह्मगवीरुदजसे मूर्धा ते विपतिष्ठतीति वेद वा अहं गौतम तत्सूत्रं तं चान्तर्यामिणमिति यो वा इदं कश्चिद्द्वयाद्वेद वेदेति यथा वेत्थ तथा ब्रूहीति ॥ १ ॥

इसके पश्चात् आरुणि-उद्वालक ने महर्षि याज्ञवल्क्य से पूछा- हे याज्ञवल्क्य ! हम मद्र देश में काप्य पतञ्चल के यहाँ यज्ञ शास्त्र का अध्ययन कर रहे थे । उनकी पत्नी एक गन्धर्व के द्वारा आवेशित थी । हमने उस (पत्नी पर आवेशित गन्धर्व) से पूछा- तुम कौन हो ? उसने उत्तर दिया कि मैं अर्थर्वापुत्र कबन्ध हूँ । तब उसने काप्य पतञ्चल और यज्ञ शास्त्र अध्येताओं से प्रश्न किया कि क्या आप उस सूत्र को जानते हैं, जिससे ये लोक, परलोक और समस्त प्राणी गुण्ठे हुए हैं । काप्य पतञ्चल ने कहा- मुझे वह सूत्र जात नहीं है । पुनः उसके यह पूछे जाने पर कि क्या आप उस सूत्र और अन्तर्यामी को जानते हैं, जो इस लोक, परलोक और सभी प्राणियों का नियन्ता है ? काप्य पतञ्चल ने कहा कि मुझे यह भी विदित नहीं है । उस आवेशित गन्धर्व ने पुनः कहा कि जो उस सूत्र और अन्तर्यामी का ज्ञाता है, वह ब्रह्म, लोक, वेद, देवभूतों, आत्मा और सभी का ज्ञाता हो जाता है । इसके पश्चात् गन्धर्व ने उन (काप्य आदि) से सूत्र और अन्तर्यामी को बताया । उसे मैं जानता हूँ । हे याज्ञवल्क्य ! यदि तुम्हें उस सूत्र और अन्तर्यामी का ज्ञान नहीं है और तुम इन ब्रह्मवेत्ताओं की गौओं को ले जाते हो, तो तुम्हारा मस्तक गिर (झुक) जायेगा । ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- हे गौतम ! मैं उस अन्तर्यामी को निश्चित रूप से जानता हूँ । आरुण बोले- यह बात तो कोई भी कह सकता है कि मैं उस सूत्र और अन्तर्यामी को जानता हूँ । आप जिस प्रकार जानते हैं, उसका वर्णन करें ॥ १ ॥

स होवाच वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृष्ट्यानि भवन्ति तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्त्रः सिष्टास्याङ्गानीति वायुना हि गौतम सूत्रेण संदृष्ट्यानि भवन्तीत्येवमेवैत्याज्ञ-वल्क्यान्तर्यामिणं ब्रूहीति ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्य ने कहा- हे गौतम ! वह सूत्र वायु ही है, क्योंकि इहलोक, परलोक और समस्त प्राणी उसी के द्वारा गुण्ठे हुए हैं । इसीलिए प्रायः यह कहते हैं कि मृतक के अंग गिर गये (विशीर्ण हो गये); क्योंकि हे गौतम ! वे (अंग) वायुरूप सूत्र से ही संग्रथित होते हैं । उद्वालक ने कहा- हाँ यह तो ठीक है, अब अन्तर्यामी के विषय में वर्णन करो ॥ २ ॥

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ३ ॥

याज्ञवल्क्य ने कहा- जो पृथिवी में स्थित एवं पृथिवी में संव्यास है, पृथिवी ही जिसका शरीर है, पर उसे पृथिवी नहीं जानती, जो पृथिवी के अन्दर विराजमान रहकर उसका नियन्त्रण करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही अविनाशी और अन्तर्यामी है ॥ ३ ॥

योऽप्सु तिष्ठन्नद्योन्तरो यमापो न विदुर्यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरो यमयत्येष त  
आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ४ ॥

जो जल में निवास करने वाला और उसी में संव्यास है, जल जिसका शरीर है, जल के भीतर रहकर वह उसका नियमन भी करता है; किन्तु जल उसे नहीं जानता, वही आत्मा अमर्त्य-अन्तर्यामी है ॥ ४ ॥

योऽग्नौ तिष्ठन्नग्रेन्तरो यमग्रिन् वेद यस्याग्निः शरीरं योऽग्निमन्तरो यमयत्येष त  
आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ५ ॥

जो अग्नि में निवास करने वाला, अग्नि में संव्यास है और अग्नि ही जिसका शरीर है; किन्तु अग्नि उसे नहीं जानता, जो अग्नि के अन्दर रहकर उसका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अविनाशी है ॥ ५ ॥

योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्नतरिक्षादन्तरो यमन्तरिक्षं न वेद यस्यान्तरिक्षः शरीरं  
योऽन्तरिक्षमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ६ ॥

जो अन्तरिक्ष में निवास करने वाला और उसी में संव्यास है, अन्तरिक्ष ही जिसका शरीर है और अन्तरिक्ष जिसे जानता नहीं है, अन्तरिक्ष के अन्दर रहकर ही जो उसका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अविनाशी है ॥ ६ ॥

यो वायौ तिष्ठन्वायोरन्तरो यं वायुर्न वेद यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरो यमयत्येष  
त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ७ ॥

जो वायु में निवासित, उसी में व्यास है, पर वायु द्वारा ही अज्ञात है, वायु ही जिसका देह है और जो वायु में रहकर ही उसका नियन्त्रण करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अविनाशी है ॥ ७ ॥

यो दिवि तिष्ठन्दिवोऽन्तरो यं द्यौर्न वेद यस्य द्यौः शरीरं यो दिवमन्तरो यमयत्येष त  
आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ८ ॥

जो द्युलोक में निवास करता है, उसी में संव्यास है; किन्तु द्युलोक जिसे नहीं जानता, द्युलोक ही जिसका शरीर है तथा जो उस द्युलोक में रहकर ही उसका नियामक है, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अमर्त्य है ॥ ८ ॥

य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो  
यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ९ ॥

जो आदित्य में निवास करने वाला है, उसी में संव्यास है, आदित्य रूप शरीर वाला है; किन्तु आदित्य जिसे नहीं जानता, वह आदित्य के अन्दर रहकर ही उसका नियन्त्रण करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और मृत्यु से परे है ॥ ९ ॥

यो दिक्षु तिष्ठन्दिग्भ्योऽन्तरो यं दिशो न विदुर्यस्य दिशः शरीरं यो दिशोऽन्तरो यमयत्येष  
त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ १० ॥

जो दिशाओं में रहने वाला है, दिशाओं के अन्दर प्रतिष्ठित है, दिशाएँ हीं जिसकी देह हैं; किन्तु दिशाओं द्वारा वह अज्ञात है, दिशाओं के अन्दर रहकर ही जो दिशाओं का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अमर है ॥ १० ॥

यश्चन्द्रतारके तिष्ठः श्वन्द्रतारकादन्तरो यं चन्द्रतारकं न वेद यस्य चन्द्रतारकः शरीरं  
यश्चन्द्रतारकमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ११ ॥

जो चन्द्र और तारों में स्थित है, उन्हीं में संव्यास है, चन्द्र और तारा रूपी देह वाला है; किन्तु चन्द्र और तारागण उसे नहीं जानते, वह उनके अन्दर रहकर ही उनका नियन्त्रण करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अमर्त्य है ॥ ११ ॥

य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरो यमाकाशो न वेद यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरो  
यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ १२ ॥

जो आकाशस्थ है, आकाश जिसका देह है, जो आकाश के भीतर रहकर ही उसका नियन्त्रण करता है; किन्तु आकाश उसे नहीं जानता, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अमर है ॥ १२ ॥

यस्तमसि तिष्ठः स्तमसोऽन्तरो यं तमो न वेद यस्य तमः शरीरं यस्तमोऽन्तरो यमयत्येष  
त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ १३ ॥

जो तमस् (अन्धकार) में स्थित है, तमरूप देहवाला है; किन्तु तम जिसे नहीं जानता, जो तम में रहकर ही उसका नियन्त्रण करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अविनाशी है ॥ १३ ॥

यस्तेजसि तिष्ठः स्तेजसोऽन्तरो यं तेजो न वेद यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरो  
यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत इत्यधिदैवतमथाधिभूतम् ॥ १४ ॥

जो तेज में निवास करने वाला है, तेजरूप शरीर वाला है; किन्तु तेज जिसे नहीं जानता, जो तेज में रहकर ही उसका नियन्त्रण करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अमर्त्य है ॥ १४ ॥

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यः सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य  
सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत  
इत्यधिभूतमथाध्यात्मम् ॥ १५ ॥

जो समस्त भूतों में निवास करता है, समस्त भूत जिसके शरीर हैं; किन्तु समस्त भूत जिसे नहीं जानते, समस्त भूतों के अन्तर में स्थित रहकर, जो सबका नियमन करता है, वही तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी और अनश्वर है, यह अधिभूत दर्शन सम्पन्न हुआ। अब अध्यात्म दर्शन का वर्णन किया जाता है ॥ १५ ॥

यः प्राणे तिष्ठन्नाणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमन्तरो  
यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ १६ ॥

जो प्राण के अन्दर स्थित है, प्राण ही जिसका शरीर है; किन्तु प्राण जिसे नहीं जानता, प्राण में रहकर ही वह उसका नियन्त्रण करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अमृत है ॥ १६ ॥

यो वाचि तिष्ठन्वाचोऽन्तरो यं वाङ्मन्त्र वेद यस्य वाक् शरीरं यो वाचमन्तरो यमयत्येष  
त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ १७ ॥

जो वाणी में निवास करता है, वाणी ही जिसकी काया है, जो वाणी में स्थित रहकर ही उसका नियमन करता है; किन्तु वाणी जिसे नहीं जानती, वह आत्मा ही अन्तर्यामी और अविनाशी है ॥ १७ ॥

यश्चक्षुषि तिष्ठःशक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुः शरीरं यश्चक्षुरन्तरो यमयत्येष  
त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ १८ ॥

जो नेत्रेन्द्रिय में विराजित है, नेत्र ही जिसका शरीर है, नेत्र में रहकर ही जो उसका नियमन करता है; किन्तु नेत्र उसे नहीं जानता, वह तुम्हारा अन्तरात्मा ही अन्तर्यामी और अमर्त्य है ॥ १८ ॥

यः श्रोत्रे तिष्ठज्ञोत्रादन्तरो यः श्रोत्रं न वेद यस्य श्रोत्रः शरीरं यः श्रोत्रमन्तरो  
यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ १९ ॥

जो श्रोत्रेन्द्रिय में विद्यमान है, श्रोत्र ही जिसका शरीर है, जो श्रोत्र के अन्दर रहकर ही उसका नियमन करता है; किन्तु श्रोत्र उसे नहीं जानता, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अविनाशी है ॥ १९ ॥

यो मनसि तिष्ठन्मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरो यमयत्येष  
त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ २० ॥

जो मन के अन्दर निवास करने वाला है, मन ही जिसका शरीर है, मन में रहकर ही जो मन का नियामक है; किन्तु मन उसे नहीं जानता। वह तुम्हारा आत्मा ही अविनाशी और अन्तर्यामी है ॥ २० ॥

यस्त्वचि तिष्ठःस्त्वचोऽन्तरो यं त्वङ्ग्न वेद यस्य त्वक् शरीरं यस्त्वचमन्तरो यमयत्येष  
त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ २१ ॥

जो त्वचा में विराजित है, त्वचा ही जिसका शरीर है, त्वचा में रहकर ही जो त्वचा का नियमन करता है और त्वचा जिससे अपरिचित है, वह तुम्हारा आत्मा ही अविनाशी और अन्तर्यामी है ॥ २१ ॥

यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानः शरीरं यो विज्ञानमन्तरो  
यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ २२ ॥

जो विज्ञान में निवास करने वाला है, विज्ञान ही जिसका शरीर है, जो विज्ञान में रहकर ही उसका नियन्त्रण करता है; किन्तु विज्ञान उससे अपरिचित है, वह अन्तरात्मा ही अविनाशी और अन्तर्यामी है ॥ २२ ॥

यो रेतसि तिष्ठन् रेतसोऽन्तरो यः रेतो न वेद यस्य रेतः शरीरं यो रेतोऽन्तरो यमयत्येष  
त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽदृष्टो द्रष्टाश्रुतः श्रोतामतो मन्ताविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति  
द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त  
आत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्वालक आरुणिरुपरराम ॥ २३ ॥

जो वीर्य में निवास करता है, वीर्य ही जिसका शरीर है, जो वीर्य में रहकर ही वीर्य का नियन्त्रण करता है; किन्तु वीर्य उससे अपरिचित है, वह तुम्हारा आत्मा ही अनश्वर और अविनाशी है। वह दिखाई नहीं देता; किन्तु देखता है, सुनाई नहीं देता; किन्तु सुनता है, वह मनन करने का विषय नहीं है; किन्तु मनन करता है, वह स्वयं अविज्ञात है, पर सबको जानता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई द्रष्टा, श्रोता, मनन करने वाला और जानने वाला नहीं है। तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अविनाशी है। इससे भिन्न सभी नश्वर हैं। इसके अनन्तर आरुणि उद्वालक मौन हो गये ॥ २३ ॥

## ॥ अष्टमं ब्राह्मणम् ॥

अथ ह वाचक्रव्युवाच ब्राह्मणा भगवन्तो हन्ताहमिमं द्वौ प्रश्नो प्रक्ष्यामि तौ चेन्मे वक्ष्यति न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति पृच्छ गार्गीति ॥ १ ॥

इसके पश्चात् वाचक्रवी गार्गी ने कहा- हे पूज्य ब्राह्मणो ! अब मैं इन (याज्ञवल्क्य) से दो प्रश्न करूँगी। यदि ये इन दोनों के उचित उत्तर दे सकेंगे, तो यह सुनिश्चित हो जाएगा कि ये अजेय हैं (ब्रह्म सम्बन्धी चर्चा में इन्हें जीतना किसी के लिए सम्भव नहीं है), तब ब्राह्मणों ने कहा- ठीक है, गार्गी अब प्रश्न पूछो ॥ १ ॥

सा होवाचाहं वै त्वा याज्ञवल्क्य यथा काश्यो वा वैदेहो वोग्रपुत्र उज्ज्यं धनुरधिज्यं कृत्वा द्वौ बाणवन्तौ सपलातिव्याधिनौ हस्ते कृत्वोपोत्तिष्ठेदेवमेवाहं त्वा द्वाभ्यां प्रश्राभ्यामुपोदस्थां तौ मे ब्रूहीति पृच्छ गार्गीति ॥ २ ॥

गार्गी ने कहा- हे याज्ञवल्क्य ! जैसे काशी अथवा विदेह में रहने वाला कोई बीर वंशी प्रत्यञ्चा हीन धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर शत्रु पीड़ादायक बाणों को हाथ में लेकर सत्रद्ध होता है, वैसे ही मैं आपके समक्ष दो प्रश्नों को लेकर उपस्थित हुई हूँ, आप मुझे उनका उत्तर प्रदान करें। याज्ञवल्क्य बोले- हे गार्गी ! आप अवश्य प्रश्न करें ॥ २ ॥

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिंस्तदोतं च प्रोतं चेति ॥ ३ ॥

गार्गी ने पूछा- हे याज्ञवल्क्य ! जो द्युलोक से ऊपर और पृथिवी लोक से नीचे है तथा द्यौ और पृथिवी के ठीक बीच में स्थित है, जो स्वतः द्यु और पृथिवी लोक है तथा जो स्वयं भूत, भविष्यत् और वर्तमान है, वह किसमें ओतप्रोत है ? ॥ ३ ॥

सा होवाच यदूर्ध्वं गार्गी दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाशे तदोतं च प्रोतं चेति ॥ ४ ॥

याज्ञवल्क्य ने कहा- हे गार्गी ! द्युलोक से ऊपर, पृथिवी से नीचे तथा द्यु और पृथिवी के मध्य भाग में जो स्थित है, स्वयं भी जो द्यु और पृथिवी है और जो भूत, भविष्यत् और वर्तमान कहलाता है, वह आकाश में ओत-प्रोत है ॥ ४ ॥

सा होवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य यो म एतं व्यवोचोऽपरस्मै धारयस्वेति पृच्छ गार्गीति ॥ ५ ॥

गार्गी ने कहा- हे याज्ञवल्क्य ! आपको नमस्कार है, आपने मेरे (एक) प्रश्न का उत्तर दिया है। अब द्वितीय प्रश्न का उत्तर भी दीजिए। याज्ञवल्क्य ने कहा कि ठीक है, उसे भी पूछिये ॥ ५ ॥

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिंस्तदोतं च प्रोतं चेति ॥ ६ ॥

गार्गी ने कहा- जो द्युलोक के ऊपर, पृथिवी लोक के नीचे, द्यु और पृथिवी के मध्य तथा जो स्वयं भी द्यु और पृथिवी है, जिसे भूत, भविष्यत् और वर्तमान कहा जाता है, वह किसमें ओत-प्रोत है ? ॥ ६ ॥

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च  
भवच्च भविष्यत्वेत्याचक्षत आकाश एव तदोत्तं च प्रोतं चेति कस्मिन् खल्वाकाश  
ओतश्च प्रोतश्चेति ॥ ७ ॥

ऋषि याज्ञवल्क्य बोले- हे गार्गि ! जो द्युलोक से ऊपर, पृथिवी लोक से नीचे, द्यु और पृथिवी के मध्य अवस्थित है, जो स्वयं ही द्यु और पृथिवी है, जिन्हें भूत, भविष्यत् और वर्तमान कहा जाता है, वह आकाश में ओत-प्रोत है। (पुनः प्रश्न) तो फिर आकाश किसमें ओत-प्रोत है ? ॥ ७ ॥

स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनणु अहस्वमदीर्घम-  
लोहितमस्तेहमच्छायमतमोऽवायु अनाकाशमसङ्गं मरसमग्न्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽते-  
जस्कमप्राणममुखमात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्राति किंचन न तदश्राति कश्चन ॥ ८ ॥

याज्ञवल्क्य बोले- हे गार्गि ! उस तत्त्व को ब्रह्मवेत्ता 'अक्षर' ऐसा कहते हैं। वह न स्थूल है, न सूक्ष्म है, न छोटा है, न लम्बा है, न लाल है, न स्लेहिल (चिकना) है, न छाया है, न अन्धकार है, न वायु है और न ही आकाश ही है, जो सङ्ग और रस से भी हीन है। जिसके न नेत्र हैं, न कान हैं, न वाक् है, न मन है, न तेज है और प्राण, मुख, माप आदि भी नहीं हैं। वह न अन्दर है, न बाहर है, न वह कुछ भक्षण करता है और न उसे अन्य कोई भक्षण कर सकता है ॥ ८ ॥

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य  
प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा  
मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य  
प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां यां च  
दिशमन्वेतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशःसन्ति यजमानं देवा दर्वीं  
पितरोऽन्वायत्ताः ॥ ९ ॥

(याज्ञवल्क्य ने आगे कहा- ) हे गार्गि ! इस 'अक्षर' ब्रह्म के अनुशासन में सूर्य, चन्द्र, द्युलोक, पृथ्वी लोक, निमेष, मुहूर्त, दिवा-रात्रि, अर्धमास, मास, ऋतु, संवत्सर आदि स्थित हैं। इसी अक्षर के अनुशासन में विभिन्न नदियाँ पर्वतों से निकल कर पूर्व तथा पश्चिम आदि दिशाओं में प्रवाहित होती हैं। हे गार्गि ! इस 'अक्षर' (ब्रह्म) के अनुशासन में ही मानव दाता की प्रशंसा करते हैं, देवगण यजमान के और पितृगण दर्वीं होम के अनुवर्ती होते हैं ॥ ९ ॥

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिंलोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि  
वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्वति यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्मालोकात्पैति स  
कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्मालोकात्पैति स ब्राह्मणः ॥ १० ॥

ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- हे गार्गि ! जो इस 'अक्षर' ब्रह्म को न जानकर इस लोक में यज्ञ आदि पुण्य कृत्य सम्पन्न करते हैं और सहस्रों वर्ष तक तप करते हैं, उनके ये सभी कर्म नाशवान् होते हैं। इस 'अक्षर' (अविनाशी ब्रह्म) को बिना जाने ही इस लोक से जो प्रयाण कर जाते हैं, वे कृपण हैं; किन्तु जो इस 'अक्षर' को जानकर इस लोक से प्रयाण करते हैं, वे ब्राह्मण हैं ॥ १० ॥

तद्वा एतदक्षरं गार्यदृष्टं द्रष्टश्रुतः श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञात् नान्यदतोऽस्ति द्रष्ट  
नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्त्र नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्याकाश  
ओतश्च प्रोतश्चेति ॥ ११ ॥

याज्ञवल्क्य ने कहा- हे गार्गी ! यह 'अक्षर' स्वयं दृष्टि का विषय नहीं है; किन्तु सभी को देखने वाला है, स्वयं  
श्रवण का विषय नहीं है; किन्तु सबकी सुनता है, स्वयं मनन का विषय नहीं है; किन्तु सबका मन्ता है, स्वयं अविज्ञात  
है; किन्तु सबका ज्ञाता है। हे गार्गी ! इस 'अक्षर' ब्रह्म में ही वह आकाश तत्त्व ओत-प्रोत है ॥ ११ ॥

सा होवाच ब्राह्मणा भगवन्तस्तदेव बहु मन्येध्वं यदस्मान्नमस्कारेण मुच्येध्वं न वै  
जातु युष्माकमिमं कश्चिद्द्विद्योद्यं जेतेति ततो ह वाचक्लव्युपरराम ॥ १२ ॥

इसके पश्चात् वाचक्रवी गार्गी बोली- हे पूजनीय ब्राह्मणो ! इसी (वार्तालाप से प्राप्त हुए ज्ञान) को बहुत  
समझो । इन (याज्ञवल्क्य) से नमस्कार करके ही पीछा छूट जाये, तो बहुत है; क्योंकि आपमें से किसी भी  
ब्रह्मज्ञानी के लिए इन्हें जीत सकना सम्भव नहीं है । इसके बाद वाचकनवी गार्गी मौन हो गई ॥ १२ ॥

[ गार्गी ब्रह्मज्ञ विदुषी थी । उसके निर्णायक कथन को सभी ने स्वीकार किया, किन्तु आने वाले क्रम में  
शाकल्य विदग्ध अहंकारवश नहीं माने । अगले क्रम में उन्हें उस कुचेष्टा का दण्ड भोगना पड़ा । ]

## ॥ नवमं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ कति देवा याज्ञवल्क्येति स हैतयैव निविदा  
प्रतिपेदे यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योमिति  
होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रयस्त्रिः शदित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति  
षडित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रय इत्योमिति होवाच कत्येव देवा  
याज्ञवल्क्येति द्वावित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्यधर्थ इत्योमिति होवाच  
कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्येक इत्योमिति होवाच कतमे ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च  
सहस्रेति ॥ १ ॥

इसके उपरान्त शाकल्य विदग्ध ने ऋषि याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया- हे याज्ञवल्क्य ! देवगण कितने हैं ?  
यह सुनकर याज्ञवल्क्य ने वैश्वदेव मन्त्रों की निविद में वर्णित देवताओं की संख्या प्रतिपादित की- तीन और  
तीन सौ, तीन और तीन सहस्र, इसका अभिप्राय हुआ तीन हजार तीन सौ छः । शाकल्य ने कहा- ठीक है ।  
पुनः शाकल्य ने प्रश्न किया- देवताओं की संख्या कितनी है ? याज्ञवल्क्य ने कहा- तौंतीस । इसमें सहमति  
देकर पुनः शाकल्य ने प्रश्न पूछा- देवता कितने हैं ? उत्तर दिया गया- तीन । शाकल्य द्वारा 'ठीक है' कहने एवं  
(शाकल्य) ने फिर पूछा- देवता कितने हैं ? उत्तर दिया गया- तीन । शाकल्य 'ठीक है' कहकर शाकल्य ने फिर  
पुनः यही पूछने पर कि देवता कितने हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा- दो । 'ठीक है' कहकर शाकल्य ने फिर  
पूछा- देवता कितने हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा- अधर्ध (डेढ़) । इस पर 'ठीक है' कहते हुए शाकल्य ने  
पूछा- देवता कितने हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा- अधर्ध (डेढ़) । इस पर 'ठीक है' कहते हुए शाकल्य ने  
पुनः वही प्रश्न दोहराया, तब याज्ञवल्क्य ने कहा- देवता एक है । इसे स्वीकार कर शाकल्य ने कहा- वे  
तीन हजार तीन और तीन सौ तीन देवगण कौन से हैं ? ॥ १ ॥

स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति कतमे ते त्रयस्त्रिंशदित्यष्टौ  
वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्वैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति ॥

याज्ञवल्क्य बोले-ये तो ( तीन सौ तीन और तीन हजार तीन ) देवताओं की विभूतियाँ हैं । देवगण तो  
केवल तैंतीस ही हैं । विदग्ध शाकल्य ने पुनः प्रश्न किया-वे तैंतीस देवगण कौन से हैं ? तब याज्ञवल्क्य ने  
उत्तर दिया-अष्ट वसु, एकादश रुद्र, बारह आदित्य ये इकतीस देवता हुए । इन्द्र और प्रजापति सहित ये  
तैंतीस हो जाते हैं ॥ २ ॥

कतमे वसव इत्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि  
चैते वसव एतेषु हीदं सर्वंहितमिति तस्माद्वसव इति ॥ ३ ॥

शाकल्य ने प्रश्न किया-अष्ट वसु कौन से हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा- अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष,  
आदित्य, द्युलोक, चन्द्र और नक्षत्र ये ही अष्टवसु हैं, इन्हीं में सम्पूर्ण जगत् सन्निहित है अथवा जगत् के  
सम्पूर्ण पदार्थ इन्हीं में समाये हुए हैं, इसीलिए इन्हें वसुगण कहते हैं ॥ ३ ॥

कतमे रुद्रा इति दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यदुत्कामन्त्यथ  
रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्वुद्रा इति ॥ ४ ॥

शाकल्य ने फिर पूछा-ये रुद्र कौन हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा-पुरुष में स्थित ये दस प्राण ( दस  
इन्द्रियाँ ) और ग्यारहवाँ आत्मा ( मन ) है, यही एकादश रुद्र हैं; क्योंकि जब ये मरणधर्मा शरीर से  
मृत्युकाल में उत्कमण करते अर्थात् निकलते हैं, उस समय से उसके प्रियजनों- परिजनों को रुलाते हैं, इसी  
कारण इन्हें रुद्र कहा गया है ॥ ४ ॥

कतम आदित्या इति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदः सर्वमाददाना  
यन्ति ते यदिदः सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ॥ ५ ॥

इसके पश्चात् शाकल्य ने पूछा-बारह आदित्य कौन से हैं ? याज्ञवल्क्य ने बताया-वर्ष में बारह मास  
होते हैं, वे ही बारह आदित्य हैं; क्योंकि ये ही सभी को लेते हुए ( उनकी आयु का आदान करते हुए )  
चलते रहते हैं ॥ ५ ॥

कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति स्तनयित्वुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति कतमः  
स्तनयित्वुरित्यशनिरिति कतमो यज्ञ इति पशव इति ॥ ६ ॥

शाकल्य ने पुनः प्रश्न किया- इन्द्र और प्रजापति कौन हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा- स्तनयित्वु अर्थात्  
गरजने वाला मेघ ही इन्द्र है और यज्ञ ही प्रजापति है । शाकल्य ने पूछा- गर्जनशील मेघ क्या है ? उत्तर  
मिला विद्युत् । जब शाकल्य ने यह पूछा कि यज्ञ क्या है ? तब याज्ञवल्क्य ने कहा- पशु ही यज्ञ है ॥ ६ ॥

कतमे षडित्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्चैते षडेते हीदः सर्वं  
षडिति ॥ ७ ॥

शाकल्य ने प्रश्न किया- छः देवगण कौन से हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा- पृथिवी, अग्नि, वायु, अन्तरिक्ष,  
द्यौ और आदित्य, ये ही छः देवगण हैं । ये ही सभी कुछ हैं ॥ ७ ॥

कतमे ते त्रयो देवा इतीम् एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति कतमौ तौ द्वौ  
देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति कतमोऽध्यर्थं इति योऽयं पवत इति ॥ ८ ॥

शाकल्य ने फिर पूछा- वे तीन देव कौन से हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा- तीन लोक ही तीनों देवता हैं, इन्हीं में समस्त देवगण वास करते हैं। फिर शाकल्य ने पूछा- वे दो देवता कौन हैं- ऋषि ने उत्तर दिया- अन्न और प्राण ही वे दो देवता हैं। शाकल्य ने फिर पूछा- वे डेढ़ देवता कौन हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा- जो बहता है, अर्थात् यह वायु ही डेढ़ देवता है ॥ ८ ॥

**तदाहुर्यदयमेक इवैव पवतेऽथ कथमध्यर्थं इति यदस्मिन्निदः सर्वमध्याध्योत्तेनाध्यर्थं इति कतम् एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म तदित्याचक्षते ॥ ९ ॥**

शाकल्य ने प्रश्न किया- पवन (वायु) तो एकाकी ही प्रवाहित होता है, फिर इसे 'डेढ़' कैसे कहते हैं? याज्ञवल्क्य ने उत्तर देते हुए कहा- क्योंकि इसी में सभी ऋद्धि (वृद्धि) को प्राप्त होते हैं, इसलिए इसे अध्यर्थ (डेढ़) कहते हैं। शाकल्य ने पूछा- एक देव कौन सा है? ऋषि ने कहा 'प्राण' ही एक देवता है, वही ब्रह्म है और उसी को तत् (वह) कहते हैं ॥ ९ ॥

**पृथिव्येव यस्यायतनमग्निर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणः स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषः सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायः शारीरः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेत्यमृतमिति होवाच ॥ १० ॥**

यह पृथिवी ही जिसका शरीर (आयतन) है, अग्नि ही जिसका लोक, मन ही जिसकी ज्योति और जो समस्त जीवों का आत्मा एवं सहारा है। उस सर्वात्मा एवं सभी के आश्रयरूप पुरुष को जो जानता है, हे याज्ञवल्क्य! वही ब्रह्मज्ञ है। यह सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा- मैं निःसन्देह उस ब्रह्म को जानता हूँ। जिस पुरुष को तुम सब जीवों का आत्मा एवं आश्रय बताते हो, वही इस शरीर में संव्याप्त पुरुष है। याज्ञवल्क्य ने आगे कहा- हे शाकल्य! अब तुम और प्रश्न करो। शाकल्य ने कहा- उसका देवता कौन है? ऋषि ने कहा- उसका देवता अमृत है ॥ १० ॥

**काम एव यस्यायतनः हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणः स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषः सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं काममयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति स्त्रिय इति होवाच ॥ ११ ॥**

शाकल्य ने कहा- काम ही जिसका शरीर है, हृदय ही जिसका लोक है, मन ही जिसकी ज्योति है एवं जो समस्त प्राणियों की आत्मा है, उस सर्वान्तरात्मा को जानने वाला ब्रह्मज्ञानी हो जाता है। याज्ञवल्क्य बोले- मैं निश्चित ही उस पुरुष का ज्ञान रखता हूँ, जिसे तुम सभी भूतों की आत्मा कहते हो, वह काममय पुरुष है। हे शाकल्य! अब और प्रश्न करो। शाकल्य ने पूछा- उसका देवता कौन है? याज्ञवल्क्य ने कहा- 'स्त्रियाँ' ॥ ११ ॥

रूपाण्येव यस्यायतनं चक्षुलोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणः स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषः सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवासावादित्ये पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति सत्यमिति होवाच ॥ १२ ॥

शाकल्य ने कहा- रूप ही जिसका देह है, नेत्र ही लोक, मन ही ज्योति है तथा जो सभी का आश्रय रूप है, उस पुरुष को जानने वाला सर्वज्ञता होता है। याज्ञवल्क्य ने कहा- तुम जिस सबके आश्रयभूत पुरुष की बात कर रहे हो, उसे मैं जानता हूँ। वह पुरुष आदित्य में स्थित है। याज्ञवल्क्य ने कहा है शाकल्य ! और प्रश्न करो। शाकल्य ने कहा- उसका देवता कौन है ? ऋषि ने उत्तर दिया- सत्य ही उसका देवता है ॥ १२ ॥

आकाश एव यस्यायतनः श्रोत्रं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणः स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषः सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायः श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति दिश इति होवाच ॥ १३ ॥

शाकल्य ने कहा- आकाश जिसका आयतन (देह) है, श्रोत्र जिसका लोक, मन जिसकी ज्योति है और जो समस्त भूतों का आश्रय रूप है, उसे जानने वाला ब्रह्मज्ञानी होता है। याज्ञवल्क्य बोले- मैं निश्चित रूप से उसका ज्ञान रखता हूँ। जिस पुरुष को तुम सब भूतों का आश्रय रूप मानते हो, वही श्रोत्र सम्बन्धी (अर्थात् श्रोत्र में प्रति श्रवण के समय रहने वाला) 'प्रातिश्रुत्क' पुरुष है। हे शाकल्य ! अब और कुछ पूछो। शाकल्य ने पूछा- उसका देवता कौन है ? याज्ञवल्क्य ने कहा- दिशाएँ ही उसकी देवता हैं ॥ १३ ॥

तम एव यस्यायतनः हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणः स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषः सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं छायामयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति मृत्युरिति होवाच ॥ १४ ॥

शाकल्य ने कहा- तम ही जिसका आयतन (देह) है, हृदय ही जिसका लोक और मन ही जिसकी ज्योति है, उस सर्वभूतात्मा को जो जानता है, वह ब्रह्मज्ञानी होता है। याज्ञवल्क्य ने कहा- मैं उस सर्वभूतात्मा को निश्चित रूप से जानता हूँ। जिसे तुम 'सर्वभूतात्मा' ऐसा जानते हो, वह छायामय पुरुष ही है। हे शाकल्य ! और पूछो। शाकल्य ने पूछा- उसका देवता कौन है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- उसका देवता 'मृत्यु' है ॥

रूपाण्येव यस्यायतनं चक्षुलोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणः स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषः सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायमादर्शे पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेत्यसुरिति होवाच ॥ १५ ॥

शाकल्य ने फिर कहा- रूप ही जिसका शरीर, चक्षु ही देखने की शक्ति और मन ही जिसकी ज्योति है, जो सर्वभूतों में स्थित उनकी आत्मा है, उस पुरुष को जानने वाला सर्वज्ञ होता है। याज्ञवल्क्य ने कहा- मैं निश्चित रूप से उस ब्रह्म को जानता हूँ। तुम जिसे सर्वभूतों में स्थित आत्मा कहते हो, वह वही पुरुष है, जो दर्पण में स्थित है (अर्थात् दर्पण में दिखाई देता है)। हे शाकल्य ! और प्रश्न करो। शाकल्य ने कहा- उसका देवता कौन है ? ऋषि ने उत्तर दिया- उसका देवता असु (अर्थात् प्राण) है ॥ १५ ॥

आप एव यस्यायतनः हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणः स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषः सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायमप्सु पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति वरुण इति होवाच ॥ १६ ॥

शाकल्य बोले- जल ही उसका आयतन (देह), हृदय ही लोक और मन ही ज्योति है। उस सर्वभूतान्तरात्मा को जो जानता है, वह ब्रह्मज्ञानी होता है। याज्ञवल्क्य ने कहा- मैं निश्चित ही उसका ज्ञान रखता हूँ, जिसे तुम सर्वभूतान्तरात्मा कहते हो, वह जल स्थित पुरुष ही है। हे शाकल्य! और पूछो, शाकल्य ने कहा- उसका देवता कौन है? याज्ञवल्क्य ने कहा- उसके देवता वरुण हैं ॥ १६ ॥

रेत एव यस्यायतनः हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणः स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषः सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं पुत्रमयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति प्रजापतिरिति होवाच ॥ १७ ॥

शाकल्य ने कहा- वीर्य ही जिसका शरीर (आयतन) है, हृदय ही जिसका लोक है, मन ही जिसकी ज्योति है, उस सर्वभूताश्रय पुरुष को जो जानता है, वह सर्वज्ञाता होता है। याज्ञवल्क्य ने कहा- उस पुरुष को मैं भली-भाँति जानता हूँ, जिसे आप सर्वभूतों का आश्रय कहते हो, वह पुत्ररूप पुरुष है। हे शाकल्य! और प्रश्न करो- शाकल्य के पूछने पर कि उसका देवता कौन है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- प्रजापति ॥

शाकल्येति होवाच याज्ञवल्क्यस्त्वाः स्विदिमे ब्राह्मणा अङ्गारावक्षयणमक्रता ३ इति ॥ १८ ॥

याज्ञवल्क्य ने शाकल्य से कहा- हे शाकल्य! इन ब्राह्मणों ने तुम्हें ही निश्चित रूप से अङ्गारे हटाने का चिमटा बनाया है ॥ १८ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच शाकल्यो यदिदं कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणानत्यवादीः किं ब्रह्म विद्वानिति दिशो वेद सदेवाः सप्रतिष्ठा इति यद्विशो वेत्थ सदेवाः सप्रतिष्ठाः ॥ १९ ॥

शाकल्य ने कहा- हे याज्ञवल्क्य! जो आप कुरु और पांचाल देश के ब्राह्मणों पर आगेप लगाकर उन्हें तिरस्कृत करते हैं, क्या स्वयं को ब्रह्मवेत्ता मानकर ऐसा करते हैं? याज्ञवल्क्य जी बोले- मुझे देवताओं और प्रतिष्ठा के सहित दिशाओं का ज्ञान है। शाकल्य बोले- यदि आपको देवता और प्रतिष्ठा सहित दिशाओं का ज्ञान है ॥ १९ ॥

किंदेवतोऽस्यां प्राच्यां दिश्यसीत्यादित्यदेवत इति स आदित्यः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति चक्षुषीति कस्मिन् चक्षुः प्रतिष्ठितमिति रूपेष्विति चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति कस्मिन् रूपाणि प्रतिष्ठितानीति हृदय इति होवाच हृदयेन हि रूपाणि जानाति हृदये होव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २० ॥

तो यह बताएँ कि पूर्व दिशा में आप किस देवता से युक्त हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा- वहाँ मैं आदित्य देवता से युक्त हूँ। शाकल्य ने पुनः पूछा- वह आदित्य किसमें स्थित है? याज्ञवल्क्य ने कहा- चक्षु में। शाकल्य ने पूछा- चक्षु किसमें प्रतिष्ठित हैं? ऋषि ने कहा- रूप में, क्योंकि चक्षुओं के द्वारा ही पुरुष रूपों को देखता है। शाकल्य ने पूछा- रूप किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा- हृदय में, क्योंकि हृदय के द्वारा ही पुरुष को रूपों का ज्ञान होता है। शाकल्य ने कहा यह सत्य है ॥ २० ॥

किं देवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसीति यमदेवत इति स यमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति यज्ञ इति कस्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठित इति दक्षिणायामिति कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठितेति श्रद्धायामिति यदा होव श्रद्धत्तेऽथ दक्षिणां ददाति श्रद्धायाः होव दक्षिणा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठितेति हृदय इति होवाच हृदयेन हि श्रद्धां जानाति हृदये होव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २१ ॥

शाकल्य ने पूछा- दक्षिण दिशा में आप किस देवता से युक्त हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा- यम देवता से। शाकल्य ने पूछा- वह यम देवता किसमें स्थित है? उत्तर मिला श्रद्धा में। श्रद्धा किसमें स्थित है? ऋषि ने कहा- हृदय में, क्योंकि हृदय के द्वारा ही पुरुष श्रद्धा को जानता है। शाकल्य ने कहा- हे याज्ञवल्क्य! यह सत्य है ॥ २१ ॥

किंदेवतोऽस्यां प्रतीच्यां दिश्यसीति वरुणदेवत इति स वरुणः कस्मिन्प्रतिष्ठित इत्यप्स्विति कस्मिन्वापः प्रतिष्ठिता इति रेतसीति कस्मिन्नु रेतः प्रतिष्ठितमिति हृदय इति तस्मादपि प्रतिरूपं जातमाहुर्हृदयादिव सृसो हृदयादिव निर्मित इति हृदये होव रेतः प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २२ ॥

शाकल्य ने आगे कहा- पश्चिम दिशा में आप किस देवता वाले हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा- पश्चिम दिशा में मैं वरुण देवता से युक्त हूँ। शाकल्य ने पूछा- वरुण किसमें प्रतिष्ठित है? ऋषि ने उत्तर दिया- जल में। जल किसमें स्थित है? उत्तर मिला- वीर्य में। तब शाकल्य ने पूछा- वीर्य किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा- हृदय में। इसलिए तो पिता के अनुरूप उत्पन्न पुत्र के लिए लोग कहते हैं कि ये मानो पिता के हृदय से निकला है, पिता के हृदय से ही निर्मित हुआ है। शाकल्य ने कहा- यह भी यथार्थ ही है ॥ २२ ॥

किंदेवतोऽस्यामुदीच्यां दिश्यसीति सोमदेवत इति स सोमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति दीक्षायामिति कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठितेति सत्य इति तस्मादपि दीक्षितमाहुः सत्यं वदेति सत्ये होव दीक्षा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु सत्यं प्रतिष्ठितमिति हृदय इति होवाच हृदयेन हि सत्यं जानाति हृदये होव सत्यं प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २३ ॥

शाकल्य ने याज्ञवल्क्य से पूछा- आप उत्तर दिशा में किस देवता से सम्पन्न हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा- सोम देवता से। शाकल्य ने पूछा- सोम किसमें स्थित है? ऋषि ने कहा- दीक्षा में। दीक्षा किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा- सत्य में। सत्य किसमें विद्यमान है? ऋषि ने कहा- हृदय में। क्योंकि व्यक्ति हृदय से ही सत्य को जान पाता है, अतः सत्य हृदय में ही प्रतिष्ठित है। तब शाकल्य ने कहा- हे याज्ञवल्क्य! यह भी ठीक है ॥ २३ ॥

किंदेवतोऽस्यां ध्रुवायां दिश्यसीत्यग्निदेवत इति सोऽग्निः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति वाचीति कस्मिन्नु वाक् प्रतिष्ठितेति हृदय इति कस्मिन्नु हृदयं प्रतिष्ठितमिति ॥ २४ ॥

शाकल्य ने याज्ञवल्क्य से पूछा- आप ध्रुव दिशा में किस देवता से युक्त हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा- अग्निदेव से युक्त हूँ। प्रश्न किया गया- अग्निदेव किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- वाक् शक्ति में। पुनः प्रश्न हुआ कि वाक् किसमें स्थित है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- वाक् हृदय में प्रतिष्ठित है। इस पर शाकल्य ने पूछा- फिर हृदय किसमें स्थित है? ॥ २४ ॥

अहस्तिकेति होवाच याज्ञवल्क्यो यत्रैतदन्यत्रास्मन्मन्यासै यद्वयेतदन्यत्रास्म-त्याच्छ्वानो  
वैनदद्युर्वयाःसि वैनद्विमश्शीरन्निति ॥ २५ ॥

याज्ञवल्क्य ने कहा- अरे अहस्ति (प्रेत) ! जब तुम इस (हृदय) को हमसे पृथक् मानते हो, तब तो (हृदय विहीन) इस शरीर को कुते नोच कर खा जाते या पक्षीगण चोंच मार-मार कर इसे मथकर (चीरकर) खा डालते ॥ २५ ॥

कस्मिन्नु त्वं चात्मा च प्रतिष्ठितौ स्थ इति प्राण इति कस्मिन्नु प्राणः प्रतिष्ठित इत्यपान  
इति कस्मिन्वपानः प्रतिष्ठित इति व्यान इति कस्मिन्नु व्यानः प्रतिष्ठित इत्युदान इति  
कस्मिन्नुदानः प्रतिष्ठित इति समान इति स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्णो न हि गृह्णतेऽशीर्यो न  
हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सञ्ज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्येतान्यष्टावायतनान्यष्टौ लोका अष्टौ  
देवा अष्टौ पुरुषाः स यस्तान्पुरुषान्निरुह्य प्रत्युह्यात्यक्रामत्तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि तं  
चेन्मे न विवक्ष्यसि मूर्धा ते विपतिष्ठतीति तः ह न मेने शाकल्यस्तस्य ह मूर्धा विपपातापि  
हास्य परिमोषिणोऽस्थीन्यपजहुरन्यन्मन्यमानाः ॥ २६ ॥

शाकल्य ने फिर पूछा- आप (शरीर) और हृदय (आत्मा) किसमें प्रतिष्ठित हैं ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- प्राण में । शाकल्य ने फिर पूछा- प्राण किसमें स्थित हैं ? उत्तर दिया अपान में । पूछा गया- अपान किसमें विद्यमान है ? उत्तर दिया गया- व्यान में । फिर प्रश्न किया गया- व्यान किसमें स्थित है ? उत्तर दिया गया- उदान में । उदान किसमें प्रतिष्ठित है ? समान में । याज्ञवल्क्य ने आगे कहा- यह आत्मा नेति-नेति कहा जाता है । यह ग्रहण नहीं किया जा सकता और न ही विनष्ट किया जा सकता है । यह सङ्ग रहित अव्यवस्थित और अहिंसित है । ये आठ शरीर हैं, आठ देवता हैं और आठ पुरुष हैं । वह व्यष्टि रूप होकर इन पुरुषों को अपने हृदय में एकीकृत करके उपाधिरूप धर्मों का अतिक्रमण किए हैं । उपनिषद् द्वारा ज्ञातव्य उस पुरुष के विषय में मैं आपसे पूछता हूँ । यदि आप उसका स्पष्ट विवेचन न कर सकेंगे, तो आपका मस्तक गिर जायेगा; परन्तु शाकल्य के उस पुरुष को न जानने के कारण उसका मस्तक गिर गया । इतना ही नहीं उसकी अस्थियों को चोर लोग कुछ और समझकर उठा ले गये ॥ २६ ॥

अथ होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वः कामयते स मा पृच्छतु सर्वे वा मा पृच्छत यो  
वः कामयते तं वः पृच्छामि सर्वान्वा वः पृच्छामीति ते ह ब्राह्मणा न दद्धृषुः ॥ २७ ॥

याज्ञवल्क्य बोले - हे तपोधन पूज्य ब्राह्मणगण ! आप विद्वानों में से जो भी चाहे अथवा सभी मिलकर चाहें तो मुझसे प्रश्न कर लें । यदि आप प्रश्न न करना चाहें, तो आप मैं से जिसकी इच्छा हो, उससे अथवा सभी से मैं प्रश्न पूछूँ; किन्तु किसी का भी याज्ञवल्क्य से प्रश्न करने का साहस न हुआ ॥ २७ ॥

तान् हैतैः लोकैः पप्रच्छ । यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा । तस्य लोमानि  
पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः ॥ १ ॥ त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः । तस्मात्तदा  
तृणात्यैति रसो वृक्षादिवाहतात् ॥ २ ॥ माऽसान्यस्य शकराणि किनाटःस्नाव तत्स्थिरम् ।  
अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता ॥ ३ ॥ यद्वक्षो वृक्षणो रोहति मूलान्नवतरः  
पुनः । मर्त्यः स्वन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति ॥ ४ ॥ रेतस इति मा  
वोचतजीवतस्तत्प्रजायते । धानारुह इव वै वृक्षोऽज्जसा प्रेत्य संभवः ॥ ५ ॥

यत्स्मूलमावृहेयुर्वृक्षं न पुनराभवेत् । मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्रोहति ॥ ६ ॥  
जात एव न जायते को न्वेन जनयेत्पुनः । विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणं तिष्ठमानस्य  
तद्विद इति ॥ ७ ॥ ॥ २८ ॥

याज्ञवल्क्य ने उन ब्राह्मणों से इन श्लोकों द्वारा प्रश्न किए- मनुष्य, वनस्पति- वृक्ष के तुल्य है, अर्थात् जो गुण धर्म वनस्पति के हैं, वही मनुष्य के भी हैं। वृक्ष में पते होते हैं और मनुष्य के शरीर में रोम होते हैं, मनुष्य के शरीर में स्थित त्वचा ही वृक्ष पर लिपटी छाल होती है ॥ १ ॥ रक्त रस है। जिस प्रकार पुरुष की त्वचा से रक्त निकलता है, उसी प्रकार वृक्ष की छाल से रस (गोंद) निकलता है। आधात लगाने पर वृक्ष से भी रस निकलता है और चोट लगाने पर मनुष्य के शरीर से भी रक्त बहता है ॥ २ ॥ पुरुष शरीर का मांस, वृक्ष की भीतरी त्वचा (शकर) के समान है, मनुष्य शरीर के स्नायु तंत्र, वृक्ष के दृढ़ रेशे (किनाट) के समान है। किनाट स्नायु के समान ही स्थिर होता है। मनुष्य में स्नायु तन्त्र के अन्दर स्थित अस्थियों के समान ही वृक्ष में किनाट के अन्दर काष्ठ होता है और मनुष्य शरीर में स्थित मज्जा वृक्ष स्थित गूदे के समान है ॥ ३ ॥ इतने पर भी (अर्थात् दोनों में से समानता होने पर भी) वृक्ष जब ऊपर से काट दिया जाता है, तो वह अपने मूल (जड़) से पुनः नए अंकुर फोड़ कर नवीन हो जाता है और यदि इसी प्रकार मृत्यु द्वारा मनुष्य को काट दिया जाए, तो वह किस मूल द्वारा उत्पन्न होगा ॥ ४ ॥ वह (पुरुष) वीर्य से उद्भूत होता है, ऐसा भी न कहो, क्योंकि वीर्य तो जीवित पुरुष में ही उत्पन्न होता है, मृत पुरुष में नहीं। वृक्ष जब कट जाता है, तो वह बीज से भी नये सिरे से उत्पन्न हो जाता है और कट जाने पर भी पुनः अंकुरित हो जाता है ॥ ५ ॥ वृक्ष यदि मूल से उखड़ जाये, तो पुनः उसका उग सकना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार मृत्यु द्वारा यदि मनुष्य को काट दिया जाए, तो किस मूल (जड़) द्वारा उसका पुनः उगना (उत्पन्न होना) सम्भव है ॥ ६ ॥ पुरुष तो उत्पन्न हुआ ही है, अतः वह दोबारा उत्पन्न नहीं होता। ऐसी स्थिति में मृत्यु के उपरान्त उसे कौन उत्पन्न करेगा? (इस प्रश्न का उन ब्राह्मणों ने कोई उत्तर नहीं दिया, अस्तु, श्रुति इसके विषय में कहती है) ब्रह्म विज्ञानमय व आनन्द रूप है। दानदाता की परमगति भी वही है। ब्रह्मनिष्ठ और ब्रह्म को जानने वाले पुरुष का परम आश्रय भी वह ब्रह्म ही है ॥ ७ ॥ ॥ २८ ॥



## ॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

### ॥ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

जनको है वैदेह आसांचक्रेऽथ ह याज्ञवल्क्य आवद्राज तः होवाच याज्ञवल्क्य किमर्थमचारीः पशूनिच्छन्नप्रवन्नानीत्युभयमेव सप्राडिति होवाच ॥ १ ॥

विदेहराज जनक सिंहासन पर आरूढ़ थे। उसी समय उनके पास महर्षि याज्ञवल्क्य जी आये। राजा जनक ने पूछा- हे याज्ञवल्क्य जी ! आपका आगमन किस निमित्त हुआ है ? आप पशुओं की इच्छा से पधारे हैं या सूक्ष्म प्रश्नों की इच्छा से ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- राजन् ! मैं दोनों प्रयोजनों से यहाँ आया हूँ ॥ १ ॥

यत्ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे जित्वा शैलिनिर्बाग्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्बूयात्तथा तच्छैलिनिरब्रवीद्वाग्वै ब्रह्मेत्यवदतो हि किं स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सप्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य वागेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रज्ञेत्येनदुपासीत का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य वागेव सप्राडिति होवाच वाचा वै सप्राद् बन्धुः प्रज्ञायत ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टः हुतमासितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि वाचैव सप्राद् प्रज्ञायन्ते वाग्वै सप्राद् परमं ब्रह्म नैनं वाग्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृष्टभः सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्य जी ने कहा- हे राजन् ! आप से किसी विद्वान् ने ब्रह्म के विषय में जो कुछ कहा हो, वह सब हम श्रवण करने के लिए आये हैं । विदेहराज जनक ने कहा- शैलिनि (शिलिन के पुत्र) जित्वा ने वाक् को ही ब्रह्म कहा है । याज्ञवल्क्य बोले- जिस प्रकार कोई, माता-पिता और गुरु के द्वारा शिक्षित होकर कहता है, उसी प्रकार उस जित्वा ने वाक् ही ब्रह्म है- ऐसा कहा है; क्योंकि जो वाक् रहित है (गूँगा है), क्या उसे ब्रह्म का कोई लाभ प्राप्त हो सकता है ? क्या उस जित्वा ने आपको वाक् का आश्रय स्थल और उसकी प्रतिष्ठा भी बताई है, जनक ने कहा- नहीं, मुझे तो इस विषय में नहीं बताया । याज्ञवल्क्य जी बोले- यह उपदेश एक पादीय अथवा अपूर्ण है । जनक ने कहा- तो उसके विषय में सम्पर्क रूप से आप ही हमें बताएँ । याज्ञवल्क्य जी ने कहा- वाक् (वाणी) ही उस ब्रह्म का आयतन अर्थात् शरीर है और आकाश ही उसकी प्रतिष्ठा है । प्रज्ञा समझ कर उसकी ही उपासना करनी चाहिए । जनक जी ने पूछा- प्रज्ञता (प्रज्ञा) क्या है ? ऋषि बोले वाक् ही प्रज्ञता (प्रज्ञा) है । हे राजन् ! वाक् शक्ति के द्वारा ही बन्धु- बान्धवों का ज्ञान होता है तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का ज्ञान होता है । उसी वाक् के माध्यम से इतिहास, पुराण, उपनिषद्, विद्या, श्रोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, यज्ञकर्म, हुत, अशित (भूखे व्यक्ति को भोजन कराने के धर्म), पायित (प्यासे व्यक्ति को पानी पिलाने के धर्म), इहलोक,

परलोक और समस्त भूतों का ज्ञान होता है। हे सप्ताट! वस्तुतः वाक् ही ब्रह्म है, जो ऐसा जानते हैं, उन विद्वानों का यह वाक् परित्याग नहीं करती। ऐसे विद्वान् पुरुष को सभी प्राणी उपहार प्रदान करते हैं। वह स्वयं देवता बनकर देवों के बीच निवास करता है। यह सुनकर विदेहराज जनक ने कहा- इस ज्ञान के निमित्त (दक्षिणा स्वरूप) मैं आपको ऐसी सहस्र गौएँ प्रदान करता हूँ, जिनसे हाथी के समान विशाल बैल उत्पन्न हों। ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- मेरे पिता ऐसा मानते थे कि शिष्य (अथवा जिज्ञासु) को पूर्ण शिक्षण उत्पन्न हो।

[ शिष्य जब वाञ्छित विद्या प्राप्त करके तुष्ट हो जाता था, तब वह स्वयं गुरु से गुरु-दक्षिणा लेने का आग्रह करता था। गुरु भी अपना दायित्व पूर्ण हुए बिना दान स्वीकार नहीं करते थे। ]

**यदेव ते कश्चिद्ब्रतीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीम्न उदङ्कः शौल्बायनः प्राणो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्यितमानाचार्यवान्बूयात्तथा तच्छौल्बायनोऽब्रवीत्प्राणो वै ब्रह्मेत्यप्राणतो हि किं स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सप्ताडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य प्राण एवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रियमित्येनदुपासीत का प्रियता याज्ञवल्क्य प्राण एव सप्ताडिति होवाच प्राणस्य वै सप्ताट् कामायायाज्यं याजयत्यप्रतिगृह्यस्य प्रतिगृह्णात्यपि तत्र वधाशङ्कः भवति यां दिशमेति प्राणस्यैव सप्ताट् कामाय प्राणो वै सप्ताट् परमं ब्रह्म नैनं प्राणो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृष्टभः सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ३ ॥**

याज्ञवल्क्य ने कहा- आपसे किसी भी विद्वान् ने ब्रह्म के विषय में जो भी कुछ कहा हो, वह हमसे कहिए। विदेहराज जनक ने कहा- शुल्बपुत्र उदङ्कः ने मुझसे ब्रह्म के विषय में यह कहा है कि प्राण ही ब्रह्म है। (याज्ञवल्क्य ने कहा-) जिस प्रकार कोई माता-पिता और गुरु के द्वारा शिक्षित होकर कहता है, उसी प्रकार उदङ्कः ने प्राण ही ब्रह्म है- ऐसा कहा है; क्योंकि प्राण के बिना कुछ भी कर सकना सम्भव नहीं है। याज्ञवल्क्य ने कहा- क्या उन्होंने (शौल्बायन ने) प्राण के आयतन और आश्रय स्थल के विषय में भी बताया है? राजा जनक ने कहा- इस सन्दर्भ में उन्होंने कुछ नहीं बताया, तब याज्ञवल्क्य बोले- यह तो एक पैर वाला अथवा अपूर्ण शिक्षण हुआ। राजा जनक ने कहा- तो फिर आप ही उस ज्ञान को सम्यक् रूप से कहें। याज्ञवल्क्य बोले- प्राण का शरीर प्राण ही है, आकाश उसकी प्रतिष्ठा है। प्राण को प्रिय मानकर ही उसकी उपासना करनी चाहिए। जनक ने पूछा- यह प्रियता किसे कहते हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा- प्राण की कामना (प्रियता) से ही यजन न करने योग्य से यज्ञ कराया जाता है। दान न लेने योग्य से भी दान प्राप्त किया जाता है तथा इसी की प्रियता के कारण जिस दिशा में भी गमन करते हैं, उसी में मृत्यु का भय या उसकी आशंका प्रतीत होती है। हे राजन्! ये सब प्राण के निमित्त ही होता है। अतः हे सप्ताट! प्राण ही ब्रह्म है, ऐसा जानकर कार्य करने वाले का प्राण कभी परित्याग नहीं करता। समस्त भूत उसे उपहार प्रदान करते हैं। वह व्यक्ति देवता होकर उन्हीं के मध्य विराजता है। विदेहराज जनक ने कहा- ऋषिवर! हाथी के आकार वाले बैलों को प्रदान करने वाली सहस्र गौएँ मैं आपको दक्षिणा रूप में प्रदान करता हूँ। ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- मेरे पिता श्री की यह धारणा थी कि बिना पूर्ण ज्ञान दिये शिष्य से दक्षिणा ग्रहण नहीं करनी चाहिए। ॥ ३ ॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे बर्कुर्वार्ष्णशक्षुर्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तद्वार्ष्णोऽब्रवीच्छक्षुर्वै ब्रह्मेत्यपश्यतो हि किं स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सप्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य चक्षुरेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा सत्यमित्येनदुपासीत का सत्यता याज्ञवल्क्य चक्षुरेव सप्राडिति होवाच चक्षुषा वै सप्राट् पश्यन्तमाहुरद्राक्षीरिति स आहाद्राक्षमिति तत्सत्यं भवति चक्षुर्वै सप्राट् परमं ब्रह्म नैनं चक्षुर्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृष्टभः सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ४ ॥

याज्ञवल्क्य ने पुनः राजा जनक से कहा- आप किसी आचार्य द्वारा प्राप्त किये गये ज्ञान से हमें भी अवगत कराएँ। जनक ने कहा- मुझसे बर्कुर्वार्ष्ण (कृष्ण पुत्र) ने कहा कि चक्षु ही ब्रह्म है। याज्ञवल्क्य बोले- माता-पिता और आचार्य से शिक्षित हुए के समान ही उन वार्षिणि ने चक्षु को ब्रह्म कहा है, क्योंकि चक्षु के बिना कुछ देख सकना असम्भव है; किन्तु क्या उन्होंने आपको चक्षु के आयतन और आश्रय (प्रतिष्ठा) के विषय में भी कुछ बताया है? जनक ने कहा कि इसके विषय में तो उन्होंने कुछ नहीं बताया। यह तो एक पाद वाला अथवा अपूर्ण शिक्षण हुआ। राजा जनक ने कहा- तो आप ही इस संदर्भ में हमें बताएँ। याज्ञवल्क्य ने कहा- चक्षु का आयतन (शरीर) चक्षु ही है तथा आकाश ही उसकी प्रतिष्ठा है। चक्षु को सत्य मानकर उपासना करनी चाहिए। जनक ने पूछा- सत्यता किसे कहते हैं? ऋषि ने कहा- हे राजन्! चक्षु ही स्वयं सत्यता है; क्योंकि चक्षु से (दर्शन करने वाले से) जब पूछा जाता है कि क्या आपने (अमुक दृश्य) देखा है? तब वह उत्तर देता है- हाँ मैंने देखा है, तो वह सत्य ही होता है। हे सप्राट्! चक्षु ही परब्रह्म है, जो ऐसा जानता है, चक्षु (स्थूल-सूक्ष्म दृष्टि) उसका कभी परित्याग नहीं करते और समस्त प्राणी भी उसके अनुगत रहते हैं। वह देव बनकर देवलोक में निवास करता है। तब विदेहराज जनक ने कहा- मैं आपको हाथी के तुल्य हृष्ट-पुष्ट बैल प्रदान करने वाली एक हजार गौएँ प्रदान करता हूँ। याज्ञवल्क्य ने कहा- मेरे पिताश्री की मान्यता थी कि पूर्ण ज्ञान दिये बिना शिष्य से दक्षिणा ग्रहण नहीं करनी चाहिए ॥ ४ ॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे गर्दभीविपीतो भारद्वाजः श्रोत्रं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तद्वार्ष्णोऽब्रवीच्छोत्रं वै ब्रह्मेत्यशृण्वतो हि किं स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सप्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य श्रोत्रमेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठानन्त इत्येनदुपासीत कानन्तता याज्ञवल्क्य दिश एव सप्राडिति होवाच तस्माद्वै सप्राडपि यां कां च दिशं गच्छति नैवास्या अन्तं गच्छत्यनन्ता हि दिशो दिशो वै सप्राट् श्रोत्रः श्रोत्रं वै सप्राट् परमं ब्रह्म नैनः श्रोत्रं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृष्टभः सहस्रं ददामीति होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ५ ॥

ऋषि याज्ञवल्क्य, महाराज जनक से बोले- किसी भी आचार्य ने (ब्रह्म के विषय में) आपसे जो कुछ भी कहा हो वह आप हमें बताने का कष्ट करें। जनक बोले- भारद्वाज गोत्रीय गर्दभी (विपीत) ने मुझे बताया था कि श्रोत्र ही ब्रह्म है। याज्ञवल्क्य ने कहा- जिस प्रकार कोई माता-पिता और गुरु द्वारा प्रशिक्षित होकर कहता है, उसी प्रकार गर्दभी विपीत ने भी श्रोत्र ही ब्रह्म है, ऐसा कह दिया है, क्योंकि श्रोत्र के बिना सुन सकना संभव नहीं है। क्या उन (गर्दभी विपीत) ने उस श्रोत्र के शरीर और प्रतिष्ठा (आश्रय) के विषय में भी कुछ बताया है? जनक ने कहा- नहीं। याज्ञवल्क्य बोले- यह ज्ञान एक पद वाला अर्थात् अधूरा है। राजा ने कहा- तो फिर आप ही उसके विषय में मुझे बताएँ। याज्ञवल्क्य ने कहा- श्रोत्र ही, श्रोत्र की देह है और आकाश ही उसकी प्रतिष्ठा अर्थात् आश्रय है। इस श्रोत्र की उपासना इसे अनन्तरूप मानकर करनी चाहिए। जनक ने पूछा- अनन्तता क्या है। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि दिशाएँ ही अनन्त हैं, क्योंकि किसी भी दिशा में गमन करने पर उसका अन्त नहीं मिलता। हे सप्तांश! दिशाओं को ही श्रोत्र मानना चाहिए और श्रोत्र ही ब्रह्म है। जो ज्ञानी इस प्रकार जानता हुआ व्यवहार करता है, श्रोत्र उसका कभी परित्याग नहीं करते। सभी प्राणी उसका अनुसरण करते हैं और वह (ज्ञानी) देवता बनकर देवलोक में वास करता है। जनक बोले- हे ऋषिवर! मैं हाथी जैसे हष्ट-पृष्ट बैल उत्पन्न करने वाली सहस्र गौएँ आपको प्रदान करता हूँ। याज्ञवल्क्य जी ने कहा- मेरे पिताजी ऐसा मानते थे कि शिष्य को पूर्ण ज्ञान दिये बिना दक्षिणा का धन ग्रहण नहीं करना चाहिए ॥ ५ ॥

यदेव ते कश्छिद्ब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे सत्यकामो जाबालो मनो वै ब्रह्मेति  
यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तज्जाबालोऽब्रवीन्मनो वै ब्रह्मेत्यमनसो हि किं  
स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सप्ताडिति स वै नो  
ब्रूहि याज्ञवल्क्य मन एवायतनमाकाशः प्रतिष्ठाऽनन्द इत्येनदुपासीत का आनन्दता  
याज्ञवल्क्य मन एव सप्ताडिति होवाच मनसा वै सप्तांश स्त्रियमभिहार्यते तस्यां प्रतिरूपः  
पुत्रो जायते स आनन्दो मनो वै सप्तांश परमं ब्रह्म नैनं मनो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति  
देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृष्टभः सहस्रं ददामीति होवाच जनको  
वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ६ ॥

याज्ञवल्क्य पुनः बोले- हे जनक! आपको किसी आचार्य ने ब्रह्म सम्बन्धी जो भी ज्ञान दिया हो, वह आप मुझसे कहें। विदेहराज जनक बोले- सत्यकाम जाबाल ने मुझसे कहा था कि मन ही ब्रह्म है। याज्ञवल्क्य बोले कि यह तो उन्होंने माता-पिता और गुरु द्वारा प्रशिक्षित की तरह कह दिया, क्योंकि मन के बिना कुछ भी करना असम्भव है। क्या उन्होंने मन के आश्रय और प्रतिष्ठा के विषय में भी वर्णन किया है? जनक बोले- नहीं। याज्ञवल्क्य ने कहा- हे राजन्! उन्होंने यह तो अपूर्ण ज्ञान ही दिया है। जनक ने कहा- तो फिर आप ही उसके विषय में पूर्णरूपेण बताएँ। याज्ञवल्क्य बोले- मन का शरीर मन ही है और आकाश उसका आश्रय है। मन को आनन्द मानकर उसकी उपासना करनी चाहिए। जनक ने पूछा- कि यह आनन्दत्व क्या है? याज्ञवल्क्य ने कहा- राजन्! मन ही आनन्द है। मन से ही स्त्री की कामना की

जाती है और उससे अपने अनुरूप पुत्र की प्राप्ति होती है, वह पुत्र ही आनन्द है। हे सप्ताट! मन ही ब्रह्म है। जो ज्ञानी मन को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, मन उसका कभी परित्याग नहीं करता। समस्त प्राणी उसके अनुकूल हो जाते हैं। वह देवस्वरूप होकर देवताओं के मध्य निवास करता है। विदेहराज जनक ने कहा कि आपके निमित्त मैं हाथी के आकार वाले बैलों को उत्पन्न करने वाली एक हजार गौएँ प्रदान करता हूँ। याज्ञवल्क्य ने कहा- मेरे पिता जी का ऐसा मत था कि बिना पूर्ण शिक्षा दिये दक्षिणा की राशि ग्रहण नहीं करनी चाहिए॥ ६ ॥

यदेव ते कश्चिद्ब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे विदग्धः शाकल्यो हृदयं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छाकल्योऽब्रवीद्वृदयं वै ब्रह्मेत्यहृदयस्य हि किं स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सप्तप्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य हृदयमेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा स्थितिरित्येनदुपासीत का स्थितता याज्ञवल्क्य हृदयमेव सप्तप्राडिति होवाच हृदयं वै सप्ताट् सर्वेषां भूतानामायतनः हृदयं वै सप्ताट् सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा हृदये ह्येव सप्ताट् सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि भवन्ति हृदयं वै सप्ताट् परमं ब्रह्मं नैनः हृदयं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवा भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृष्टभः सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ७ ॥

याज्ञवल्क्य ने कहा- आपको किसी भी आचार्य ने जो (ब्रह्म विषयक) ज्ञान दिया हो, वह हमें भी बताएँ। विदेहराज जनक ने कहा- विदग्ध शाकल्य ने हृदय को ही ब्रह्म बताया है। याज्ञवल्क्य बोले कि माता- पिता और गुरु द्वारा प्रशिक्षित हुए के समान ही उन्होंने हृदय को ब्रह्म कहा है, क्योंकि हृदय हीन व्यक्ति कुछ भी कर पाने में समर्थ नहीं है। क्या उन्होंने हृदय का शरीर और आश्रय स्थल भी बताया है? जनक ने कहा- इसके विषय में उन्होंने नहीं बताया। तब याज्ञवल्क्य ने कहा- यह तो अपूर्ण शिक्षा हुई। जनक बोले- तब आप ही पूर्ण ज्ञान प्रदान कीजिए। याज्ञवल्क्य ने कहा- हृदय का शरीर हृदय ही है और आकाश उसकी प्रतिष्ठा अर्थात् आश्रय स्थल है। स्थिति मानकर हृदय की उपासना करनी चाहिए। जनक ने पूछा- स्थितता क्या है? याज्ञवल्क्य ने कहा- हृदय ही स्थितता है। हृदय ही समस्त प्राणियों की प्रतिष्ठा (आश्रय) है, समस्त प्राणी हृदय में ही प्रतिष्ठित होते हैं। जो ज्ञानी हृदय को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, हृदय कभी उसका परित्याग नहीं करता। समस्त जीव उसके अनुगत रहते हैं और वह देवता बनकर देवताओं के मध्य निवास करता है। महाराज जनक ने कहा- हाथी के समान आकार और बल वाले बैलों को पैदा करने वाली एक सहस्र गौएँ मैं आपको प्रदान करता हूँ। याज्ञवल्क्य बोले- शिष्य को ज्ञान से पूर्णस्वप्नेण कृतार्थ किये बिना ही दक्षिणा का धन स्वीकार नहीं करना चाहिए, ऐसा मेरे पिताजी का विचार था ॥ ७ ॥

## ॥ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

जनको ह वैदेहः कूर्चादुपावसर्पनुवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्यानु मा शाधीति स होवाच यथा वै सप्राणमहान्तमध्वानमेष्यन् रथं वा नावं वा समाददीतैवमेवैताभिरुपनिषद्दिः समाहितात्मास्येवं वृन्दारक आद्यः सत्रधीतवेद उक्तोपनिषत्क इतो विमुच्यमानः क्व गमिष्यसीति नाहं तद्वगवन्वेद यत्र गमिष्यामीत्यथ वै ते ऽहं तद्वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसीति ब्रवीतु भगवानिति ॥ १ ॥

इसके पश्चात् महाराजा जनक अपने कूर्च (अपने विशिष्ट आसन) से उठकर खड़े हो गये और बोले- हे याज्ञवल्क्य ! आपको नमन है। आप मुझे उपदेश प्रदान करें। याज्ञवल्क्य बोले - हे राजन् ! जिस प्रकार दूर की यात्रा करने के लिए नौका अथवा रथ का आश्रय लिया जाता है, उसी प्रकार (उपनिषदों का सहारा लेकर) आप समाहित आत्मा हो गये हैं। आपने पूज्य श्रीमन्त होकर वेदों का अध्ययन किया है, उपनिषदों का भी श्रवण किया है। यहाँ से गमन करके अब आप कहाँ पहुँचेंगे ? जनक ने कहा- यह मुझे ज्ञात नहीं। याज्ञवल्क्य ने कहा- आप जहाँ पहुँचेंगे, वह गतव्य मैं निश्चित रूप से आपको बताऊँगा। जनक ने कहा, ठीक है- बताने का अनुग्रह करें ॥ १ ॥

इन्थो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणोऽक्षम्युरुषस्तं वा एतमित्थः सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणैव परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः ॥ २ ॥

(याज्ञवल्क्य ने कहा- सुनिये) दक्षिण नेत्र में जो पुरुष स्थित है, उसका नाम 'इन्थ' है। इसी 'इन्थ' को परोक्ष रूप से 'इन्द्र' कहते हैं। देवगण परोक्ष प्रिय होते हैं, वे प्रत्यक्ष के प्रति द्वेष भाव रखते हैं ॥ २ ॥

[देव शक्तियाँ सूक्ष्म प्राण-प्रवाह रूप हैं, उन्हें परोक्ष रूप से ही अनुभव किया जा सकता है। आँख या कान प्रत्यक्ष रूप में देखने-सुनने वाले दिखते हैं; किन्तु देखने-सुनने की क्षमता रूप देव शक्तियाँ परोक्ष ही हैं। इसीलिए देवों को परोक्ष प्रिय कहा गया है।]

अथैतद्वामेऽक्षणि पुरुषस्तपमेषास्य पत्नी विराट् तयोरेष सःस्तावो य एषोऽन्तर्हृदय आकाशोऽथैनयोरेतदन्नं य एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डोऽथैनयोरेतत्प्रावरणं यदेतदन्तर्हृदये जालकमिवाथैनयोरेषा सृतिः संचरणी यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति यथा केशः सहस्रधा भिन्न एवमस्यैता हिता नाम नाड्योऽन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्त्येताभिर्वा एतदास्त्रवदास्त्रववति तस्मादेष प्रविविक्ताहारतर इवैव भवत्यस्माच्छारीरादात्मनः ॥ ३ ॥

बायें नेत्र में स्थित पुरुष वस्तुतः इन्द्र की पत्नी विराट् है। इन दोनों का मिलने का केन्द्र यही हृदयाकाश है। हृदयान्तर्गत स्थित लाल पिण्ड ही इन दोनों का अन्त्र है। हृदयान्तर्गत स्थित जल ही इन दोनों का आवरण वस्त्र है। हृदय के ऊपर जाने वाली नाड़ी ही इनके संचरण करने का मार्ग है। बाल के हजारवें हिस्से जितनी सूक्ष्म-हिता नाम की नाड़ियाँ हैं, जो हृदय के अन्दर स्थित हैं। इन्हीं नाड़ियों के द्वारा प्रवाहित हुआ अन्त्र सम्पूर्ण शरीर में पहुँचता है। इसी कारण यह सूक्ष्म देह, सूक्ष्म आहार ग्रहण करने वाला होता है ॥ ३ ॥

[ दायें और बायें नेत्रों के पति-पत्नी जैसा ऋषि का यह कथन रहस्यात्मक है। वर्तमान विज्ञान इस सन्दर्भ में अभी सीमित ज्ञान ही प्राप्त कर सका है। दोनों आँखों में सचिहित शक्तियों को पुरुष ही कहा गया है, लेकिन वे पति-पत्नी की तरह परस्पर पूरक हैं। एक को अर्धाङ्ग ही कहा जा सकता है। नेत्र विज्ञान के डॉक्टर यह बताते हैं कि दोनों आँखों के बीच एक कोमल संवेदनात्मक रिश्ता है। यदि किसी कारण एक आँख की नर्वस् में खराबी आ जाये, तो उसके प्रति संवेदना के नाते दूसरी ओर भी कमजोरी आने लगती है। डॉक्टर इसे आर्थैल्मिक सिम्पैथी कहते हैं। ]

तस्य प्राची दिक् प्राज्ञः प्राणा दक्षिणा दिग्दक्षिणे प्राणाः प्रतीची दिक् प्रत्यज्ञः प्राणा उदीची दिगुदज्ञः प्राणा ऊर्ध्वा दिगूर्ध्वाः प्राणा अवाची दिगवाज्ञः प्राणाः सर्वा दिशः सर्वे प्राणाः स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽसङ्गो नहि सञ्चयतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्यभयं वै जनक प्राप्तोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः स होवाच जनको वैदेहोऽभयं त्वा गच्छताद्याज्ञवल्क्य यो नो भगवन्नभयं वेदयसे नमस्तेऽस्त्वमे विदेहा अयमहमस्मि ॥ ४ ॥

उस विद्वान् पुरुष के लिए पूर्व दिशा-पूर्व प्राण, दक्षिण दिशा-दक्षिण प्राण, पश्चिम दिशा-पश्चिम प्राण, उत्तर दिशा-उत्तर प्राण, ऊर्ध्व दिशा - ऊपरी प्राण, नीचे की दिशा-निचला प्राण है एवं समस्त दिशाएँ - सम्पूर्ण प्राण हैं। वह आत्मा नेति-नेति रूप से वर्णित है, वह ग्रहण न किए जाने के कारण 'अगृह्य' है, वह नष्ट न होने के कारण अशीर्य है, वह असङ्ग भी है तथा बन्धन रहित भी। वह कभी व्यथित नहीं होता। याज्ञवल्क्य ने कहा- हे जनक! आप निश्चित ही अभय हो गये हैं। जनक ने कहा- हे याज्ञवल्क्य! आपने मुझे अभय ब्रह्म का ज्ञान कराया है, अतः आप भी अभय हों, आपको नमस्कार है, यह विदेहदेश और मैं (जनक) आपके अनुगामी हैं। ॥ ४ ॥

## ॥ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

जनकः ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम स मेने न वदिष्य इत्यथ ह यज्ञनकश्च वैदेहो याज्ञवल्क्यश्चाग्निहोत्रे समूदाते तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वरं ददौ स ह कामप्रश्रमेव वद्रे तः हास्मै ददौ तः सप्ताडेव पूर्वं पप्रच्छ ॥ १ ॥

महर्षि याज्ञवल्क्य विदेहराज जनक के पास गये। उन्हें विचार किया कि वहाँ में कुछ न बोलूँगा; परन्तु पूर्व में एक बार जनक और याज्ञवल्क्य का अग्निहोत्र के विषय में वार्तालाप हुआ था, तब याज्ञवल्क्य ने जनक को इच्छानुसार प्रश्न करने का वरदान दिया था। अतः इस बार राजा जनक ने ही उनसे प्रश्न प्रारम्भ किया ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्य किंज्योतिरियं पुरुष इति आदित्यज्योतिः सप्ताडिति होवाचादित्येनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २ ॥

विदेहराज जनक ने प्रश्न किया हे याज्ञवल्क्य! यह पुरुष किस ज्योति से युक्त है। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- हे राजन्! यह पुरुष आदित्य रूप ज्योति से सम्पन्न है। यह पुरुष आदित्य ज्योति से ही प्रतिष्ठित होता है, उसी से चतुर्दिक् जाता है, कर्म सम्पादित करता है और उसी से वापस लौट आता है। जनक ने कहा- हाँ, यह उचित है ॥ २ ॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य किंज्योतिरेवायं पुरुष इति चन्द्रमा एवास्य  
ज्योतिर्भवतीति चन्द्रमसैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येव-  
मेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ ३ ॥

इसके उपरान्त जनक ने प्रश्न किया- हे याज्ञवल्क्य! सूर्यास्त हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योति से युक्त होता है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि उस समय यह पुरुष चन्द्रमा की ज्योति से सम्पन्न होता है। वह कहा- हाँ, यह भी यथार्थ है ॥ ३ ॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते किंज्योतिरेवायं पुरुष इत्यग्निरेवास्य  
ज्योतिर्भवतीत्यग्निनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ ४ ॥

जनक ने पुनः प्रश्न पूछा- हे याज्ञवल्क्य ! जब सूर्य और चन्द्र दोनों अस्त हो जाते हैं, तब यह पुरुष किस ज्योति से सम्पन्न होता है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- उस समय यह अग्नि की ज्योति से सम्पन्न होता है। यह उसी (अग्नि) की ज्योति से बैठता, गमन करता, कर्म करता और वापस भी लौट आता है। जनक इसे स्वीकारते हुए बोले- हे याज्ञवल्क्य! वस्तुतः यही सत्य है ॥ ४ ॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ किंज्योतिरेवायं पुरुष  
इति वागेवास्य ज्योतिर्भवतीति वाचैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति  
तस्माद्वै समाडपि यत्र स्वः पाणिर्विनिज्ञायतेऽथ यत्र वागुच्चारत्युपैव तत्र  
न्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ ५ ॥

जनक ने प्रश्न किया- हे याज्ञवल्क्य! जब सूर्य और चन्द्र अस्त हो जाते हैं तथा अग्नि भी शान्त हो जाती है, तब यह पुरुष किस ज्योति से सम्पन्न होता है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- तब यह वाक् रूपी ज्योति से सम्पन्न होता है। उसी से बैठता, गमन करता, कर्म सम्पादन करता और उसी से वापस लौट आता है। हे राजन् ! जहाँ अँधेरे में हाथ भी दृष्टिगोचर नहीं होता, वहाँ झणी का उच्चारण सुनते ही यह पहुँच सकता है। जनक ने कहा- हे महात्मन्! यह तथ्य भी उचित है ॥ ५ ॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि  
किंज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म  
कुरुते विपल्येतीति ॥ ६ ॥

जनक ने पूछा- हे याज्ञवल्क्य! जब सूर्य, चन्द्र अस्त हो जाते हैं, अग्नि और वाक् भी शान्त हो जाती है, तब इस पुरुष की कौन सी ज्योति होती है? याज्ञवल्क्य ने कहा- तब यह पुरुष आत्मज्योति से सम्पन्न होता है। यह उसी के द्वारा बैठता, आता-जाता, कर्म सम्पन्न करता और फिर वापस भी लौट आता है ॥ ६ ॥

कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तज्योतिः पुरुषः स समानः  
सन्तुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोक-  
मतिक्रामति मृत्यो रूपाणि ॥ ७ ॥

जनक ने प्रश्न किया- यह आत्मा कौन है ? उन्होंने उत्तर दिया- प्राणों में चित्तवृत्तियों के भीतर स्थित, विज्ञानमय ज्योति पुरुष है, वही समान रूप से दोनों लोकों (इहलोक और परलोक) में संचरित होता है। वह मानो चिन्तन और चेष्टा करता हो। वह पुरुष (आत्मा) स्वप्र के रूप में इहलोक (देह और इन्द्रियों के समुच्चय) का अतिक्रमण करता है और मृत्यु के रूपों का भी उल्लंघन करता है ॥ ७ ॥

**स वा अयं पुरुषो जायमानः शारीरमभिसंपद्यमानः पाप्मधिः सऽसृज्यते स उत्क्रामन् प्रियमाणः पाप्मनो विजहाति ॥ ८ ॥**

यह पुरुष जब जन्म लेता है, तब देह के साथ आत्मभाव को प्राप्त होकर पापों से युक्त हो जाता है; किन्तु जब मृत्यु के उपरान्त ऊर्ध्वगमन करता है, तब पापों को परित्यक्त कर देता है ॥ ८ ॥

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवति इदं च परलोकस्थानं च सन्ध्यं तृतीयः स्वप्नस्थानं तस्मिन्सञ्च्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थानं च। अथ यथाक्रमोऽयं परलोकस्थाने भवति तमाक्रममाक्रम्योभयान् पाप्मन आनन्दाःश्च पश्यति स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावितो मात्रामुपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपित्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति ॥ ९ ॥

इस पुरुष के इहलोक और परलोक ये दो ही स्थान हैं। स्वप्र लोक इन दोनों के बीच का लोक है। इस मध्यवर्ती स्थान में रहकर पुरुष इहलोक और परलोक का दर्शन करता रहता है। परलोक में निवास करते समय वह पाप और आनन्द दोनों का दर्शन करता है। जब वह शयन करता है, तब अपनी सांसारिक भावनाओं के बनते-बिगड़ते रहने से अपने ही तेजः स्वरूप और ज्योतिः स्वरूप के कारण स्वप्र देखता है ॥

**न तत्र रथा न रथयोगा न पथानो भवन्त्यथ रथात्रथयोगान्पथः सृजते न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्ववन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्ववन्तीः सृजते स हि कर्ता ॥ १० ॥**

उस अवस्था (स्वप्रावस्था) में न रथ होता है, न उनमें जोते जानेवाले अश्व होते हैं और न ही पथ होता है, परन्तु वह (पुरुष) स्वयं ही इन सबको निर्मित कर लेता है। इसी प्रकार उस स्थिति में आनन्द, मोद और प्रमोद भी नहीं होते, किन्तु वह उन्हें भी उत्पन्न कर लेता है। वहाँ कुण्ड, सरोवर और नदियाँ भी नहीं होतीं, किन्तु वह उनका भी निर्माण कर लेता है। वस्तुतः वही उन सबका कर्ता है ॥ १० ॥

**तदेते श्लोका भवन्ति । स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्याऽसुमः सुमानभिचाकशीति । शुक्रमादाय पुनरेति स्थानः हिरण्मयः पुरुष एकहःसः ॥ ११ ॥**

ये श्रोक इस सन्दर्भ में हैं- स्वप्र की स्थिति में शरीर को निश्चेष्ट करके यह आत्मा स्वयं शयन नहीं करता, वरन् समस्त प्रसुप पदार्थों को जाग्रत् करता है अर्थात् उन्हें देखता है। वह हिरण्मय पुरुष एकाकी ही अपने तेज के साथ पुनः जाग्रत् स्थिति को प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

**प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा । स ईयतेऽमृतो यत्र कामः हिरण्मयः पुरुष एकहःसः ॥ १२ ॥**

वह अनश्वर और हिरण्मय पुरुष अपने शरीररूपी घोंसले की रक्षा करता हुआ, इस शरीर को परित्यक्त करके बहिर्गमन करता है। वह अमृत पुरुष जहाँ कामना (वासना) होती है, वहीं चला जाता है ॥ १२ ॥

**स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते ब्रह्मनि । उतेव स्त्रीभीः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ॥ १३ ॥**

वह दिव्य गुण सम्पन्न पुरुष स्वप्र की अवस्था में उच्च-नीच विभिन्न भावों को प्राप्त होकर अनेक रूपों का निर्माण कर लेता है। वह कभी नारियों के साथ मोद मनाता, कभी मित्रों के साथ आनन्दित होता और कभी भय उत्पन्न करने वाले दृश्य देखता है ॥ १३ ॥

**आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चनेति तं नायतं बोधयेदित्याहुः । दुर्भिषज्यः हास्मै भवति यमेष न प्रतिपद्यते थो खल्वाहुर्जागरितदेश एवास्यैष इति यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्त इत्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहीति ॥ १४ ॥**

सभी इस पुरुष के विश्राम स्थल (शरीर) को ही देखते हैं। उसके (वास्तविक स्वरूप) को कोई नहीं देखता। उस प्रसुत पुरुष को अचानक नहीं जगाना चाहिए, ऐसा (वैद्य लोगों का) मत है, क्योंकि एकदम जगाने से विभिन्न इन्द्रियों में उसकी चेतना न पहुँचने से फिर चिकित्सा करना कठिन हो जाता है। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि यह स्वप्नावस्था जाग्रत्स्थिति ही है, क्योंकि जो पुरुष (आत्मा) स्वप्नावस्था में देखता है, वही जाग्रत् अवस्था में भी देखता है, इस स्थिति में यह पुरुष स्वयं प्रकाशपुञ्ज होता है। (यह सुनकर) जनक बोले- मैं आपके निमित्त एक हजार मुद्राएँ प्रदान करता हूँ। हे भगवन्! अब मोक्ष सम्बन्धी उपदेश प्रदान करें ॥ १४ ॥

**स वा एष एतस्मिन्संप्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्टैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नायैव स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥ १५ ॥**

(याज्ञवल्क्य बोले- ) यह जीव सुषुप्तावस्था में (प्रगाढ़ निद्रा की स्थिति में) अनेक प्रकार से विचरण करते हुए पाप और पुण्यों का दर्शन करता है। (अर्थात् भले- बुरे दृश्य देखता है)। इसके उपरान्त वह जिस योनि से गया था, उसी योनि अर्थात् स्वप्नावस्था में ही लौट आता है। फिर भी वह पुरुष सबसे अनासक्त ही रहता है क्योंकि वह पुरुष स्वतः असङ्ग है। जनक ने कहा- हे याज्ञवल्क्य ! यह तथ्य यथार्थ है। मैं आपको सहस्र मुद्राएँ प्रदान करता हूँ। आप मेरे लिए मोक्ष विषयक उपदेश करें ॥ १५ ॥

**स वा एष एतस्मिन्स्वप्ने रत्वा चरित्वा दृष्टैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥ १६ ॥**

यह पुरुष जब स्वप्र की स्थिति में होता है, तब वहाँ विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाओं में विचरण करता हुआ, अनेक प्रकार के पाप-पुण्यों के दृश्य देखता हुआ लौट जाता है, जहाँ से वह आया था अर्थात् फिर से जाग्रत् स्थिति में आ जाता है; किन्तु वह उस सबसे अलिस ही रहता है, जो कुछ उसने वहाँ देखा था।

फिर भी वह पुरुष अनासक्त ही रहता है, इसका कारण यह है कि पुरुष वस्तुतः असङ्ग ही होता है। (यह सुनकर) जनक बोले— हाँ भगवन्! यह यथार्थ है। मैं आपको सहस्र मुद्राएँ प्रदान करता हूँ। आप (आगे भी) मोक्ष सम्बन्धी उपदेश ही कीजिए॥ १६॥

**स वा एष एतस्मिन्बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्टैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नान्तायैव ॥ १७ ॥**

यह आत्मा जाग्रत् स्थिति में विचरण करते हुए, विभिन्न पाप-पुण्यों का दर्शन करते हुए, पुनः वर्ण स्वप्रावस्था में पहुँच जाता है॥ १७॥

**तद्यथा महामत्स्य उभे कूले ऽनुसंचरति पूर्वं चापरं चैवमेवायं पुरुष एतावुभावन्ता-वनुसंचरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च ॥ १८ ॥**

जिस प्रकार कोई महामत्स्य (बड़ा मगरमच्छ) नदी के पूर्वापर (इस और उस) किनारों पर आता जाता रहता है, ठीक उसी प्रकार यह पुरुष भी स्वप्र और जाग्रतावस्था में क्रमशः आवागमन करता रहता है॥ १८॥

**तद्यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपणो वा विपरिपत्य श्रान्तः सःहत्य पक्षौ संलयायैव धियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति ॥ १९ ॥**

जिस प्रकार आकाश में श्येन (बाज) अथवा सुपर्ण पक्षी चतुर्दिक् उड़ता हुआ थक जाता है और पंखों को सिकोड़कर अपने घोंसलों की ओर गमन करता है, उसी प्रकार यह पुरुष इस स्थान (सुषुप्ति) की ओर दौड़ता है जहाँ शयन करने पर, न तो उसे किसी भोग की कामना रहती है और न ही स्वप्र दिखाई पड़ता है॥ १९॥

**ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तावताणिष्ठा तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णा अथ यत्रैनं घन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छाययति गर्तमिव पतति यदेव जाग्रद्धयं पश्यति तदत्राविद्यया मन्यते थ यत्र देव इव राजेवाहमेवेदः सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः ॥ २० ॥**

उस पुरुष की हिता नामक नाड़ियाँ इतनी सूक्ष्म होती हैं, जितना एक बाल का हजारवाँ भाग। ये (नाड़ियाँ) श्वेत, पीली, नीली, हरी और लाल रंग वाली होती हैं। वह पुरुष स्वप्रावस्था में जब जाग्रतावस्था के समान ही भयानक दृश्य देखता है कि मुझे कोई ग्वर रहा है, अपने वश में कर रहा है, हाथी खदेड़ रहा है अथवा मैं गड्ढे में गिर रहा हूँ, तो वह अज्ञान के कारण इन्हें यथार्थ मानलेता है और दुःखी होता है; किन्तु जब वह यह मानता है कि मैं ही देकता हूँ, राजा हूँ अथवा सब कुछ मैं ही हूँ, तब उस समय वह अपने को आनन्द लोक में अनुभव करता है, (अथवा वही उसका आनन्द होता है)॥ २०॥

**तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्याऽभयः रूपं तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरं तद्वा अस्यैतदासकाममात्मकाममकामः रूपः शोकान्तरम् ॥ २१ ॥**

सुषुप्तावस्था में अवस्थित उस पुरुष का रूप कामरहित, पापरहित और भयरहित होता है। जिस प्रकार अपनी निज की पत्नी का आलिङ्गन करने वाला पुरुष (पूर्णतया आत्मविभोर होने के कारण) बाहर और भीतर की सभी प्रकार की जानकारियों से अनभिज्ञ रहता है, उसी प्रकार यह पुरुष प्राज्ञ आत्मा से एकीकृत होकर बाह्य और आत्मान्तर विषयों से अनभिज्ञ रहता है अर्थात् उसे कोई चिन्ता नहीं सताती। उस पुरुष का यह स्वरूप निश्चित ही आसकाम, आत्मकाम, निष्काम तथा शोक रहित होता है ॥ २१ ॥

अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदा अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति भ्रूणहाऽभ्रूणहा चाण्डालोऽचाण्डालः पौल्कसोऽपौल्कसः श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसोऽनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान्हृदयस्य भवति ॥ २२ ॥

सुषुप्तावस्था में पिता अपिता, माता अमाता, लोक अलोक, देव अदेव, वेद अवेद, चोर अचोर, भ्रूणधाती अभ्रूणधाती, चाण्डाल अचाण्डाल, पौल्कस (क्षत्रिय स्त्री और शूद्र पुरुष से उत्पन्न पुरुष) अपौल्कस, संन्यासी (श्रमण) असंन्यासी, तपस्वी अतपस्वी हो जाते हैं। तब वह पुरुष समस्त पुण्यों और पापों से अनासक्त रहता है, क्योंकि उस समय वह हृदय के सम्पूर्ण शोकों को पार कर चुका होता है ॥ २२ ॥

यद्वै तत्र पश्यति पश्यन्वै तत्र पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्र तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत् पश्येत् ॥ २३ ॥

उस स्थिति में वह देखते हुए भी नहीं देखता। अमरत्व प्राप्त होने के कारण उसकी दृष्टि कभी विलुप्त नहीं होती। उस अवस्था में उस (पुरुष) के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होता, जिसे वह देख सके ॥ २३ ॥

यद्वै तत्र जिघ्रति जिघ्रन् वै तत्र जिघ्रति न हि धातुर्धातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्र तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यज्जघ्रेत् ॥ २४ ॥

उस समय सूधने की शक्ति होते हुए भी वह नहीं सूधता। उसकी ग्राण शक्ति कभी समाप्त नहीं होती, क्योंकि वह अनश्वर होता है। उस अवस्था में वह क्या सूधे? क्योंकि उससे भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है ॥

यद्वै तत्र रसयते रसयन्वै तत्र रसयते नहि रसयितू रसयतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्र तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्रसयेत् ॥ २५ ॥

वह रस ग्रहण करने में समर्थ होने पर भी रस ग्रहण नहीं करता। उसकी रस ग्रहण करने की सामर्थ्य का कभी लोप नहीं होता, क्योंकि वह अमर्त्य है। उस स्थिति में उससे भिन्न अन्य कोई पदार्थ भी तो नहीं है, जिसका वह रसपान करे ॥ २५ ॥

यद्वै तत्र वदति वदन्वै तत्र वदति न हि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्र तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्वदेत् ॥ २६ ॥

वाक्शक्ति सम्पन्न होते हुए भी वह बोलता नहीं। उसकी वाक्शक्ति का कभी विनाश नहीं होता, क्योंकि वह शाश्वत है। उससे अन्य कुछ और भी तो नहीं है, जिसके संदर्भ में वह बोले ॥ २६ ॥

यद्वै तत्र शृणोति शृणवन्वै तत्र शृणोति न हि श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्र तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यच्छृणुयात् ॥ २७ ॥

वह श्रवण शक्ति से युक्त होने पर भी नहीं सुनता। अमर्त्य होने के कारण उसकी श्रवण शक्ति का कभी विनाश नहीं होता। उससे भिन्न जब कुछ भी नहीं है, तो वह क्या सुने? ॥ २७ ॥

यद्वै तत्र मनुते मन्वानो वै तत्र मनुते न हि मनुर्पतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्र  
तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यन्मन्वीत ॥ २८ ॥

मनन करने की सामर्थ्य होने पर भी वह मनन नहीं करता। कभी नष्ट न होने वाला होने से उसकी मनन शक्ति कभी समाप्त नहीं होती। उसके अतिरिक्त जब अन्य कुछ है ही नहीं, तो वह मनन भी किसका करे? ॥ २८ ॥

यद्वै तत्र स्पृशति स्पृशन् वै तत्र स्पृशति न हि स्पष्टः स्पृष्टेर्विपरिलोपो  
विद्यतेऽविनाशित्वात्र तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्स्पृशेत् ॥ २९ ॥

स्पर्श की शक्ति से सम्पन्न होने पर भी वह स्पर्श नहीं करता। उसकी स्पर्श शक्ति का कभी लोप नहीं होता, क्योंकि वह अमरणशील है। जब उससे भिन्न कुछ भी नहीं है, तो वह स्पर्श भी किसका करे? ॥

यद्वै तत्र विजानाति विजानन्वै तत्र विजानाति न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो  
विद्यतेऽविनाशित्वात्र तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात् ॥ ३० ॥

जानने की सामर्थ्य होने पर भी वह नहीं जानता। उसके ज्ञान का कभी लोप नहीं होता, क्योंकि वह अनश्वर है। उससे भिन्न कुछ भी नहीं है, जिसे वह जाने ॥ ३० ॥

[उपर्युक्त स्थितियाँ सुषुप्तावस्था की हैं- अब जाग्रत् स्थिति का वर्णन है- ]

यत्र वान्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येदन्योऽन्यज्ञेदन्योऽन्यद्रसयेदन्योऽन्यद्वदेदन्योऽ-  
न्यच्छृणुयादन्योऽन्यमन्वीतान्योऽन्यत्पृशेदन्योऽन्यद्विजानीयात् ॥ ३१ ॥

जहाँ (जाग्रत् अवस्था में) अपने से भिन्न कुछ अन्य का भाव होता है, वहाँ (उस स्थिति में) अन्य, अन्य का दर्शन करने; अन्य, अन्य को सूँघने; अन्य, अन्य का रसास्वादन करने; अन्य, अन्य को बोलने; अन्य, अन्य का स्पर्श करने और अन्व, अन्य को जानने में समर्थ होता है (अर्थात् जाग्रतावस्था में समस्त बाहरी विषयों से सम्बद्ध रहने से स्वयं से भिन्न सबकी अनुभूति होती है) ॥ ३१ ॥

सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोकः सप्ताङ्गिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य  
एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा संपदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्द  
एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ॥ ३२ ॥

याज्ञवल्क्य ने आगे कहा- हे राजन्! जिस प्रकार अथाह जल में एक अद्वितीय द्रष्टा है, उसी प्रकार सुषुप्तावस्था में एक अद्वैत द्रष्टा है। यही ब्रह्मलोक है। यही इस पुरुष की परम गति, यही इसकी सच्ची सम्पदा है, यही इसका परम लोक और परम आनन्द है। इसी परम आनन्द के एक भाग का आश्रय ग्रहण करके समस्त भूत जीवित रहते हैं ॥ ३२ ॥

स यो मनुष्याणां राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैर्भौर्गैः संपन्नतमः  
स मनुष्याणां परम आनन्दोऽथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितृणां  
जितलोकानामानन्दोऽथ ये शतं पितृणां जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्वलोक  
आनन्दोऽथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा  
देवत्वमभिसंपद्यन्ते ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दो यश्च

श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः स एकः प्रजापतिलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः स एको ब्रह्मलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथैष एव परम आनन्द एष ब्रह्मलोकः सप्राडिति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीत्यत्र ह याज्ञवल्क्यो बिभयांचकार मेधावी राजा सर्वेभ्यो मान्तेभ्य उदरौत्सीदिति ॥ ३३ ॥

जो मनुष्यों में राद्ध (सम्पूर्ण अंग-अवयवों से युक्त) और समृद्धि से सम्पन्न है, समस्त मानवीय भोग्य पदार्थों से युक्त है, मनुष्यों में उत्तम और उनका अधिपति है, वही मनुष्य का परमानन्द है। मनुष्यों का सौ गुना आनन्द, होती है। पितॄलोक विजेता पितरों के सौ आनन्द गन्धर्व लोक का एक पितॄलोक विजेता पितरों का एक आनन्द होता है। पितॄलोक विजेता पितरों के सौ आनन्द गन्धर्व लोक का एक आनन्द है। गन्धर्व लोक के सौ आनन्द देवताओं का कर्मरूपी एक आनन्द है। कर्म के माध्यम से ही देवत्व की प्राप्ति होती है। देवगणों के कर्म स्वरूप शत आनन्द, जन्मसिद्धि (अजन्मा) देवताओं के एक आनन्द के बराबर है। वेदपाठी का माध्यम वेदपाठी और पापरहित पुरुषों का भी वही एक आनन्द है। अजान देवताओं के सौ आनन्द प्रजापति लोक के एक आनन्द के समतुल्य हैं। कामना रहित श्रोत्रिय और पापरहित व्यक्तियों का भी वही एक आनन्द है। प्रजापति के सौ आनन्द, ब्रह्मलोक के एक आनन्द के बराबर है। वेदपाठी, कामनारहित और पापरहित व्यक्तियों का वही लोक के सौ आनन्द, ब्रह्मलोक के एक आनन्द के बराबर है। महाराज जनक एक आनन्द है। याज्ञवल्क्य ने कहा- हे सप्राट! इसी को परमानन्द और इसी को ब्रह्मलोक कहते हैं। महाराज जनक बोले- मैं आपको एक सहस्र (गौणं अथवा मुद्राणं) प्रदान करता हूँ। अब आप आगे भी हमारे निमित्त मोक्ष का उपदेश करें। यह सुनकर ऋषि याज्ञवल्क्य भयभीत हो गये कि इस मेधावी राजा ने तो मुझे सब प्रश्नों के उत्तर मिल जाने तक प्रतिबन्धित कर लिया है ॥ ३३ ॥

स वा एष एतस्मिन्स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा दृष्टैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव ॥ ३४ ॥

याज्ञवल्क्य ने आगे कहा- यह पुरुष स्वप्न समाप्त हो जाने पर क्रीड़ा और विहार के पश्चात् पाप-पुण्य का दर्शन करके पुनः उसी मार्ग से जाग्रतावस्था में पहुँच जाता है, जहाँ से वह गया था ॥ ३४ ॥

तद्यथाऽनः सुसमाहितमुत्सर्जद्यायादेवमेवायः शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जन्याति यत्रैतदूर्धर्वच्छासी भवति ॥ ३५ ॥

जैसे भारवाहक शकट बोझ के कारण (चर-मर) शब्द करते हुए गतिमान होता है, वैसे ही देहस्थित यह आत्मा प्राज्ञ आत्मा से अधिष्ठित होकर शब्दायमान होता हुआ, ऊपर को श्वास खींचता हुआ गमन करता है ॥ ३५ ॥

स यत्रायमणिमानं न्येति जरया वोपतपतावाणिमानं निगच्छति तद्यथाप्रं वौदुम्बरं वा पिष्पलं वा बन्धनात्प्रमुच्यत एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः संप्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति प्राणायैव ॥ ३६ ॥

जिस समय यह शरीर वृद्धावस्था को प्राप्त होकर कमजोर हो जाता है, उस समय यह पुरुष उसी प्रकार शरीर के अवयवों से छूटता जाता है, जिस प्रकार आम, गूलर अथवा पीपल का फल, वृक्ष से अलग होकर गिरने लगता है। यह पुरुष उसी मार्ग से अन्य योनियों में शरीर धारण करने के निमित्त चला जाता है, जिस मार्ग से आया था ॥ ३६ ॥

तद्यथा राजानमायान्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽन्नैः पानैरावसथैः प्रतिकल्पन्ते ३-  
यमायात्ययमागच्छ तीत्येवं हैवं विदं सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त इदं  
ब्रह्मायांतीदमागच्छतीति ॥ ३७ ॥

जैसे क्रूरकर्मी सैनिक, दण्डाधिकारी, सारथि और ग्राम के प्रधान या नेता लोग आते हुए राजा की अन्न, पानी, निवास आदि की व्यवस्था करके स्वागतार्थ प्रतीक्षा करते रहते हैं कि ये आ रहे हैं, ये आ रहे हैं । वैसे ही ज्ञान सम्पन्न (कर्मफल जानने वाले) इस जीव की सभी भूत यह कहकर प्रतीक्षा करते रहते हैं, कि यह आ रहा है, ब्रह्म आ रहा है ॥ ३७ ॥

तद्यथा राजानं प्रयियासन्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽभिसमायन्त्येवमेवे-  
ममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छासी भवति ॥ ३८ ॥

जिस प्रकार राजा के जाते समय उग्रकर्मी सैनिक, दण्डाधिकारी, सारथि और गाँव के मुखिया लोग उसके समक्ष उपस्थित होते हैं, उसी प्रकार यह जीव जाते समय ऊपर को श्वास खींचता है, तब इस गमनशील जीव के समक्ष समस्त प्राण उपस्थित होकर उसका अनुगमन करते हैं ॥ ३८ ॥

## ॥ चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

स यत्रायमात्माऽबल्यं न्येत्य संमोहमिव न्येत्यथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति स  
एतास्तेजोमात्राः समध्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ्म  
पर्यावर्तते ३थारूपज्ञो भवति ॥ १ ॥

जिस प्रकार यह जीवात्मा निर्बल होकर सम्मोहित (मूर्छित जैसा) हो जाता है, तब शरीरगत सभी प्राण उसके समक्ष उपस्थित होते हैं । इसके पश्चात् वह इनके (प्राणों के) तेजांश को भली प्रकार ग्रहण करके हृदय की ओर गमन करता है । जिस समय वह चक्षु में व्यास पुरुष नेत्रों से बहिर्गमन कर जाता है, तब उनकी रूप दर्शन की सामर्थ्य समाप्त हो जाती है ॥ १ ॥

एकीभवति न पश्यतीत्याहुरेकीभवति न जिद्यतीत्याहुरेकीभवति न रसयत इत्याहुरे-  
॑कीभवति न वदतीत्याहुरेकीभवति न शृणोतीत्याहुरेकीभवति न मनुत इत्याहुरेकीभवति  
न स्पृशतीत्याहुरेकीभवति न विज्ञानातीत्याहुस्तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष  
आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमूल्कामन्तं प्राणोऽ-  
नूल्कामति प्राणमनूल्कामन्तः सर्वे प्राणा अनूल्कामन्ति सविज्ञानो भवति सविज्ञान-  
मेवान्ववक्रामति तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च ॥ २ ॥

इस प्रकार शरीरस्थ प्राण जीवात्मा में (समाहित) एकीकृत हो जाने पर यह जीव देखना बन्द कर देता है, ऐसा कहते हैं । (इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय, वाक् इन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, कर्णेन्द्रिय, त्वचा, मन और बुद्धि स्थित है, जब उस आत्मा से एकीकृत हो बहिर्गमन करती है, तो) यह जीव न सूँघता है, न बोलता है, न स्वाद चेतना जब उस आत्मा से एकीकृत हो बहिर्गमन करती है, तो यह जीव न ही जानता है, ऐसा लोग कहते हैं । उस चखता है, न सुनता है, न स्पर्श करता है, न मनन करता है और न ही जानता है, ऐसा लोग कहते हैं ।

समय उसके हृदय का अग्रभाग अत्यन्त देवीप्यमान होता है और प्राण, नेत्र, मस्तिष्क अथवा शरीर के अन्य किसी अवयव से बहिर्गमन कर जाता है। प्राण के बाहर निकलने के साथ ही समस्त इन्द्रियाँ उसका अनुगमन करने लगती हैं। उस समय यह आत्मा विशिष्ट ज्ञान से सम्पन्न होता है और विशिष्ट ज्ञान-सम्पन्न प्रदेश (देह) को ही गमन करता है। उस समय उसके साथ उसकी विद्या, उसके कर्म और पूर्व प्रज्ञा (अनुभव किये गये विषयों की वासना) भी साथ चलते हैं ॥ २ ॥

तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वा ऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसङ्खरत्ये-  
वमेवायमात्मेदः शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वा ऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसङ्खरति ॥

जैसे तृण (घास पर चलने वाली) जोंक नामक कीड़ा एक तृण के अन्तिम भाग पर पहुँच कर दूसरे तृण का आश्रय ग्रहण करने के लिए अपनी देह को सिकोड़ता हुआ अन्य तृण पर रखता है, वैसे ही यह आत्मा इस (वर्तमान) शरीर का आश्रय छोड़कर अविद्या का परित्याग करके अपना उपसंहार करते हुए दूसरे नवीन शरीर का आश्रय ग्रहण कर लेता है ॥ ३ ॥

तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरः रूपं तनुत  
एवमेवायमात्मेदः शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वा ऽन्यन्नवतरं कल्याणतरः रूपं कुरुते  
पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वाऽन्येषां वा भूतानाम् ॥ ४ ॥

जिस प्रकार स्वर्णकार स्वर्ण लेकर उसे नवीन कल्याणकारी रूप प्रदान करता है, उसी प्रकार यह आत्मा वर्तमान शरीर को चेतनारहित करके, अविद्या से मुक्ति पाकर पितर, गन्धर्व, देव, प्रजापति, ब्रह्मा अथवा अन्य प्राणियों के नवीन स्वरूपों को धारण करता है अथवा नूतन रूपों का निर्माण करता है ॥ ४ ॥

स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय  
आपोमयो वायुमय आकाशमयस्ते जोमयोऽते जोमयः काममयोऽकाममयः  
क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद्यदेतदिदंमयोऽदोमय इति यथाकारी  
यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा  
भवति पापः पापेन । अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति  
तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते ॥ ५ ॥

यह आत्मा ब्रह्म स्वरूप है; जो विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथिवीमय, जलमय, वायुमय और आकाशमय है। यह तेजोयुक्त, अतेजोयुक्त, कामयुक्त, अकामयुक्त, क्रोधयुक्त, अक्रोधयुक्त और धर्म तथा अधर्म से भी युक्त है। यह सर्वमय इदम् युक्त (प्रत्यक्ष) अदोयुक्त (परोक्ष) भी है। वह जिस तरह का कर्म और आचरण करता है, उसी तरह के भाव वाला हो जाता है। शुभ कार्य करने से वह शुभ और पाप कृत्य करने से पापी होता है। वह पुण्य कर्मों द्वारा पुण्यात्मा और पाप कर्मों द्वारा पापात्मा होता है। कुछ लोगों का कथन है कि वह पुरुष कामात्मा है। वह कामना के अनुरूप ही संकल्प करता है और संकल्प के अनुरूप ही कार्य करता है तथा कर्मानुसार ही फल प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

तदेष श्रोको भवति । तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य । प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम् । तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्यै लोकाय कर्मण इति नु कामयमानोऽथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आसकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्कामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति ॥ ६ ॥

यह श्रोक इस सन्दर्भ में है- इस पुरुष का लिङ्ग (कारण शरीर) जिस पर आसक्त होता है, उसी की ओर अपनी इच्छा शक्ति एवं कर्म सहित गमन करता है। इहलोक में किए गये कर्मों द्वारा परलोक को प्राप्त करके उन कर्मों के भोग के निमित्त वह पुनः इहलोक में आता है। कर्मफल भोग की कामना वालों का ही निश्चित रूप से आवागमन चलता रहता है, किन्तु निष्काम, आसकाम और आत्मकाम पुरुष के प्राणों (इन्द्रियाँ) का उत्क्रमण (संकल्प पूर्वक गमन) नहीं होता, वह तो ब्रह्म स्वरूप बनकर ब्रह्म को ही प्राप्त हो जाता है ॥ ६ ॥

**तदेष श्रोको भवति ।**

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समशूत इति ।

तद्यथाऽहिनिर्व्ययनी वल्मीकेमृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदः शरीरः शेतेऽथा-यमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव सोऽहं भगवते सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः ॥ ७ ॥

यह श्रोक इस विषय में है- जब इस पुरुष के हृदय में स्थित समस्त कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं, तब यह मर्त्य, अमृत अर्थात् अविनाशी होकर यहीं ब्रह्म की प्राप्ति नहीं लेता है। जिस प्रकार सर्प की केंचुली उसके बिल के बाहर मृत स्थिति में पड़ी रहती है और उसी प्रकार यह शरीर भी मृत पड़ा रहता है और ब्रह्मतेज से युक्त यह पुरुष जीवनमुक्त होकर शरीर के बिना ही रहता है। (यह सुनकर) विदेहराज जनक ने कहा- हे भगवन्! मैं आपको एक सहस्र गौणें (अथवा मुद्राएँ) प्रदान करता हूँ ॥ ७ ॥

**तदेते श्रोका भवन्ति ।**

अणुः पन्था विततः पुराणो माःस्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव ।

तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः ॥ ८ ॥

उस विषय (मोक्ष) के सन्दर्भ में ये श्रोक हैं- यह मार्ग (ज्ञानमार्ग) अति सूक्ष्म, विस्तृत और प्राचीन है, जो मुझे प्राप्त हुआ है और मैंने ही इसकी शोध की है। धैर्यशील ब्रह्मविद् पुरुषों को इहलोक में ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है और शरीर छोड़ने के पश्चात् वे उसी पथ से स्वर्ग लोक को प्राप्त करते हैं। विमुक्त स्थिति वाले तो स्वर्ग से भी आगे ऊर्ध्व लोक को प्राप्त करते हैं ॥ ८ ॥

**तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलः हरितं लोहितं च ।**

**एष पन्था ब्रह्माणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तेजसश्च ॥ ९ ॥**

ब्रह्मवेत्ता द्वारा खोजे गये उस मार्ग को कई लोग अलग-अलग रंग वाला बताते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि वह श्वेत वर्ण का है, कुछ कहते हैं कि वह नीलवर्ण वाला है, कुछ उसे पीला, कुछ हरा तथा कुछ लाल वर्ण वाला बताते हैं। वह मार्ग साक्षात् परब्रह्म (परमात्म स्वरूप ब्रह्मज्ञ) द्वारा अनुभव किया हुआ है। उस मार्ग से पुण्यात्मा, तेजस्वी और ब्रह्मवेत्ता ही जाते हैं ॥ ९ ॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाःरताः ॥  
 (एकांगी जीवन जीने वाले) जो लोग केवल अविद्या (पदार्थपरक कौशल) की उपासना करते हैं,  
 वे घने अंधेरे में (जहाँ कोई मार्ग नहीं सूझ पड़ता उस स्थिति में) जा गिरते हैं। इसी प्रकार जो लोग केवल  
 विद्या (चेतना परक कौशल) की उपासना करते हैं, वे भी उसी प्रकार अन्धकार में पड़ जाते हैं ॥ १० ॥

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽवृताः ।

ताःस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वाः सोऽबुधो जनाः ॥ ११ ॥

जो अज्ञानी और मूढ़ जन हैं, वे मृत्युपरान्त आनन्दहीन और अन्धकार से युक्त लोकों को प्राप्त करते हैं ॥

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः । किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥

यदि पुरुष (आत्मा को) यह ज्ञान हो जाए कि मैं क्या हूँ, तो फिर किस कामना और इच्छा से शरीर  
 के लिए उसे दुःखी होना पड़े? ॥ १२ ॥

यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन्संदेहो गहने प्रविष्टः ।

स विश्वकृत्स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एव ॥ १३ ॥

जो मननशील और प्रबुद्ध आत्मा वाला है, वह इस विषम (गहन) शरीर में प्रविष्ट होकर समस्त कर्म  
 सम्पन्न करता है, क्योंकि वह विश्वकृत् (कृत-कृत्य) है, सब कुछ करने वाला है, उसी प्राणी का वह लोक  
 है और वही स्वतः भी लोक है ॥ १३ ॥

इहैव सन्तोऽथ विद्यस्तद्वयं न चेदवेदीर्घती विनष्टिः ।

ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥ १४ ॥

हम इस शरीर में ही निवास करते हुए यदि उस आत्मा या ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं (तो कृत-  
 कृत्य हो जाते हैं)। यदि उसे नहीं जानते, तो विनष्ट होते हैं। जो जान लेते हैं, वे अमृतत्व प्राप्त कर लेते हैं,  
 इससे भिन्न तो दुःख ही उठाते हैं ॥ १४ ॥

यदैतमनुपश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा । ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ १५ ॥

जब मनुष्य उस भूतकाल और भविष्यत् काल के स्वामी, प्रकाशमान आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन कर  
 लेता है, तब वह उससे कभी पराइमुख नहीं होता ॥ १५ ॥

यस्मादर्वाक्संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते । तद्वेवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥

जिसके पीछे दिन-रात्रि सहित संवत्सर अनुगमन करता हुआ, परिभ्रमण करता रहता है; ज्योतियों में  
 परम ज्योति उस 'आयु' (रूप आत्मा) की देवगण उपासना करते हैं ॥ १६ ॥

यस्मिन्यज्ञ पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः । तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥

जिसके अन्दर पञ्च महाभूत, पञ्चजन और आकाश आश्रित हैं, उस आत्मा को ही मैं अविनाशी ब्रह्म  
 मानता हूँ अथवा मैं ही वह ब्रह्मवेत्ता और अमृत हूँ ॥ १७ ॥

प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः । ते निचिक्युर्ब्रह्म  
 पुराणमग्रघम् ॥ १८ ॥

जो उसे प्राण का भी प्राण, चक्षु का भी चक्षु, श्रोत्र का भी श्रोत्र और मन का भी मन जानते हैं, वे उसे पुरातन और अग्रगण्य ब्रह्म मानते हैं ॥ १८ ॥

**मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥**

उस ब्रह्म को एकात्मभाव से अन्तर्मुखी होकर ही देखा जाना चाहिए। इसमें नानात्व विभेद नहीं है। जो इसे नानात्व के रूप में देखता है, वह मृत्यु के द्वारा मृत्यु को प्राप्त करता है ॥ १९ ॥

**एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम् । विरजः पर आकाशादज आत्मा महाञ्छ्रुवः ॥२० ॥**

वह ब्रह्म जो एक ही प्रकार से दर्शन करने योग्य है, वह अप्रमेय एवं निश्चल है, निर्मल है, आकाश से भी अधिक सूक्ष्म है, अजन्मा है और वह महान् आत्मा अनश्वर है ॥ २० ॥

**तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः । नानुध्यायाद्वद्गृञ्छब्दान्वाचो विग्लापनःहि तदिति ॥ २१ ॥**

प्रज्ञावान् ब्राह्मण को चाहिए कि उसे ही जाने और उसी का चिन्तन-मनन करे। अधिक शब्दों के जंजाल में न उलझे। वह तो वाणी का व्यर्थ श्रम ही है ॥ २१ ॥

[ शब्दों से मात्र संकेत मिलते हैं, फिर तो प्रत्यक्ष अनुभव से ही उसका बोध होता है। अस्तु, यहाँ व्यर्थ वाग्-जंजाल से बचने का परामर्श दिया गया है । ]

**स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणोषु य एषोऽन्तर्हदय आकाशस्तस्मिज्ञेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय तमेत वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपस्माऽनाशकेनैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति एतद्द स्म वैतत्पूर्वे विद्वाऽसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्य चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे होते एषाणे एव भवतः । स एष नेति नेत्यात्माऽनुगृह्णो नहि गृह्णतेऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽसङ्गो नहि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्येतम् हैवैते न तरत इत्यतः पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभे उ हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः ॥ २२ ॥**

यह आत्मा महान्, अमृत, अज, विज्ञानमय तथा हृदयाकाशशायी है। यह सबको वश में रखने वाला तथा सबका नियन्त्रक और अधिपति है। यह पुण्य कर्मों से प्रवृद्ध नहीं होता और न ही पापकृत्यों से हास को प्राप्त होता है। यह सभी प्राणियों का स्वामी, उनका ईश्वर और सर्वभूत पालक है। लोकों की मर्यादा बनाये रखने के लिए इनको धारण करने वाला सेतु है। इस आत्मा को ब्राह्मण जन वेदों का अध्ययन करके यज्ञ, दान और कामना रहित तप के द्वारा जानते हैं। इसी को जानकर वे मुनि बनते हैं। इस (आत्मारूपी) यज्ञ, दान और कामना करते हुए ही त्यागी पुरुष सब कुछ त्याग कर संन्यास ग्रहण करते हैं। पहले के विद्वान् लोक की कामना करते हुए ही त्यागी पुरुष सब कुछ त्याग कर संन्यास ग्रहण करते हैं।

सन्तान आदि सकाम कर्मों के फल प्राप्त करने की आकांक्षा नहीं करते थे अर्थात् इससे विरत रहते हुए ये सोचते थे कि हमारा लोक तो आत्म लोक है, सन्तति आदि का हम क्या करेंगे? इसी कारण वे पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से ऊँचे उठकर भिक्षाटन करते थे। पुत्रैषणा ही वित्तैषणा और वित्तैषणा ही लोकैषणा है। आत्मा का ज्ञान देते समय विद्वज्जन 'नेति-नेति' ही कहते हैं, क्योंकि वह ग्रहण नहीं किया लोकैषणा है। आत्मा का ज्ञान देते समय असङ्ग अर्थात् आसक्ति रहित है, अहिंस्य है, बन्धन रहित अर्थात् जा सकता अर्थात् अग्राह्य है। वह आत्मा असङ्ग अर्थात् आसक्ति रहित है, अहिंस्य है, बन्धन रहित अर्थात् जा सकता अर्थात् अग्राह्य है। पाप और पुण्य दोनों को लाँघने में ये समर्थ हैं, मुक्त हैं, व्यथा रहित हैं और कभी नष्ट न होने वाला है। पाप और पुण्य दोनों को लाँघने में ये समर्थ हैं, क्योंकि ये किए हुए और न किए हुए दोनों ही प्रकार के कर्मों से लिस नहीं होता ॥ २२ ॥

**तदेतदृचाभ्युक्तम् ।** एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान् । तस्यैव स्यात्पदविज्ञं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति । तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽत्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवत्येष ब्रह्मलोकः सप्राडेनं प्रापितोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि मां चापि सह दास्यायेति ॥ २३ ॥

इसी तथ्य का उल्लेख ऋचा में भी मिलता है- ब्रह्मवेत्ता (ब्रह्मविद्) की यह महिमा नित्य है, जो कर्म के द्वारा न प्रवृद्ध होती है और न हास को ही प्राप्त होती है। उस महिमा के स्वरूप का ही ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। उसका ज्ञान प्राप्त करके फिर वह पापकर्म से लिस नहीं होता। इस प्रकार ज्ञान रखने वाला शान्त चित्त, तपस्वी, उपरत, तितीक्षा करने वाला और समाहित चित्त वाला होकर आत्मा में ही आत्मा का दर्शन करता है, संभी को अपने आत्मा के रूप में ही देखता है। फिर कोई पाप उसे नहीं व्यापता, वह पापों को लाँघ जाता है। वह पाप शून्य, मलरहित, संशयहीन और ब्राह्मण हो जाता है। हे राजन्! यही ब्रह्मलोक है, आप यहाँ तक पहुँच गये हैं। तब जनक बोले- हे भगवन्! मैं आपको नमन करता हूँ और आपकी सेवार्थ (आपके श्री चरणों में) स्वयं को भी समर्पित करता हूँ ॥ २३ ॥

**स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद ॥ २४ ॥**

यह महान् आत्मा जन्म न लेने वाला, अन्न भक्षक और कर्मफल प्रदाता है। इसे इस प्रकार जानने वाला मनुष्य समस्त कर्मों का फल प्राप्त कर लेता है ॥ २४ ॥

**स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयः हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद ॥ २५ ॥**

यह महान् आत्मा अज, जरारहित, मृत्युरहित, अमर एवं भयरहित ब्रह्म स्वरूप है। जो अभय है, वही ब्रह्म है, ऐसा जानने वाला अभय ब्रह्म स्वरूप हो जाता है ॥ २५ ॥

## ॥ पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूतुमैत्रेयी च कात्यायनी च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्रीप्रज्ञैव तर्हि कात्यायन्यथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद्वृत्तमुपाकरिष्यन् ॥ १ ॥

यह प्रख्यात है कि ऋषि याज्ञवल्क्य की दो पतियाँ थीं। जिनका नाम मैत्रेयी और कात्यायनी था। इन दोनों में मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी और कात्यायनी सामान्य स्त्रियों की तरह ही थी। याज्ञवल्क्य ने अगले आश्रम (वानप्रस्थ) में प्रवृत्त होने की इच्छा से कहा ॥ १ ॥

**मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः प्रव्रजिष्यन्वा अरेऽयमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति ॥ २ ॥**

पती मैत्रेयी से (उन्होंने कहा)-हे मैत्रेयी! मैं अब वर्तमान स्थान (गृहस्थाश्रम) से अगले स्थान (वानप्रस्थ) में परिव्रज्या हेतु जाना चाहता हूँ। अतः मेरी आकंक्षा है कि दूसरी धर्मपत्नी कात्यायनी और आपके बीच (सम्पत्ति का) बँटवारा कर दूँ ॥ २ ॥

**सा होवाच मैत्रेयी यन्मु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्स्यां न्वहं तेनामृताऽऽहो ३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितः स्यादमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति ॥ ३ ॥**

(यह सुनकर) मैत्रेयी बोली- हे भगवन्! धन-धान्य से पूरित इस सम्पूर्ण धरती की यदि मैं स्वामिनी बन जाऊँ, तो क्या मैं अमर पद पा सकूँगी? महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा- नहीं, जैसे साधन-सम्पत्तों का जीवन होता है, वैसा ही तुम्हारा जीवन हो जाएगा। धन से अमृतत्व की आशा नहीं करनी चाहिए ॥ ३ ॥

**सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्या यदेव भगवान्वेद तदेव मे विब्रूहीति ॥ ४ ॥**

मैत्रेयी बोली-हे स्वामी! जिस धन-ऐश्वर्य से मैं अमृतत्व प्राप्त नहीं कर सकती, उसे ग्रहण करके मैं क्या करूँगी? हे भगवन्! यदि आप अमृतत्व प्राप्त करने का कोई उपाय जानते हों, तो वह मुझे बताने का अनुग्रह करें॥

**स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया वै खलु नो भवती सती प्रियमवृथद्वन्त तर्हि भवत्येतद्व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥ ५ ॥**

याज्ञवल्क्य ने कहा- हे मैत्रेयी! तुम हमारी प्रिया रही हो और अब भी हमारे लिए प्रिय (आनन्द) की वृद्धि कर रही हो। तुम आकर बैठो- मैं तुम्हारे लिए अमृतत्व प्राप्त कराने वाला उपदेश प्रदान करता हूँ। तुम मेरे उपदेश का निदिध्यासन (अनुपालन) करना ॥ ५ ॥

**स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवति न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति न वा अरे पशूनां कामाय पशवः प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय पशवः प्रिया भवति न वा अरे**

**ब्रह्मणः** कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यामनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति न वा अरे वेदानां कामाय वेदाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेव्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदः सर्वं विदितम् ॥ ६ ॥

ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- हे मैत्रेयी ! निश्चित ही पति की आकांक्षा पूर्ति के लिए पति प्रिय नहीं होता वरन् अपनी (आत्मीयता की) आकांक्षा पूर्ति के लिए (पती को) पति प्रिय होता है । इसी प्रकार पती के प्रयोजन के लिए नहीं, बल्कि अपने प्रयोजन के लिए (पति को) पती प्रिय होती है । पुत्रों की आकांक्षा पूर्ति के लिए नहीं, वरन् अपनी आकांक्षा पूर्ति के लिए (पिता को) पुत्र प्रिय होते हैं । धन के प्रयोजन पूर्ति के लिए नहीं, वरन् अपने प्रयोजन की पूर्ति के लिए (व्यक्ति को) धन प्रिय होता है । पशुओं के प्रयोजन के निमित्त नहीं, वरन् अपने प्रयोजन के लिए पशु प्रिय होते हैं । ज्ञान या ब्राह्मण के प्रयोजन के लिए नहीं, वरन् अपने प्रयोजन के लिए ज्ञान या ब्राह्मण प्रिय होता है । शक्ति अथवा क्षत्रिय की आकांक्षा के लिए नहीं, वरन् अपनी आकांक्षा पूर्ति के लिए शक्ति या क्षत्रिय प्रिय होते हैं । लोकों के प्रयोजन के लिए नहीं, वरन् अपनी ही इच्छा पूर्ति के लिए लोक प्रिय होते हैं । देवों के प्रयोजन के लिए देव प्रिय नहीं होते अपने (आत्मीयता) प्रयोजन के लिए देव प्रिय होते हैं । वेदों के प्रयोजन के लिए नहीं, वरन् निज के प्रयोजन के लिए वेद प्रिय होते हैं । प्राणियों के हित के लिए नहीं, वरन् अपने हित के लिए प्राणी प्रिय होते हैं । सभी के हित के निमित्त नहीं, वरन् अपने हित के निमित्त सब प्रिय होते हैं । इसलिए हे मैत्रेयी ! यह आत्मा ही दर्शन करने योग्य, श्रवण करने योग्य, मनन करने योग्य और निदिध्यासन (अनुभव) करने योग्य है । इस आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन और ज्ञान से सभी का ज्ञान हो जाता है ॥ ६ ॥

**ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान्वेद देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद वेदास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो वेदान्वेद भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमे वेदा इमानि भूतानीदः सर्वं यदयमात्मा ॥ ७ ॥**

जो ब्राह्मण या ज्ञान को आत्मा से भिन्न किसी अन्य वस्तु में जानने वाला होता है, उसे ब्राह्मण या ज्ञान परित्यक्त कर देता है । क्षत्रिय या बल को आत्मा से भिन्न किसी वस्तु में देखने वाले को बल या क्षत्रिय परित्यक्त कर देता है । लोकों को आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य में जानने वाले को लोक त्याग देते हैं । देवताओं को आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य में जानने वाले को देवता छोड़ देते हैं । वेदों को आत्मा के

अतिरिक्त किसी अन्य में जानने वाले को वेद परित्यक्त कर देते हैं। समस्त प्राणियों को आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य में देखने वाले को समस्त प्राणी त्याग देते हैं। इस प्रकार ब्राह्मण (ज्ञान), क्षत्रिय (शक्ति), लोक, देवता, वेद और समस्त प्राणी ये सभी आत्मा ही हैं, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं ॥ ७ ॥

[आत्मा से भिन्न देखने पर ज्ञान, बल, लोक, देव, वेद आदि का वास्तविक लाभ मिलना बन्द हो जाता है। उनका कलेवर भर बना रहे, तो कुछ लाभ नहीं होता।]

**स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्षुयाद् ग्रहणाय दुन्दुभेर्ग्रहणेन दुन्दुभ्याधातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ८ ॥**

जिस प्रकार बजती हुई दुन्दुभि के बाहर निकलते हुए शब्दों को ग्रहण कर सकने (रोक सकने) में कोई दूसरा समर्थ नहीं है, उन (शब्दों) को केवल स्वयं दुन्दुभि अथवा उसका वादक ही ग्रहण कर सकता है (उसी प्रकार आत्मा को ग्रहण करने में आत्मा ही समर्थ है अथवा आत्मा के संचालक प्राण द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है) ॥ ८ ॥

**स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्षुयाद् ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ९ ॥**

जिस प्रकार बजाये जाते हुए शङ्ख के शब्दों को केवल वह शङ्ख अथवा उसका वादक ही ग्रहण कर सकता है, अन्य कोई ग्रहण करने में समर्थ नहीं है (उसी प्रकार आत्मा अथवा संचालक द्वारा ही आत्मा को ग्रहण किया जा सकता है) ॥ ९ ॥

**स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्षुयाद् ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ १० ॥**

जैसे बजायी जाती हुई वीणा के शब्दों को स्वयं वह वीणा अथवा उसका वादक ही ग्रहण कर सकता है, अन्य कोई नहीं (उसी प्रकार आत्मा को आत्मा द्वारा अथवा उसके संचालक द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है) ॥

**स यथाद्रैधाग्रेरभ्याहितस्य पृथगधूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्ग्निरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टः हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि ॥ ११ ॥**

जिस प्रकार चारों ओर से आधान किए हुए गीले ईंधन से उत्पन्न अग्नि से धूम निकलता है, उसी प्रकार हे मैत्रेयी! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, उपनिषद, सूत्र, श्लोक, व्याख्यान, अनुव्याख्यान, इष्ट (यज्ञ), हुत (यज्ञ किया हुआ), आशित (खिलाया हुआ), पायित (पिलाया हुआ), इहलोक, परलोक और समस्त प्राणी उस महान् सत्ता के निःश्वास ही हैं ॥ ११ ॥

**स यथा सर्वासामपां समुद्र एकायनमेवं सर्वेषां स्पर्शनां त्वगेकायनमेवं सर्वेषां गच्छानां नासिके एकायनमेवं सर्वेषां रसानां जिह्वैकायनमेवं सर्वेषां रूपाणां चक्षुरेकायनमेवं सर्वेषां शब्दानां श्रोत्रमेकायनमेवं सर्वेषां संकल्पानां मन**

एकायनमेवः सर्वासां विद्यानां हृदयमेकायनमेवः सर्वेषां कर्मणां हस्तावेकायनमेवः सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेवः सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवः सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेवः सर्वेषां वेदानां वागेकायनम्॥ १२ ॥

जिस प्रकार समस्त जलों का आश्रय स्थल एक मात्र समुद्र है, समस्त स्पर्शों का अयन त्वचा है, समस्त गन्धों का आश्रय नासिका है, समस्त रसों का आश्रय रसना (जिह्वा) है, समस्त रूपों का आश्रय चक्षु है, समस्त शब्दों का आश्रय श्रोत्र, समस्त संकल्पों का आश्रय मन, समस्त विद्याओं का आश्रय हृदय, समस्त कर्मों का आश्रय हस्त, समस्त आनन्दों का आश्रय उपस्थ, समस्त विसर्गों (विसर्जनों) का आश्रय पायु (गुदा), समस्त मार्गों का आश्रय चरण है, उसी प्रकार समस्त ज्ञान (वेदों) का एक ही आश्रय वाक् शक्ति (वाणी) है॥ १२ ॥

स यथा सैन्धवघ्नोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्त-  
रोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य  
संज्ञास्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥ १३ ॥

याज्ञवल्क्य ने आगे कहा- जिस प्रकार लवण (नमक) की डली बाहर और भीतर से रहित सम्पूर्ण रूप से रसघन ही है, उसी प्रकार हे मैत्रेयी! यह आत्मा बाह्याभ्यन्तर भेदों से शून्य प्रज्ञान घन ही है। यह विज्ञानघन आत्मा समस्त भूतों से ऊँचा उठकर उर्ही में विलीन होकर नष्ट हो जाता है। मृत्यु के उपरान्त इस तत्त्व का नाम शेष नहीं रहता (संज्ञाविहीन हो जाता है, क्योंकि वह देहेन्द्रिय भाव से मुक्त हो जाता है)॥ १३ ॥

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवान्मोहान्तमापीपिपन्न वा अहमिमं विजानामीति स  
होवाच न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा ॥ १४ ॥

मैत्रेयी ने कहा- हे भगवन्! यहीं आपने मुझे मोह में डाल दिया है। मैं इस (उपर्युक्त) तथ्य को विशेष रूप से नहीं समझ सकती। याज्ञवल्क्य बोले- हे मैत्रेयी? मैं मोह में डालने के लिए यह बात नहीं कह रहा हूँ। यह आत्मा निश्चित रूप से अमर्त्य (अविनाशी) है और उच्छेद (नष्ट होने के) धर्म वाली नहीं है॥

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं जिध्रिति तदितर इतरं  
रसयते तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं शृणोति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं  
स्पृशति तदितर इतरं विजानाति यत्र त्वस्य सर्वमातैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं  
जिध्रेत्तत्केन कं रसयेत्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं शृणुयात्तत्केन कं मन्वीत तत्केन  
कं स्पृशेत्तत्केन कं विजानीयाद्येनेदं सर्व विजानाति तं केन विजानीयात्स एष नेति  
नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सञ्ज्यतेऽसितो न व्यथते न  
रिष्यति विज्ञातारमरे केन विजानीयादित्युक्तानुशासनासि मैत्रेयेतावदरे खल्वमृतत्वमिति  
होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार ॥ १५ ॥

जहाँ (अज्ञान जनित स्थिति में) द्वैतावस्था में कोई अन्य किसी अन्य को देखता, सूँघता, रसास्वादन करता, सुनता, कहता, मनन करता, स्पर्श करता और जानता है; किन्तु जब इसके लिए सभी कुछ आत्मा ही हो गया है, तब (वहाँ) किसके द्वारा किसे देखे, किसके माध्यम से किसे सुने, किसके द्वारा किसका

रसास्वादन करे, किसके माध्यम से किसे कहे, किसके द्वारा किसका मनन करे, किससे किसका स्पर्श करे, किससे किसे जाने ? हे मैत्रेयी ? जिसके द्वारा सभी को जाना जाता है, उसे किसके द्वारा जाने ? वह आत्मा अग्राह्य है, जिसके विषय में 'नेति-नेति' ऐसा कहा गया है। उसका कभी नाश नहीं होता- वह अशीर्य (नष्ट न होने वाला) है, वह किसी से आसक्त नहीं होता- वह असङ्ग है, वह कभी बन्धन में नहीं बँधता- वह अबद्ध है। हे मैत्रेयी ! सर्वज्ञता को किसके द्वारा जाना जाए ? अरी मैत्रेयी ! अमृतत्व की प्राप्ति के लिए इतना ज्ञान (शिक्षा) बहुत है, ऐसा कहकर याज्ञवल्क्य (परिव्रज्या हेतु) चले गये ॥ १५ ॥

## ॥ षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

अथ व८शः ( पौतिमाष्यात् ) पौतिमाष्यो गौपवनाद्वौपवनः पौतिमाष्यात्पौतिमाष्यो गौपवनाद्वौपवनः कौशिकात्कौशिकः कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः ॥ १ ॥ आग्निवेश्यादग्निवेश्यो गार्याद्वागर्यो गार्याद्वागर्यो गौतमाद्वौतमः सैतवात्सैतवः पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणो गार्यायणाद्वागर्यायण उद्वालकाय- नादुद्वालकायनो जाबालायनाज्ञाबालायनो माध्यन्दिनायनान्माध्य- न्दिनायनः सौकरायणात्सौकरायणः काषायणा-त्काषायणः सायकायनात्सायकायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिः ॥ २ ॥ घृतकौशिकाद्घृतकौशिकः पाराशर्यायणात्पा- राशर्यायणः पाराशर्यात्पाराशर्यो जातूकण्याज्ञातूकण्य आसुरायणाच्च यास्काच्चासुरा- यणस्त्रैवणोस्त्रैवणिरौपजङ्घनेरौपजङ्घनिरासुरासुरिर्भरद्वाजाद्वारद्वाज आत्रेयादात्रेयो माण्टेर्माण्टिगौतमाद्वौतमो गौतमाद्वौतमो वात्प्याद्वात्प्य शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कैशोर्य- त्काष्यात्कैशोर्यः काष्यः कुमारहारितात्कुमारहारितो गालवाद्वालवो विदर्भीकौण्डि- न्याद्विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातो बाध्रवाद्वत्सनपाद्वाध्रवः पथः सौभरात्पन्थाः सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसादयास्यआङ्गिरसआभूतेस्त्वाष्टादाभूतिस्त्वाष्टो विश्वरूपात्त्वा- ष्टाद्विश्वरूपस्त्वाष्टोऽश्विभ्यामश्विनौ दधीच आथर्वणादध्यइडाथर्वणो देवादथर्वदैविवो मृत्योः प्राध्वः सनान्मृत्युः प्राध्वः सनः प्रध्वः सनात्प्रध्वः सन एकऋषेरकर्षिर्विप्रचित्तेर्विप्रचित्ति- व्यष्टिव्यष्टिः सनारोः सनारुः सनातनात्सनातनः सनगात्सनगः परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः ॥ ३ ॥

अब (याज्ञवल्कीय काण्ड का) वंश वर्णन किया जाता है। पौतिमाष्य ने गौपवन से, गौपवन ने पौतिमाष्य से, पौतिमाष्य ने गौपवन से, गौपवन ने कौशिक से, कौशिक ने कौण्डिन्य से, कौण्डिन्य ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने कौशिक और गौतम से (ज्ञानार्जन किया), गौतम ने आग्निवेश्य से, आग्निवेश्य शाण्डिल्य से, पाराशर पुत्र से, गार्य पुत्र ने उद्वालकायन से, उद्वालकायन ने जाबालायन (पराशर पुत्र) से, पाराशर्यायण ने गार्य पुत्र से, गार्य पुत्र ने उद्वालकायन से, उद्वालकायन ने जाबालायन से, जाबालायन ने माध्यन्दिनायन से, माध्यन्दिनायन ने सौकरायण से, सौकरायण ने काषायण से, काषायण से, जाबालायन ने माध्यन्दिनायन से, माध्यन्दिनायन ने सौकरायण से, सौकरायण ने कौशिकायनि से (ज्ञानार्जन किया); कौशिकायनि ने घृतकौशिक से, ने सायकायन से, सायकायन ने कौशिकायनि से (ज्ञानार्जन किया); कौशिकायनि ने घृतकौशिक से,

घृतकौशिक ने पाराशर्यायण से, पाराशर्यायण ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने जातूकर्ण्य से, जातूकर्ण्य ने आसुरायण और यास्क से, आसुरायण ने त्रैवणि से, त्रैवणि ने औपजन्धनि से, औपजन्धनि ने आसुरि से, आसुरि ने भरद्वाजवंशी से, भरद्वाजवंशी ने आत्रेय से, आत्रेय ने माण्टि से, माण्टि ने गौतम से, गौतम ने गौतम से, गौतम ने वात्स्य से, वात्स्य ने शाण्डिल्य के द्वारा, शाण्डिल्य ने कैशोर्य काप्य के द्वारा, कैशोर्यकाप्य ने कुमार हारित के द्वारा, कुमार हारित ने गालव के माध्यम से, गालव ने विदर्भी कौडिन्य से, विदर्भी कौण्डिन्य ने वत्सनपाद् बाभ्रव के द्वारा, वत्सनपाद् बाभ्रव ने पन्थासौभर के द्वारा, पन्थासौभर ने अयास्य आङ्गिरस से, अयास्य आङ्गिरस ने आभूति त्वाष्ट् से, आभूति त्वाष्ट् ने विश्वरूप त्वाष्ट् से, विश्वरूप त्वाष्ट् ने अश्विनीकुमारों के द्वारा, अश्विनीकुमारों ने दधीचि आर्थर्वण के माध्यम से, दध्यङ्ग आर्थर्वण ने अर्थर्वदैव से, अर्थर्वदैव ने मृत्यु प्राध्वंसन के द्वारा, मृत्यु प्राध्वंसन ने प्रध्वंसन के द्वारा, प्रध्वंसन ने एकर्षि के द्वारा, एकर्षि ने विप्रचिति के माध्यम से, विप्रचिति ने व्यष्टि के माध्यम से, व्यष्टि ने सनारु से, सनारु ने सनातन से, सनातन ने सनग से, सनग ने परमेष्ठी के द्वारा और परमेष्ठी ने ब्रह्म से (ज्ञान प्राप्त किया); ब्रह्म तो स्वयंभू है, उस ब्रह्म को नमन है ॥ १-३ ॥

## ॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

### ॥ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

ॐ पूर्णमदःपूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥  
ॐ ३ खं ब्रह्म खं पुराणं वायुरं खमिति ह स्माह कौरव्यायणीपुत्रो वेदो यं ब्राह्मणा विदुर्वेदैनेन यद्वेदितव्यम् ॥ १ ॥

वह (ब्रह्म) पूर्ण है, यह (जगत् भी) पूर्ण है। (उस) पूर्ण ब्रह्म से ही यह पूर्ण विश्व प्रादुर्भूत हुआ है। उस पूर्ण ब्रह्म में से इस पूर्ण जगत् को निकाल लेने पर पूर्ण ब्रह्म ही शेष रहता है। ॐ(इस अक्षर) से संबोधित खं (अनन्त आकाश या परम व्योम) ब्रह्म है। आकाश सनातन (परमात्म रूप) है। जिस (आकाश) में वायु विचरण करता है, वह आकाश ही 'खं' है- ऐसा कौरव्यायणी पुत्र का कथन है। यह ओंकार स्वरूप ब्रह्म ही वेद है- इस प्रकार (ज्ञानी) ब्राह्मण जानते हैं, क्योंकि जो जानने योग्य है, वह सब इस ओंकार रूप वेद से ही जाना जा सकता है ॥ १ ॥

### ॥ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

त्रयः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुरा उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊर्चुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हृतदक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दम्यतेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥ १ ॥

देव, मानव तथा असुर इन तीनों प्रजापति के पुत्रों ने ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए प्रजापति के यहाँ निवास किया। ब्रह्मचर्य वास पूर्ण करने के पश्चात् देवताओं ने (प्रजापति से) कहा- 'आप हमें उपदेश

दीजिए।' तब उन्हें प्रजापति ने 'द' अक्षर का उपदेश दिया और पूछा- क्या तुमने इसका तात्पर्य समझ लिया? तब उन (देवों) ने कहा 'हाँ समझ गये'। आपने हमसे (इन्द्रियों का) दमन करो - इस प्रकार कहा है। तब प्रजापति बोले- 'ठीक है', तुम समझ गये ॥ १ ॥

**अथ हैनं मनुष्या ऊचुर्बीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा**  
**३ इति व्यज्ञासिष्टेति होचुर्दत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥ २ ॥**

इसके बाद मनुष्यों ने प्रजापति से कहा- 'आप हमें उपदेश प्रदान करने की कृपा करें।' तदनन्तर उन मनुष्यों से भी प्रजापति ने 'द' अक्षर का उपदेश देकर पूछा- 'क्या तुम इसका तात्पर्य समझ गये?' तब समस्त मानवों ने कहा- 'हाँ' समझ गये। उन्होंने कहा- आपने हमसे 'दान करो' इस प्रकार कहा है। प्रजापति ने कहा- हाँ, तुम सब ठीक ही समझ गये ॥ २ ॥

**अथ हैनमसुरा ऊचुर्बीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा**  
**३ इति व्यज्ञासिष्टेति होचुर्दयध्वमिति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति तदेतदेवैषा**  
दैवी वाग्नुवदति स्तनयित्युर्द द द इति दाप्यत दत्त दयध्वमिति तदेतत्त्वयः शिक्षेद्वमं दानं  
दयामिति ॥ ३ ॥

अन्त में असुरों ने भी प्रजापति से उपदेश करने की प्रार्थना की। प्रजापति ने उनको भी उसी 'द' अक्षर का उपदेश किया और पूछा- क्या तुम सभी ने इसका अर्थ (भाव) समझ लिया? तब उन असुरों ने कहा- 'हाँ' भगवन्! समझ गये, आपने हमको 'दया करो' ऐसा उपदेश प्रदान किया है। (तत्पश्चात्) प्रजापति बोले- हाँ ठीक, तुम समझ गये। प्रजापति के अनुशासन का द. द. द. ..... मेघ गर्जना के रूप में दैवी वाक् आज भी अनुमोदन करता है अर्थात् दमन करो, दान करो, दया करो। इस कारण से इन तीनों दमन, दान और दया की ही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए ॥ ३ ॥

[ प्रजापति के तीनों पुत्रों ने एक ही अक्षर 'द' से अपने लिए अनुकूल भाव ग्रहण कर लिया- प्रजापति सन्तुष्ट हुए। यह कैसे संभव हुआ? उत्तर है- ब्रह्मचर्य तप से शुद्ध अन्तःकरण के आधार पर यह संभव हुआ; अन्यथा पूरे वाक्य बोलने पर भी श्रोता अपने विकारों के आवरण में सत्य के स्पन्दन ग्रहण नहीं कर पाते। ऋषि आग्रह करते हैं कि आज भी हमें प्रजापति के इन तीनों निर्देशों का अनुपालन करना चाहिए। प्रश्न उठता है- हम मनुष्य हैं, तो तीनों निर्देशों का अनुपालन क्यों करें? समाधान यह है कि यदि हम ब्रह्मचर्य (ब्रह्म के अनुकूल आचरण) की साधना करें, तो स्पष्ट हो जाता है कि जब अपने 'स्व' में देवत्व का उदय हो, तो उससे उत्पन्न श्रेष्ठता के अहं से बचने के लिए दमन का सहारा लें, जब मनुष्योचित भाव जागे, तो संकीर्ण स्वार्थों से बचने के लिए दान करें और जब आसुरी भाव जागे, तो कूरता से बचने के लिए दया का आश्रय लें। ]

**॥ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥**

एष प्रजापतिर्यद्वदयमेतद्व्याप्तस्वर्व तदेतत्प्रक्षरःहृदयमिति ह इत्येकमक्षरमभिहर-  
न्त्यस्मै स्वाश्वान्ये च य एवं वेद द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्वान्ये च य एवं वेद यमित्ये-  
कमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद ॥ १ ॥

यह जो हृदय है, वह प्रजापति है- ब्रह्म है, वह सब कुछ है। यह 'हृदय' तीन अक्षर (वर्णों या क्षरित न होने वाले गुणों) से युक्त है। 'ह' यह एक अक्षर है (यह हृज् धातु से बना है, जिसका भाव हरणशील होता है), जो यह जानता है, उसके निमित्त अपने और अन्य (प्राण प्रवाह या प्राणी) अभिहरण करते होता है), जो यह जानता है, उसके निमित्त अपने और अन्य सभी दान करते (स्नेहपूर्वक अपने पास के पदार्थ देते) हैं। एक अक्षर 'द' है ('द' दानार्थ धातु से बना है) जो यह जानता है, उसके निमित्त अपने और अन्य सभी दान करते (स्नेहपूर्वक अपने पास के पदार्थ देते) हैं। एक अक्षर 'यम्' है (यह 'इण' गत्यर्थक धातु से बना है) यह जानने वाला स्वर्ग की प्राप्ति करता है ॥ १ ॥

[ हृदय के तीन भाव हैं, जो आवश्यक है और अपने पास नहीं है, उसे प्राप्त करना, जो है उसे श्रेष्ठतर प्रयोगों के लिए देना तथा अपने श्रेष्ठ लक्ष्य की ओर गतिशील रहना। तीनों भाव मिलकर मनुष्य को इस लोक एवं अन्य लोकों के अनुदानों के साथ सद्गति की प्राप्ति कराने में समर्थ होते हैं । ]

## ॥ चतुर्थ ब्राह्मणम् ॥

तद्वैतदेव तदास सत्यमेव स यो हैतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमाँल्लोकान्  
जित इत्रवसावसद्य एवमेतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति सत्यः ह्येव ब्रह्म ॥ १ ॥

यह हृदय ही सत्यरूप है, यही महान् यक्ष है तथा यही ब्रह्म के रूप में प्रसिद्ध है। जो व्यक्ति इस प्रकार जानता है, वह इन समस्त लोकों को जीत लेता है। जो असत् मानता है, वह उससे पराजय को प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है। जो इस तरह इस महान् यक्ष, आदिपुरुष (पूज्य), प्रथम उत्पन्न हुए 'सत्य ब्रह्म' को जानता है, (उसको ही उपर्युक्त फल प्राप्त होता है); क्योंकि सत्य ही ब्रह्म रूप है ॥ १ ॥

## ॥ पञ्चम ब्राह्मणम् ॥

आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म ब्रह्म प्रजापतिं  
प्रजापतिर्देवाः स्ते देवाः सत्यमेवोपासते तदेतत्यक्षरः सत्यमिति स इत्येकमक्षरं  
तीत्येकमक्षरं यमित्येकमक्षरं प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं मध्यतोऽनृतं तदेतदमृतमुभयतः सत्येन  
परिगृहीतः सत्यभूयमेव भवति नैवं विद्वाः समनृतः हिनस्ति ॥ १ ॥

यह व्यक्त जगत् प्रारम्भिक काल से आपः (मूल क्रियाशील तत्त्व) के रूप में ही था। तत्पश्चात् उस आपः ने सत्य (यथार्थ भासित होने वाले जगत्) की सर्जना की। इसलिए सत्य ही ब्रह्म का स्वरूप है। ब्रह्म ने प्रजापति को तथा प्रजापति ने समस्त देवगणों को उत्पन्न किया। वे सभी देवगण ब्रह्मरूप सत्य की उपासना करते हैं। यह 'सत्य' नाम तीन अक्षरों से युक्त है। 'स' यह प्रथम अक्षर है, 'ती' (उच्चारण सौकर्य हेतु 'त्' को 'ती') यह द्वितीय अक्षर तथा 'यम्' यह तृतीय अक्षर है। इन तीनों में प्रथम और तृतीय अक्षर ही सत्य रूप है, मध्य का दूसरा अक्षर अनृत है। यह अनृत (तकार) दोनों तरफ से (सकार-यकार रूप) सत्य से व्याप्त है। अतः 'सत्य' - यह नाम सत्य प्राय ही है। इस तरह से जानने वाले की अनृत कभी भी हिंसा नहीं करता ॥ १ ॥

[ यह नश्वर पदार्थ या जगत् सत्य के सम्पूट में है, अर्थात् सत्य से उत्पन्न है और उसी में लीन होता है। यह जानने वाला नश्वर पदार्थ का सामयिक उपयोग करते हुए भी उसमें लिप्त होकर नष्ट नहीं होता, यह ऋषि का भाव है । ]

तद्यत्तत्पत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुष-  
स्तावेतावन्योन्यस्मन्प्रतिष्ठितौ रश्मिभिरेषोऽस्मन्प्रतिष्ठितः प्राणैरयममुष्मिन् स  
यदोत्क्रमिष्यन्भवति शुद्धमेवैतन्मण्डलं पश्यति नैनमेते रश्मयः प्रत्यायन्ति ॥ २ ॥

वह सत्य ही आदित्य रूप है। इस सूर्य मण्डल में विद्यमान पुरुष और दक्षिण नेत्र में स्थित पुरुष दोनों आपस में संयुक्त हैं। वे ये दोनों पुरुष एक दूसरे में स्थित हैं। आदित्य-रश्मयों के माध्यम से चाक्षुष पुरुष में स्थित है और चाक्षुष पुरुष आदित्य में प्राण के रूप में स्थित है। जब चाक्षुष पुरुष निकलने लगता है, उस समय यह आदित्य मण्डल को ही देखता है। पुनश्च, ये किरणें लौटकर समीप नहीं आती हैं ॥ २ ॥

य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकः शिर एकमेतदक्षरं भुव इति  
बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहरिति हन्ति  
पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥ ३ ॥

इस आदित्य मण्डल में जो यह (सत्य नाम से युक्त) पुरुष विद्यमान है, 'भूः' उसका शिर है। (उस पुरुष का) शिर एक है तथा वह अक्षर भी एक ही है। 'भुवः' यह भुजा है, इसकी भुजाएँ दो हैं तथा ये अक्षर भी दोनों भुजाओं के रूप में (दो) हैं। 'स्वः' यह प्रतिष्ठा अर्थात् चरणों के रूप में हैं; चरण दो हैं और ये (स्वः=सुवः) अक्षर भी दो हैं। 'अहर्' (हन् धातु से बना है, अर्थ है- हननकर्ता) यह इस (पुरुष) का उपनिषद् (गूढ़ नाम) है, जो इस तरह से जानता हुआ, उस ब्रह्म की उपासना करता है, वह पापों का हनन करके उनका परित्याग कर देता है ॥ ३ ॥

योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकः शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू  
द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहमिति हन्ति  
पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥ ४ ॥

यह दक्षिण नेत्र में जो पुरुष (विद्यमान) है। भूः उसका शिर है। (उस पुरुष का) शिर एक है तथा वह अक्षर भी एक ही है। 'भुवः' यह भुजा है, इसकी भुजाएँ दो हैं तथा ये अक्षर भी दोनों भुजाओं के रूप में (दो) हैं। 'स्वः' यह प्रतिष्ठा अर्थात् चरणों के रूप में हैं और ('स्वः = सुवः') अक्षर भी दो हैं। 'अहम्' (इसका भी अर्थ हननकर्ता है) उस (पुरुष) का उपनिषद् (गूढ़ नाम) है; जो इस तरह से जानता हुआ ब्रह्म की उपासना करता है, वह पापों का हनन करके उनका परित्याग कर देता है ॥ ४ ॥

॥ षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

मनोमयोऽयं पुरुषो भा: सत्यस्तस्मन्नन्तर्हदये यथा ब्रीहिर्वा यवो वा स एष  
सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच ॥ १ ॥

यह पुरुष मनोमय एवं सत्य स्वरूप प्रकाश से युक्त है। यह हृदय के अन्तः भाग में ब्रीहि (धान) अथवा यव (जौ) के रूप (जैसे सूक्ष्म आकार) में प्रतिष्ठित है। (यह अनन्त हृदय में योगियों द्वारा दृष्टिगोचर होता है।) वह इन सभी का स्वामी एवं अधिष्ठाता है और जो भी कुछ (दृश्य जगत्) है, सभी को अपने शासन में रखता है ॥ १ ॥

## ॥ सप्तमं ब्राह्मणम् ॥

विद्युद्ध्रहेत्याहुर्विदानाद्विद्युद्धिदत्येनं पाप्मनो य एवं वेद विद्युद्ध्रहेति विद्युद्धयेव ब्रह्म ॥  
विद्युत् ही (प्रकाश स्वरूप) ब्रह्म है, इस प्रकार (प्रायः लोग) कहते हैं। पापों का खण्डन अथवा विनाश करने में सक्षम होने से ब्रह्म ही विद्युत् (प्रकाश) स्वरूप है। जो (व्यक्ति) 'विद्युत् ब्रह्म है' इस प्रकार जानता है, उसके पापों का (यह विद्युत् ब्रह्म) शमन कर देता है; क्योंकि प्रकाश के रूप में विद्युत् ही ब्रह्म है ॥ १ ॥

## ॥ अष्टमं ब्राह्मणम् ॥

वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्त्वारः स्तनाः स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः  
स्वधाकारस्तस्या द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारं च हन्तकारं मनुष्याः  
स्वधाकारं पितरस्तस्याः प्राण ऋषभो मनो वत्सः ॥ १ ॥

वाणी की, कामधेनु गौ के समान उपासना करे। उस गौ के स्वाहाकार, वषट्कार, हन्तकार तथा स्वधाकार ये चार स्तन हैं। उसके दो स्तन स्वाहाकार और वषट्कार से देवताओं की जीविका चलती है, हन्तकार से मनुष्य जीवन पाते हैं तथा स्वधाकार से पितृगण जीवित रहते हैं। उस वाणी रूपी धेनु के लिए प्राण ही वृशभ है और मन ही वत्स (बछड़ा) रूप है ॥ १ ॥

## ॥ नवमं ब्राह्मणम् ॥

अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्त्रं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति  
यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति स यदोत्कमिष्यन्भवति नैनं घोषः शृणोति ॥ १ ॥

यह वैश्वानर अग्नि ही है, जो सभी पुरुषों के शरीर में स्थित है। जो अन्त्र भक्षण किया जाता है, उसका पाचन शरीर में स्थित यह वैश्वानर अग्नि ही करता है। उसी का ही यह घोष (नाद) होता है, जिसे व्यक्ति कानों को बन्द करके अनहद नाद की भाँति श्रवण करता है। जिस समय यह प्राण (पुरुष) शरीर से बाहर निकलने वाला होता है, उस समय इस नाद को नहीं श्रवण कर पाता ॥ १ ॥

## ॥ दशमं ब्राह्मणम् ॥

यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य  
खं तेन स ऊर्ध्वं आक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा लम्बरस्य खं  
तेन स ऊर्ध्वं आक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खं तेन स  
ऊर्ध्वं आक्रमते स लोकमागच्छत्यशोकमहिमं तस्मिन्वसति शाश्वतीः समाः ॥ १ ॥

जब यह पुरुष इस (मनुष्य) लोक से उन्मुक्त होकर गमन करता है, तब वह सर्वप्रथम वायु लोक को प्राप्त करता है। (तदनन्तर) वहाँ पर वह वायु उसके लिए छिद्र युक्त होकर मार्ग प्रदान कर देता है, वह छिद्र रथ के पहिये की भाँति होता है। उस (छिद्र) के द्वारा वह ऊर्ध्वं की ओर आरोहण करता है। इसके पश्चात् वह सूर्यलोक में प्रतिष्ठित होता है। वहाँ पर सूर्य भी उसके लिए लम्बर नामक वाय्यन्त्र के छिद्र की भाँति रास्ता प्रदान करता है। वहाँ से वह ऊर्ध्वं की ओर आरोहण करते हुए चन्द्रलोक में पहुँचता है। वहाँ चन्द्रमा भी उसके लिए दुन्दुभि के छिद्र की तरह का मार्ग देता है। उस मार्ग के द्वारा ही वह ऊपर की ओर बढ़ता है। इसके बाद वह अशोक (अर्थात् मानसिक पीड़ा से रहित) और अहिम (अर्थात् शारीरिक दुःख से रहित) नामक लोक में पहुँचकर वहाँ सदा अनन्त वर्षों तक (अनन्तकाल तक) निवास करता है ॥ १ ॥

## ॥ एकादशं ब्राह्मणम् ॥

एतद्वै परमं तपो यद्व्याहितस्तप्यते परमः हैव लोकं जयति य एवं वेदैतद्वै परमं तपो यं प्रेतमरण्यः हरन्ति परमः हैव लोकं जयति य एवं वेदैतद्वै परमं तपो यं प्रेतमग्नावभ्यादधति परमः हैव लोकं जयति य एवं वेद ॥ १ ॥

रोगग्रस्त व्यक्ति को जो ताप-क्लेश होता है- यह निश्चित रूप से परम तप है, जो इस प्रकार श्रेष्ठ चिन्तन करता है, वह परम सत्य लोक को अपने वश में कर लेता है। मृत अवस्था को प्राप्त व्यक्ति को जो लोग जंगल (श्मशान) की ओर ले जाते हैं, यह भी श्रेष्ठ तप है, जो इस प्रकार से जानता है- वह भी परम सत्य लोक को जीत लेता है। मृत व्यक्ति को जो भी अग्नि में प्रतिष्ठित करते हैं, निश्चित ही यह परम तप है, जो इस तरह से जान लेता है, वह श्रेष्ठ लोक को अपने वश में कर लेता है ॥ १ ॥

## ॥ द्वादशं ब्राह्मणम् ॥

अन्नं ब्रह्मेत्येकाहुस्तन्न तथा पूयति वा अन्नमृते प्राणात्प्राणो ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नादेते हत्वेव देवते एकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतस्तद्द्व स्माह प्रातृदः पितरं किंस्विदेवैवं विदुषे साधु कुर्याकिमेवास्मा असाधु कुर्यामिति स ह स्माह पाणिना मा प्रातृद कस्त्वेनयोरेकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतीति तस्मा उ हैतदुवाच वीत्यन्नं वै वि अन्ने हीमानि सर्वाणि भूतानि विष्णुनि रमिति प्राणो वै रंप्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रमन्ते सर्वाणि हवा अस्मिन्भूतानि विशन्ति सर्वाणि भूतानि रमन्ते य एवं वेद ॥ १ ॥

प्रातृद ऋषि अपने पिता से विचार विमर्श करते हुए कहते हैं- कुछ लोगों का कथन है कि अन्न ब्रह्म है, किन्तु यह बात मिथ्या लगती है; क्योंकि प्राण के अभाव में अन्न सङ् (नष्ट हो) जाता है। कुछ लोग प्राण को ही ब्रह्म कहते हैं, किन्तु यह बात भी मिथ्या प्रतीत होती है, क्योंकि अन्न के अभाव में प्राण शुष्क पड़ जाता है। यह दोनों देव तत्त्व एक साथ मिलकर परमात्म भाव को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार की विशेष अनुभूति प्राप्त करने वाले का मैं क्या शुभ अथवा क्या अशुभ करूँ? (क्योंकि कृतार्थ होने के उपरान्त उसका न तो शुभ किया जा सकता है और न तो अशुभ।) तत्पश्चात् उसके पिता ने रोकते हुए इस प्रकार कहा- ‘हे प्रातृद’! ऐसा मत कहो, इन दोनों तत्त्वों की समरूपता को प्राप्त करके कौन परमभाव को प्राप्त होता है? अतः उस (प्रातृद के पिता) ने ‘वी’ इस प्रकार कहा। ‘वी’ यही अन्न रूप है। ‘वी’ रूप अन्न में ही ये समस्त भूत (प्राणी) समाहित हैं। ‘स्म’ यह प्राण है, क्योंकि रं अर्थात् प्राण में ही ये समस्त भूत (प्राणी समुदाय) रमण करते हैं। जो इस प्रकार से जानता है (वह वीर है), उसमें ये सभी प्राणी समाहित होते हैं तथा सभी प्राणी रमण करते हैं ॥ १ ॥

## ॥ त्रयोदशं ब्राह्मणम् ॥

उक्थं प्राणो वा उक्थं प्राणो हीदः सर्वमुत्थापयत्युद्धास्मादुक्थविद्वीरस्तिष्ठत्युक्थस्य सायुज्यः सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ १ ॥

प्राण ही ‘उक्थ’ अर्थात् स्तोत्र है, इस कारण ‘उक्थ’ की प्राण के रूप में उपासना करें; क्योंकि प्राण

ही इन सभी (प्राणियों) को (ऊपर) उठाता है। इस उक्थ के द्वारा ही उक्थवेत्ता पुत्र का प्राकट्य होता है। इस तरह से जानने वाला ज्ञानी ही 'उक्थ' (प्राण) के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त होता है ॥ १ ॥

**यजुः प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते युज्यन्ते हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ट्याय यजुषः सायुज्यः सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ २ ॥**

प्राण की उपासना 'यजुः' (योग) के रूप में सम्पन्न करें। प्राण ही यजुः है, इस कारण प्राण में इन समस्त भूतों (प्राणियों) का योग होता है। समस्त भूत (प्राणी) इस (प्राण) की श्रेष्ठता के कारण ही इस यजुः रूप प्राण से संयुक्त होते हैं। अतः जो भी इस प्रकार से उपासना करता है, वह यजुः के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त कर लेता है ॥ ३ ॥

**साम प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यज्च सम्यज्च हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ट्याय कल्पन्ते सामः सायुज्यः सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ ३ ॥**

प्राण ही साम है; क्योंकि समस्त प्राणी साम में ही समाहित होते हैं; इस कारण 'साम' की इसी रूप में उपासना करें। सभी प्राणी उस साम के साथ ही एक रूप होते हैं एवं उसकी श्रेष्ठता को धारण करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार से उपासना करने वाला व्यक्ति साम के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त करता है ॥

**क्षत्रं प्राणो वै क्षत्रं हि वै क्षत्रं त्रायते हैनं प्राणः क्षणितोः प्र क्षत्रमन्नमाप्नोति क्षत्रस्य सायुज्यः सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ ४ ॥**

प्राण ही क्षत्र (बल) है, इसलिए प्राण की उपासना करें। प्राण ही क्षत्र है अर्थात् इस शरीर की शस्त्रादि जनित क्षति से रक्षा करता है। अतः क्षत से रक्षा करने के कारण प्राण का क्षत्रत्व प्रसिद्ध है। अन्य किसी से त्राण (रक्षा) न पाने वाले क्षत्र (प्राण) को प्राप्त करता है। जो भी व्यक्ति इस तरह जानता है, वह क्षत्र के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त कर लेता है ॥ ४ ॥

## ॥ चतुर्दशं ब्राह्मणम् ॥

**भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षररः ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदेषु त्रिषु लोकेषु तावद्व जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ १ ॥**

इस ब्राह्मण में गायत्री के तत्त्वज्ञान एवं महात्म्य का वर्णन किया गया है-

गायत्री के प्रथम पद (चरण) का महत्त्व समझाते हुए ऋषि कहते हैं- भूमि (भू+मि=दो, इसी प्रकार), अन्तरिक्ष (चार) तथा द्यौ (दि+वौ =दो) ये कुल मिलाकर आठ अक्षर होते हैं। आठ अक्षरों से युक्त गायत्री का एक (प्रथम)पाद (तत्सवितुर्वरेण्यं) है। यह (भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौ) ही इस गायत्री का प्रथम पाद है। जो भी व्यक्ति इस तरह जानता है, वह तीनों लोकों के सम्पूर्ण ऐश्वर्य को प्राप्त कर लेता है ॥

**ऋचो यजूःषि सामानीत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षररः ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावतीयं त्रयी विद्या तावद्व जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ २ ॥**

ऋचः (ऋ+चः =दो, इसी प्रकार), यजूःषि (तीन) और सामानि (तीन) ये भी कुल मिलाकर आठ अक्षर हैं। गायत्री महामन्त्र का द्वितीय पाद भी आठ अक्षरों से युक्त है। यह वेदत्रयी ऋक्, यजुः और साम ही गायत्री का द्वितीय पाद (भर्गो देवस्य धीमहि) है। इस प्रकार से जानने वाला ज्ञानी त्रयी विद्या की उपासना का फल प्राप्त कर लेता है ॥ २ ॥

प्राणोऽपानो व्यान इत्यष्टवक्षराण्यष्टाक्षरः ह वा एकं गायत्रै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदिदं प्राणि तावद्व जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेदाथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति यद्वै चतुर्थं तत्तुरीयं दर्शतं पदमिति ददृश इव ह्योष परोरजा इति सर्वमु ह्यैवैष रज उपर्युपरि तपत्येवं हैव श्रिया यशसा तपति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ ३ ॥

प्राण (प्रा+ण = दो, इसी प्रकार), अपान (तीन) और व्यान (वि+आ+न=तीन), यह भी आठ अक्षर हैं। आठ अक्षरों से युक्त (यियो यो नः प्रचोदयात्) गायत्री का तृतीय पाद है। गायत्री के इस तीसरे पाद को जानने वाला (इसकी उपासना करने वाला) व्यक्ति समस्त प्राणि-समुदाय को जीत लेता है। इसके अतिरिक्त चतुर्थ दर्शत (दिखने वाला) पाद होता है। यह चतुर्थ पाद (परो रजसे सावदोम्) तुरीय कहलाता है। यह दृष्ट (दर्शनीय) जैसा है, अतः दर्शत पद है, यही 'परो रजा' है। यह सभी रज (लोकों) से परे (ऊपर) रहकर तपता-चमकता है। गायत्री के चतुर्थ पाद को इस प्रकार से जो जानता है, वह यशस्वी होता हुआ सुशोभित होता है ॥ ३ ॥

[ गायत्री का चतुर्थ पद 'परो रजसे सावदोम्' भी आठ अक्षरों वाला कहा गया है। विश्वामित्र कल्प्य तथा प्राचीन संध्या प्रयोगों में इसका उल्लेख मिलता है। उपनिषद् का कथन है कि गायत्री के तीन पाद ही जपनीय हैं, यह चौथा पाद 'दर्शत' पद- देखा जाने वाला- अनुभूतिगम्य कहा गया है। इसका पदच्छेद होता है- परो रजसे- असो- अदः ॐ अर्थात् रजस् पदार्थ या प्रकाश से परे यह और वह सब ॐ अक्षररूप ब्रह्म ही है। जब साधक के प्राणों के स्पन्दन गायत्री के तीन पदों से एकात्मता स्थापित कर लेते हैं, तो चौथे पद का आभास-अनुभव होने लगता है। इसलिए इसे दर्शत पद कहा है। ]

सैषा गायत्र्येतस्मिःस्तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता तद्वैतत्सत्ये प्रतिष्ठितं चक्षुर्वै सत्यं चक्षुर्हि वै सत्यं तस्माद्यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयातामहमदर्शमहमश्रौषमिति य एवं ब्रूयादहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्ध्याम तद्वै तत्सत्यं बले प्रतिष्ठितं प्राणो वै बलं तत्प्राणे प्रतिष्ठितं तस्मादाहुर्बलं सत्यादोजीय इत्येवं वैषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता सा हैषा गयाःस्तत्रे प्राणा वै गयास्तत्प्राणाःस्तत्रे तद्यद्याःस्तत्रे तस्मादगायत्री नाम स यामेवामूः सावित्रीमन्वाहैषैव स यस्मा अन्वाह तस्य प्राणाःस्त्रायते ॥ ४ ॥

यह गायत्री इस दर्शत पद (दर्शनीय चतुर्थ पद) में स्थित है। वह पद सत्य में स्थित है। नेत्र ही सत्य है, सुनिश्चित रूप से नेत्र ही सत्य है। इस कारण यदि दो व्यक्ति आपस में 'मैंने देखा है', 'मैंने सुना है' इस प्रकार का विवाद करते हुए आएँ और उनमें से जो यह कहे कि 'मैंने देखा है', उसी का हमें विश्वास होगा। इस प्रकार वह सत्य बल में प्रतिष्ठित है। प्राण ही बल है, अतः यह सत्य प्राण में स्थित है। इसी कारण सत्य की अपेक्षा प्राण अधिक बलवान् है। इस प्रकार यह गायत्री प्राण में स्थित है। इस गायत्री ने गयों (प्राणों) का त्राण किया। प्राण ही गय है, उन प्राणों का इस (गायत्री) ने त्राण किया। इसीलिए इसे 'गायत्री' कहते हैं। आचार्य जिन ब्रह्मचारियों को इसका उपदेश देते हैं, यह (गायत्री) उन सभी के प्राणों का त्राण करती है ॥ ४ ॥

ताः है तामेके सावित्रीमनुष्टुभमन्वाहुर्वाग्नुष्टुवेतद्वाचमनुब्रूम इति न तथा कुर्यादगायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयाद्यदिह वा अप्येवंविद्विव प्रतिगृह्णाति न हैव तद्वायत्र्या एकंचन पदं प्रति ॥ ५ ॥

कोई-कोई आचार्य अनुष्टुप् छन्द वाली सावित्री का उपदेश करते हैं। वे कहते हैं कि वाणी ही अनुष्टुप् है, अतः हम वाक् का ही उपदेश करते हैं। अन्य आचार्यों के मत से ऐसा उचित नहीं है। अतः गायत्री छन्दवाली सावित्री का ही उपदेश करना चाहिए। इस प्रकार से जानने वाला जो व्यक्ति साधनों का अधिकाधिक संग्रह करे, तब भी वह गायत्री महामन्त्र के एक पाद के फल के समान भी नहीं है ॥ ५ ॥

[ गायत्री छन्द वाला- आठ-आठ अक्षरों से युक्त तीन पदों वाला गायत्री मंत्र ही गुरु मंत्र के रूप में उपनिषद् द्वारा स्वीकार्य है। इससे स्पष्ट होता है कि चतुर्थ चरण युक्त गायत्री मंत्र अथवा अन्य छन्दों वाले गायत्री मंत्र 'गुरु मंत्र' के रूप में दिया जाना और प्रयुक्त किया जाना उचित नहीं है। किसी विशेष प्रयोजन की पूर्ति के लिए ही इसका प्रयोग किया जाना चाहिए। ]

स य इमाः स्त्रीं लोकान्पूर्णान्प्रतिगृहीयात्सोऽस्या एतत्प्रथमं पदमाप्नुयादथ यावतीयं त्रयी विद्या यस्तावत्प्रतिगृहीयात्सोऽस्या एतद्द्वितीयं पदमाप्नुयादथ यावदिदं प्राणि यस्तावत्प्रतिगृहीयात्सोऽस्या एतत्तृतीयं पदमाप्नुयादथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति नैव केनचनाप्यं कुत उ एतावत्प्रतिगृहीयात् ॥ ६ ॥

जो व्यक्ति इन तीनों लोकों के सम्पूर्ण वैभव को दान रूप में ग्रहण करता है, उसका वह (दान) इस गायत्री के प्रथम पाद की उपासना के तुल्य है। यह जो त्रयी (वेद) विद्या है, इसको जो प्रतिग्रह (दान) रूप में ग्रहण करता है, वह दान गायत्री के द्वितीय पाद की उपासना के फल की समानता करता है तथा जो समस्त प्राणि -समुदाय को ग्रहण करता है, वह गायत्री के तृतीय पाद का फल प्राप्त करता है। 'दर्शत परो रजा' यह चतुर्थ पद है, जो कि सभी से ऊपर चमकता है। यह किसी के द्वारा सुलभ (सेवनीय) नहीं है। इस चतुर्थ पाद की समानता किसी भी प्रतिग्रह (दान) से नहीं हो सकती है ॥ ६ ॥

[ यहाँ गायत्री का उपस्थान दिया गया है। उपस्थान का अर्थ है- उप- समीप पहुँचकर की गयी स्तुति। सामान्य स्थिति में गायत्री महाशक्ति का आवाहन करके उनकी निकटता की अनुभूति के साथ यह भाव स्तुति की जाती है। उच्च स्थिति में जब साधक के प्राण परिष्कृत होकर गायत्री महाशक्ति का स्पर्श करते हैं, तब उपस्थान की स्थिति बनती है। ]

तस्या उपस्थनं गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पदपदसि नहि पद्यसे नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसेऽसावदो मा प्रापदिति यं द्विष्यादसावस्मै कामो मा समृद्धीति वा न हैवास्मै स कामः समृद्ध्यते यस्मा एवमुपतिष्ठतेऽहमदः प्रापमिति वा ॥ ७ ॥

उस गायत्री का उपस्थान इस प्रकार है- हे गायत्री! तीन लोकरूप प्रथम पाद से आप एक पदो हैं। त्रयी विद्या (तीनों वेद) रूपी द्वितीय पाद से आप द्विपदा हैं। प्राण, अपान और व्यान रूपी तृतीय पाद से आप त्रिपदा हैं तथा तुरीय पाद से आप चतुष्पदी हैं। इन सभी से ऊपर निरुपाधिरूप से आप पदरहित अर्थात्

निर्गुण हैं; क्योंकि आपको किन्हीं साधनों से नहीं जाना जा सकता है। सभी लोकों के ऊपर स्थित आपके दर्शनीय तुरीय पद को नमन है। यह (संसारगत) पापरूपी शत्रु अपने कार्य में सफलता न प्राप्त करे। इस तरह, से विद्वान् व्यक्ति जिससे द्वेष करता हो, 'उसकी कामना पूरी न हो' इस प्रकार उपस्थान करे अथवा 'मैं' इस वस्तु विशेष को प्राप्त करूँ, इस कामना से उपस्थान करे ॥ ७ ॥

एतद्व वै तज्जनको वैदेहो बुडिलमाश्वतराश्विमुवाच यन्त्रु हो तद्वायत्रीविदब्रूथा अथ कथः हस्तीभूतो वहसीति मुखः ह्यस्याः सप्नाण्न विदांचकारेति होवाच तस्या अग्निरेव मुखं यदिह वा अपि बह्विवाग्नावभ्यादधति सर्वमेव तत्पंदहत्येवः हैवैवंविद्यद्यपि बह्विव पापं कुरुते सर्वमेव तत्संप्साय शुद्धःपूतोऽज्जरोऽमृतः संभवति ॥ ८ ॥

विदेहराज जनक ने (अश्वतराश्व के पुत्र) बुडिल आश्वतराश्व से यह कहा था कि तुमने अपने आपको गायत्री महाविद्या का ज्ञाता कहा था, फिर हाथी बनकर भार क्यों वहन करते हो? ऐसा सुनकर उसने कहा- हे सप्नाट! मैं इस (गायत्री महाशक्ति) का मुख नहीं जानता था। (तदनन्तर जनक ने कहा-) इस (गायत्री महाशक्ति) का मुख 'अग्नि' है। जिस प्रकार अग्नि में जो भी (ईंधन) डाला जाता है, वह सब भस्म हो जाता है, ठीक उसी प्रकार गायत्री विद्या के निष्णात व्यक्ति को विविध कर्म करने पड़े हों, तब भी सभी पापों को जलाकर (शुद्ध कर्म भावना से) शुद्ध, पवित्र, जरा रहित-अजर और अपर हो जाता है ॥

## ॥ पञ्चदशं ब्राह्मणम् ॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् । तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये । पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि । वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तः शरीरम् । ॐ ३ क्रतो स्मर कृतःस्मर क्रतो स्मर कृतः स्मर । अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥ ९ ॥

सत्यरूपी ब्रह्म का मुख ज्योतिर्मय स्वर्णपात्र से आच्छादित है। हे विश्व के पोषक सूर्यदेव! सत्य धर्म के दर्शन के लिए मैं उसे देख सकूँ, इसलिए आप उस (पर से) आवरण को हटा दें। हे पूषन् (पोषणकर्ता)! हे एकर्षे (सर्वदृष्टि)! हे यम! हे सूर्य! हे प्राजापत्य! आप अपनी रश्मियों को समेटकर तेज को कम कर लें, जिससे आपका जो अतिकल्याणकारी रूप है, उस रूप को मैं देख सकूँ। यह जो आदित्यमण्डल में स्थित पुरुष है, वह अमृतस्वरूप मैं ही हूँ। प्राणवायु इस बाहर की वायु को तथा यह शरीर भस्मावशेष होकर पृथ्वी को प्राप्त करे। यह अमृत (आत्मा) आपको समर्पित है। हे प्रणवरूप विश्वकर्ता! स्मरण करें (मेरा ध्यान को प्राप्त करे)। यह अमृत (आत्मा) आपको समर्पित है। हे क्रतुरूप (जीवात्मा)! जो भी स्मरण करने योग्य है, रखें। मैंने जो भी कर्म किया है, उसका स्मरण करें। हे क्रतुरूप (जीवात्मा)! जो भी स्मरण करने योग्य है, रखें। किये हुए कृत्य का स्मरण करें। हे अग्निदेव! आप हमें कर्मफल की प्राप्ति हेतु सुन्दर उसी का स्मरण करें। किये हुए कृत्य का स्मरण करें। हे देव! आप हमारे सभी कर्मों को जानने वाले हैं। हमारे कुटिल पापों को पथ (देवयान मार्ग) से ले चलें। हे देव! आप हमारे सभी कर्मों को जानने वाले हैं। हमारे कुटिल पापों को दूर करें (नष्ट करें)। हम आपको बार-बार नमन करते हैं ॥ ९ ॥

## ॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

## ॥ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ॥ १ ॥

जो ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ को जानने में सक्षम है, वह अपनी जाति में ज्येष्ठ(बड़ा) एवं श्रेष्ठ है। जो भी व्यक्तिइस तरह से (ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ की) उपासना करता है, वह व्यक्ति अपनों के बीच में तथा जिन लोगों के बीच चाहता है, उन सभी में श्रेष्ठता और महानता को प्राप्त करता है ॥ १ ॥

यो ह वै वसिष्ठां वेद वसिष्ठः स्वानां भवति वाग्वै वसिष्ठा वसिष्ठः स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ॥ २ ॥

जो वसिष्ठ (श्रेष्ठता) को जानता है, वह स्वजनों के बीच में वसिष्ठ (श्रेष्ठ) होता है। वाणी ही श्रेष्ठ है। जो (व्यक्ति) इस तरह से वाणी की उपासना करता है, वह अपने आत्मीय जनों में और जिनके प्रति उसकी विशेष चाह (स्नेह) है, उन सभी में वसिष्ठ (श्रेष्ठ) होता है ॥ २ ॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गं चक्षुर्वै प्रतिष्ठा चक्षुषा हि समे च दुर्गं च प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गं य एवं वेद ॥ ३ ॥

जो प्रतिष्ठा को जानने में समर्थ है, वह देश-काल की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता दोनों स्थितियों में प्रतिष्ठित होता है। नेत्र ही प्रतिष्ठा है, क्योंकि नेत्र ही समान अथवा असमान देश-काल में प्रतिष्ठित होते हैं। इस प्रकार से जानने वाला (व्यक्ति) अपनी इच्छा के द्वारा समान अथवा असमान परिस्थितियों में प्रतिष्ठित होता है ॥ ३ ॥

यो ह वै सम्पदं वेद सः हास्मै पद्यते यं कामं कामयते श्रोत्रं वै सम्पच्छोत्रे हीमे सर्वे वेदा अभिसम्पन्नाः सः हास्मै पद्यते यं कामं कामयते य एवं वेद ॥ ४ ॥

जो सम्पद (दैवी सम्पदा) को जानने में समर्थ है, वह अपनी इच्छित कामनाओं को पूर्ण करता है। श्रोत्र ही सम्पद है, क्योंकि श्रोत्र में ही समस्त वेद भली-भाँति समाये हुए हैं। जो इस प्रकार से जानता हुआ, जिस भोग की इच्छा करता है, वह उसे पूर्णरूप से प्राप्त करता है ॥ ४ ॥

यो ह वा आयतनं वेदायतनः स्वानां भवत्यायतनं जनानां मनो वा आयतनमायतनः स्वानां भवत्यायतनं जनानां य एवं वेद ॥ ५ ॥

जो आयतन (आश्रय) को जानने वाला है, वह स्वयं अपने लोगों के लिए और दूसरों के लिए भी आयतन (आश्रय) रूप होता है। मन ही आयतन है, जो भी (व्यक्ति) इस प्रकार जानता है, वह स्वजनों और अन्य दूसरे लोगों को भी आश्रय प्रदान करता है ॥ ५ ॥

यो ह वै प्रजापतिं वेद प्रजायते ह प्रजया पशुभी रेतो वै प्रजापतिः प्रजायते ह प्रजया पशुभिर्य एवं वेद ॥ ६ ॥

जो व्यक्ति प्रजापति (प्रजनन सामर्थ्य) को जानता है, वह प्रजा और पशुओं के रूप में प्रजात अर्थात् वृद्धि को प्राप्त करता है। रेतस्‌ही प्रजापति है, जो इस प्रकार से जानता है, वह प्रजा एवं पशुओं से युक्त होता है ॥ ६ ॥

ते हेमे प्राणा अहः श्रेयसे विवदमाना ब्रह्मा जगमुस्तद्वोचुः को नो वसिष्ठ इति तद्वोवाच यस्मिन्व उत्क्रान्त इदः शरीरं पापीयो मन्यते स वो वसिष्ठ इति ॥ ७ ॥

वागादि समस्त प्राण 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ', इस प्रकार प्रजापति ब्रह्मा जी के पास पहुँच कर पूछने लगे कि हममें से कौन वरिष्ठ (श्रेष्ठ) है? प्रजापति ने कहा- तुममें से जिसके बाहर निकल जाने पर यह शरीर अधिक पापी अर्थात् अपवित्र माना जाता है, वही तुममें से श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

वाग्दोच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशक्त मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथाकला अवदन्तो वाचा प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्शक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाऽसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह वाक् ॥ ८ ॥

सर्वप्रथम वाणी ने शरीर को छोड़ दिया। उस (वागिन्द्रिय) ने एक वर्ष तक बाहर रहने के पश्चात् वापस आकर पूछा- मेरे अभाव में तुम सब कैसे जीवित रहे? यह सुनकर उन्होंने कहा- जिस प्रकार मूक व्यक्ति वाणी से न बोलते हुए भी प्राण से श्वसन क्रिया सम्पन्न करते, चक्षु से देखते, कान से श्रवण करते हैं, मन से जानते हैं और रेतस् (वीर्य) से प्रजा की वृद्धि करते हैं (जीवित रहते हैं), उसी प्रकार हम भी जीवित रहे। ऐसा श्रवण कर वागिन्द्रिय ने शरीर में पुनः प्रवेश किया ॥ ८ ॥

चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशक्त मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा अन्धा अपश्यन्तश्शक्षुषा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाऽसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह चक्षुः ॥ ९ ॥

(वाणी के पश्चात्) चक्षु एक वर्ष के लिए शरीर से बाहर चले गये। एक वर्ष के अनन्तर लौटे और बोले - 'तुम मेरे बिना किस प्रकार जीवित रह सके?' उन्होंने कहा- जैसे अन्धे व्यक्ति नेत्र से न देखते हुए भी प्राण से प्राणन क्रिया सम्पन्न करते, वागिन्द्रिय से बोलते, श्रोत्र से श्रवण करते, मन से मनन करते और रेतस् से प्रजा (सन्तान) की उत्पत्ति करते हुए जीवित रहते हैं, उसी तरह हम भी जीवित रहे। नेत्रों ने इस प्रकार गुनते हुए शरीर में पुनः प्रवेश किया ॥ ९ ॥

श्रोत्रः होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशक्त मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा बधिरा अशृण्वन्तः श्रोत्रेण प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्शक्षुषा विद्वाऽसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥ १० ॥

चक्षु के उपरान्त श्रोत्र ने उत्क्रमण किया। उसने भी एक वर्ष तक शरीर से बाहर रहते हुए, वापस आकर वागादि अन्य इन्द्रियों से पूछा- तुम सब मेरे बिना कैसे जीवन धारण किये रहे? तब उन समस्त इन्द्रियों ने कहा- 'जिस प्रकार बधिर व्यक्ति कानों से श्रवण न करते हुए भी प्राण से श्वास लेते हुए, वाणी इन्द्रियों ने कहा- 'जिस प्रकार बधिर व्यक्ति कानों से श्रवण न करते हुए भी प्राण से श्वास लेते हुए और रेतस् से सन्तान की उत्पत्ति करते हुए जीवन धारण से बोलते हुए, नेत्र से देखते हुए, मन से जानते हुए और रेतस् से सन्तान की उत्पत्ति करते हुए जीवन धारण किए रहते हैं, उसी प्रकार हम भी जीवित रहे'। यह सुनकर श्रोत्र ने पुनः शरीर में प्रवेश किया ॥ १० ॥

मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशक्तत मदृते जीवितुमिति ते  
होचुर्यथा मुग्धा अविद्वाऽसो मनसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्शक्षुषा शृण्वन्तः  
श्रोत्रेण प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह मनः ॥ ११ ॥

इसके बाद मन ने शरीर को छोड़ दिया। एक वर्ष तक शरीर से बाहर रहने के पश्चात् वापस लौटकर पूछा कि तुम मेरे बिना कैसे जीवन धारण करने में समर्थ रहे? तब उन (इन्द्रियों) ने कहा- जैसे पागल (मुग्ध) पुरुष मन से न जानने के कारण अज्ञानी की भाँति रहते हुए भी प्राणों से श्वास-प्रश्वास की क्रिया सम्पन्न करते हैं, कानों से श्रवण करते हैं, चक्षु से देखते हैं, वाणी से बोलते हैं और रेतस् (वीर्य) से प्रजा (सन्तान) उत्पन्न करते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम भी जीवित रहे। ऐसा सुनकर मन ने शरीर में पुनः प्रवेश किया ॥ ११ ॥

रेतो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशक्तत मदृते जीवितुमिति ते  
होचुर्यथा क्लीबा अप्रजायमाना रेतसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्शक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाऽसो मनसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह रेतः ॥ १२ ॥

मन के बाद रेतस् ने शरीर से उल्कमण किया। उस (रेतस्) ने भी एक वर्ष तक शरीर से बाहर रहने के पश्चात् वापस लौटकर पूछा- मेरे बिना तुम कैसे, किस प्रकार जीवित रहे? तब उन इन्द्रियों ने कहा- जैसे नपुंसक व्यक्ति रेतस् के अभाव में सन्तान न उत्पन्न करते हुए भी प्राण से श्वास लेते हुए, वाणी से बोलते हुए, नेत्र से देखते हुए, कानों से श्रवण करते हुए और मन से मनन करते हुए (जीवन धारण किए रहता है), उसी प्रकार हम भी जीवित रहे। इस प्रकार सुनकर रेतस् (वीर्य) ने शरीर में पुनः प्रवेश किया ॥ १२ ॥

अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन्यथा महासुहयः सैन्धवः पद्मीशशंकून्संवृहेदेवः हैवेमान्प्रा-  
णान्संवर्हते होचुर्मा भगव उत्क्रमीर्न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुमिति तस्यो मे बलिं  
कुरुतेति तथेति ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् प्राण शरीर से उल्कमण करने को तत्पर हुए। जैसे सिंधु देश का श्रेष्ठ अश्व पैर बाँधने के खूँटे को उखाड़ डालता है, वैसे ही प्राण ने सभी वागादि इन्द्रियों को अपने स्थान से विचलित कर दिया। उन समस्त वाक् आदि इन्द्रियों ने कहा- भगवन्! आप शरीर से बाहर न निकलें, आपके अभाव में हम जीवित नहीं रह सकते। तदनन्तर (उस) प्राण ने कहा- अच्छा, तुम सभी मुझे बलि (भेट) प्रदान किया करो। इन्द्रियों ने तथास्तु कहते हुए उसे आश्वस्त किया ॥ १३ ॥

सा ह वागुवाच यद्वा अहं वसिष्ठास्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति यद्वा अहं प्रतिष्ठास्मि त्वं  
तत्प्रतिष्ठोऽसीति चक्षुर्यद्वा अहं संपदस्मि त्वं तत्संपदसीति श्रोत्रं यद्वा अहमायतनमस्मि  
त्वं तदायतनमसीति मनो यद्वा अहं प्रजातिरस्मि त्वं तत्प्रजातिरसीति रेतस्तस्यो मे किमत्रं  
किं वास इति यदिदं किंचाश्वभ्य आकृमिभ्य आ कीटपतङ्गेभ्यस्तत्तेऽन्नमापो वास इति न  
ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं परिगृहीतं य एवमेतदनस्यान्नं वेद तद्विद्वाऽसः श्रोत्रिया  
अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाचामन्त्येतमेव तदनमनग्रं कुर्वन्तो मन्यन्ते ॥ १४ ॥

उस वागिन्द्रिय ने कहा- मुझमें जो श्रेष्ठता है, अब तुम ही उस वसिष्ठ गुण से सम्पन्न हो। ऐसे ही नेत्र ने भी कहा- मैं जो प्रतिष्ठा रूप हूँ, अब तुम ही उस प्रतिष्ठा के गुण से सम्पन्न हो। श्रोत्र ने भी कहा- मैं जो सम्पदा रूप हूँ, अब तुम ही उस सम्पदा के गुण से युक्त हो। (तत्पश्चात्) मन ने कहा- मैं जो आश्रय रूप हूँ, अब तुम ही उस आश्रय के गुणों से सम्पन्न हो। (तदनन्तर) रेतस् ने कहा- मैं जो सन्तानोत्पत्ति कर्ता हूँ, अब तुम ही उस प्रजा की उत्पत्ति के गुणों से सम्पन्न हो। (इसके बाद) प्राण ने प्रश्न किया कि मेरा अन्न और वस्त्र क्या होगा? तब उन वाक् आदि इन्द्रियों ने कहा- कीट-पतंगादि से लेकर जितने देहधारी हैं, वे सब तुम्हारे अन्न होंगे और जल ही तुम्हारा उपवीत होगा। प्राण के इस अन्न को इस तरह से जानने वाले का भक्षित अन्न अभक्ष्य नहीं होता। जल को वस्त्र रूप में जानने वाले मनीषीण जल का आचमन करके ही भोजन ग्रहण करते हैं। प्राण को वस्त्र से रहित नहीं होने देते ॥ १४ ॥

## ॥ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

**श्वेतकेतुर्ह वा आरुणोयः पञ्चालानां परिषदमाजगाम स आजगाम जैवलिं प्रवाहणं परिचारयमाणं तमुदीक्ष्याभ्युवाद कुमारः इति स भोऽ इति प्रतिशुश्रावानुशिष्टोऽन्वसि पित्रेत्योमिति होवाच ॥ १ ॥**

आरुण का पुत्र श्वेतकेतु पांचालों की सभा में पहुँचकर सेवकों द्वारा परिचर्या करते हुए जीवल के पुत्र प्रवाहण के समीप आया। श्वेतकेतु को देखकर प्रवाहण ने 'ओ कुमार!' कहते हुए बुलाया। वह बोला- 'भो!' (क्या है?)। प्रवाहण ने प्रश्न किया- क्या तुम्हारे पिता ने तुम्हें शिक्षा दी है? श्वेतकेतु ने कहा- 'हाँ'।

**वेत्थ यथेमाः प्रजाः प्रयत्यो विप्रतिपद्यन्ता ३ इति नेति होवाच वेत्थो यथेमं लोकं पुनरापद्यन्ता ३ इति नेति हैवोवाच वेत्थो यथासौ लोक एवं बहुभिः पुनः पुनः प्रयद्धिर्न संपूर्यता ३ इति नेति हैवोवाच वेत्थो यतिथ्यामाहुत्याः हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्ती ३ इति नेति हैवोवाच वेत्थो देवयानस्य वा पथः प्रतिपदं पितृयाणस्य वा यत्कृत्वा देवयानं वा पन्थानं प्रतिपद्यन्ते पितृयाणं वापि हि ऋषेर्वचः श्रुतम् द्वे सृती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् । ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं चेति नाहमत एकं चन वेदेति होवाच ॥ २ ॥**

(प्रवाहण ने पूछा-) प्रजा (जीवात्मा) शरीर को त्यागने के पश्चात् भिन्न-भिन्न मार्गों से गमन करती है, क्या तुम यह जानते हो? श्वेतकेतु ने उत्तर दिया- 'नहीं'। (राजा ने पुनः प्रश्न किया-) वह पुनः इस लोक में आती है, तो क्या यह तुम्हें जात है? श्वेतकेतु ने फिर कहा 'नहीं'। (राजा ने फिर प्रश्न किया-) इस तरह असंख्यों मरकर गये हुए प्राणियों के गमन करने से वह लोक भरता क्यों नहीं? उसने उत्तर दिया उठने एवं बोलने में समर्थ हो जाता है? उसने उत्तर दिया- नहीं जानता। (प्रश्न पूछा गया-) देवयान मार्ग यह का कर्मरूपी साधन अथवा पितृयान का कर्मरूपी साधन कैसे प्राप्त होता है? क्या तुमने ऋषियों की यह वाणी सुनी है कि पितरों एवं देवताओं के इस प्रकार के दो मार्ग हैं। ये दोनों मार्ग मनुष्य से सम्बन्ध रखने वाणी सुनी है कि पितरों एवं देवताओं के इस प्रकार के दो मार्ग हैं।

वाले हैं। इन दोनों मार्गों से गमन करने वाला जगत् ठीक प्रकार से गमन करता है, साथ ही ये मार्ग पिता और माता अर्थात् (द्युलोक और पृथ्वी लोक) के मध्य में हैं। ऐसा सुनने के पश्चात् श्वेतकेतु ने कहा- मैं इनमें से एक भी प्रश्न का उत्तर नहीं जानता हूँ॥ २॥

अर्थैनं वसत्योपमन्नयांचक्रेऽनादृत्य वसतिं कुमारः प्रदुद्राव स आजगाम पितरं  
तःहोवाचेति वाव किल नो भवान्पुरानुशिष्टानवोचदिति कथः सुमेध इति पञ्च मा प्रश्नान्  
राजन्यबन्धुप्राक्षीत्ततो नैकंचन वेदेति कतमे त इतीम इति ह प्रतिकान्युदाजहार ॥ ३॥

इसके पश्चात् राजा ने श्वेतकेतु से रुकने के लिए निवेदन किया, लेकिन वह कुमार राजा के द्वारा की गई प्रार्थना की उपेक्षा करके चला गया। वह कुमार अपने पिता के समक्ष आकर बोला- आपने यह कहा था कि तुझे सभी विषयों की शिक्षा दे दी गयी है? (ऐसा सुनकर श्वेतकेतु के पिता ने कहा- ) हे श्रेष्ठ बुद्धि वाले! क्या हुआ? कुमार ने कहा- उस (राजा) ने मुझसे पाँच प्रकार के प्रश्न पूछे थे; किन्तु मैं उनमें से एक का भी उत्तर नहीं दे सका। पिता ने पूछा- वे कौन से प्रश्न थे? पुत्र ने 'ये थे' इस प्रकार कहते हुए उन सभी प्रश्नों के प्रारूप बता दिये ॥ ३॥

स होवाच तथा नस्त्वं तात जानीथा यथा यदहं किंचन वेद सर्वमहं तत्तुभ्यमवोचं  
प्रेहि तु तत्र प्रतीत्य ब्रह्मचर्यं वत्स्याव इति भवानेव गच्छत्विति स आजगाम गौतमो यत्र  
प्रवाहणस्य जैवलेरास तस्मा आसनमाहत्योदकमाहारयांचकाराथ हास्मा अर्ध्यं चकार  
तः होवाच वरं भगवते गौतमाय दद्य इति ॥ ४॥

श्वेतकेतु से उसके पिता ने कहा कि हे तात! हम जो कुछ भी जानते थे, वह सभी तुमको बता दिया था। अब हम दोनों ही उस क्षत्रिय बन्धु के पास चलकर ब्रह्मचर्य के व्रत को धारण करते हुए उसके समक्ष निवास करेंगे। पुत्र ने कहा- 'आप ही उनके पास जाएँ।' ऐसा सुनकर वह गौतम (श्वेतकेतु के पिता) जहाँ जैवलि प्रवाहण का कक्ष था, वहाँ पहुँचे। उसके लिए आसन प्रदान करते हुए राजा ने (सेवकों से) जल माँगकर अर्ध्य समर्पित किया। तत्पश्चात् बोले मैं पूज्य गौतम को वर प्रदान करता हूँ अर्थात् आपका प्रयोजन पूर्ण करने के लिए तत्पर हूँ॥ ४॥

स होवाच प्रतिज्ञातो म एष वरो यां तु कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तां मे ब्रूहीति ॥

उस (श्वेतकेतु के पिता) ने कहा- हे राजन्! आपने वर प्रदान करने के लिए प्रतिज्ञा की हैं। उसके अनुसार मैं कहता हूँ कि कुमार (श्वेतकेतु) से जो प्रश्न किये थे, वही प्रश्न आप मुझसे पूछने की कृपा करें॥ ५॥

स होवाच दैवेषु वै गौतम तद्वरेषु मानुषाणां ब्रूहीति ॥ ६॥

राजा प्रवाहण ने कहा- हे गौतम! वह वर तो देवताओं के श्रेष्ठ वरों में से है। इसलिए आप मनुष्यों से सम्बन्धित वरों में से कोई भी वर माँग लो॥ ६॥

स होवाच विज्ञायते हास्ति हिरण्यस्यापात्तं गोअश्वानां दासीनां प्रवाराणां परिधानस्य  
मा नो भवान्बहोरनन्तस्यापर्यन्तस्याभ्यवदान्योऽभूदिति स वै गौतम तीर्थेनेच्छासा इत्युपैम्यहं  
भवन्तमिति वाचा ह स्मैव पूर्वं उपयन्ति स होपायनकीर्त्योवास ॥ ७॥

गौतम ने कहा- आप को मालूम है कि मेरे पास तो वह सभी कुछ हैं; जैसे- स्वर्ण, गौ, अश्व,

परिचारिकाएँ, परिवार एवं वस्त्राभूषण आदि। इसलिए आप श्रेष्ठ एवं अनन्त फलों से युक्त तथा कभी भी नष्ट न होने वाला वर प्रदान करें। (राजा ने कहा- ) हे गौतम! तुम शास्त्र द्वारा कही हुई रीति से उसे प्राप्त करने की इच्छा करो। (गौतम ने कहा- ) 'अच्छा' ठीक है। मैं आपके समीप में शिष्य भाव से शिक्षा प्राप्ति के लिए उपस्थित हुआ हूँ। पूर्वकाल में ब्राह्मण वाणी से ही क्षत्रिय आदि के पास उपस्थित होते थे। इस प्रकार गौतम भी कथन मात्र करके उस गुरु के समीप शिष्यभाव से रहने लगे ॥ ७ ॥

स होवाच यथा नस्त्वं गौतम मापराधास्तव च पितामहा यथेयं विद्येतः पूर्वं न कस्मिंश्चन ब्राह्मण उवास तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि को हि त्वैवं ब्रुवन्तमर्हति प्रत्याख्यातुमिति ॥ ८ ॥

राजा ने कहा- हे गौतम! जैसे तुम्हरे पूर्वजों ने (पितामह आदि ने) हमारे महान् पूर्वजों के अपराध को स्वीकार नहीं किया था, उसी प्रकार तुम भी मेरी अवज्ञा न करना। यह विद्या इससे पहले और किसी भी ब्राह्मण के पास नहीं रही। इस श्रेष्ठ विद्या को मैं तुम्हरे लिए कहता हूँ; क्योंकि तुम्हारी नम्रता युक्त इस प्रकार की प्रार्थना का निषेध करने में कोई भी समर्थ नहीं हो सकता ॥ ८ ॥

असौ वै लोकोऽग्निर्गांतम तस्यादित्य एव समिद्रशमयो धूमोऽहरचिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुत्यै सोमो राजा संभवति ॥ ९ ॥

हे गौतम! यह द्युलोक ही अग्नि है। आदित्य ही उस (अग्नि) की समिधा (ईधन) है। रश्मियाँ ही धूम्र (धुआँ) हैं, दिन ही ज्वालाएँ हैं, दिशाएँ ही अङ्गार हैं तथा अवान्तर दिशाएँ ही चिनगारियाँ हैं, ऐसे महान् गुणों से युक्त द्युलोक रूपी इस अग्नि में देवताओं के समूह श्रद्धारूप आहुतियाँ प्रदान करते हैं, उन आहुतियों से ही राजा सोम का प्रादुर्भाव होता है ॥ ९ ॥

पर्जन्यो वाग्निर्गांतम तस्य संवत्सर एव समिदध्राणि धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा हादुनयो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमः राजानं जुह्वति तस्या आहुत्यै वृष्टिः संभवति ॥ १० ॥

हे गौतम! पर्जन्य (अर्थात् मेघ) ही अग्नि है। संवत्सर ही उसकी समिधा है, अभ्र (बादल) ही धुआँ है, विद्युत् ही ज्वाला के रूप में है, अशनि (अर्थात् इन्द्र का वज्र) ही अङ्गारे हैं और मेघ की गर्जना ही विस्फुलिङ्ग (चिनगारी) हैं। इस प्रकार इस अग्नि में समस्त देवता, सोम राजा (वाष्प) की आहुति देते हैं, इस आहुति से ही वर्षा होती है ॥ १० ॥

अयं वै लोकोऽग्निर्गांतम तस्य पृथिव्येव समिदग्निर्धूमो रात्रिरचिश्चन्द्रमाङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वृष्टिं जुह्वति तस्या आहुत्या अन्नः संभवति ॥ ११ ॥

हे गौतम! यह लोक ही अग्नि है। इस (अग्नि) की समिधा पृथ्वी है, अग्नि धूम्र है, रात्रि ज्वाला है, चन्द्रमा अङ्गार एवं नक्षत्र ही चिनगारियाँ हैं। इस दिव्य अग्नि में देवगण वर्षा की आहुतियाँ प्रदान करते हैं। उन आहुतियों से ही श्रेष्ठ अन्न का प्रादुर्भाव होता है ॥ ११ ॥

पुरुषो वाऽग्निर्गीतम तस्य व्याज्ञमेव समित्प्राणो धूमो वागर्चिश्वक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं  
विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुत्ये रेतः संभवति ॥ १२ ॥

हे गौतम ! पुरुष ही अग्नि है । उसका खुला हुआ मुँह ही समिधा एँ हैं । प्राण ही धुआँ है, वाणी ही ज्वाला है, चक्षु ही अङ्गरे हैं और श्रोत्र ही विस्फुलिङ्ग (चिनगारी) हैं । इस (श्रेष्ठ दिव्य) अग्नि में ही समस्त देवता अन्न का होम करते हैं । उस (अन्न) की आहुति से ही रेतस् (वीर्य) प्रकट होता है ॥ १२ ॥

योषा वा अग्निर्गीतम तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरचिर्यदन्तः करोति  
तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुत्ये पुरुषः  
संभवति स जीवति यावज्जीवत्यथ यदा प्रियते ॥ १३ ॥

हे गौतम ! स्त्री ही अग्नि है । उसका उपस्थ (उत्पादक अंग) ही समिधा है, लोम समूह ही धुआँ है, योनि ही ज्वाला है, सहवास ही अङ्गरे और आनन्द ही चिनगारी है । इस अग्नि में सभी देव समूह रेतस् (वीर्य) की आहुति करते हैं । उस यजन कृत्य से पुरुष की उत्पत्ति होती है । वह जीवन धारण किये रहता है, जब तक कर्म शेष रहते हैं, तब तक ही जीवित रहता है और जब मृत्यु को प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

अथैनमग्नये हरन्ति तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्प्रमिद्धूमो धूमोऽर्चिरचिरङ्गारा अङ्गारा  
विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः पुरुषं जुह्वति तस्या आहुत्ये पुरुषो  
भास्वरवर्णः संभवति ॥ १४ ॥

तब इसे अग्नि के समक्ष ले जाते हैं । उस (आहुतिभूत पुरुष) का अग्नि ही अग्निरूप होता है, समिधाएँ ही समिधा रूप होती हैं । धूम ही धुआँ रूप होता है, ज्वाला ही ज्वाला होती है, अङ्गार ही अङ्गरे होते हैं और चिनगारियाँ ही विस्फुलिङ्ग होते हैं । इस अग्नि में देवता लोग पुरुष की ही आहुति देते हैं । उस आहुति द्वारा ही मनुष्य तेजोमय रूप वाला होता है ॥ १४ ॥

ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धाः सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह  
आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षणमासानुदङ्गदित्य एति मासेभ्यो देवलोकं  
देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं तान्वैद्युतान्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति ते  
तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः ॥ १५ ॥

इस प्रकार जो (गृहस्थ और वानप्रस्थी) इस (पञ्चाग्नि विज्ञान) को जानते हैं और अरण्य (वन) में श्रद्धासिक्त हृदय से सत्य (ब्रह्म) की उपासना करते हैं, वे आर्चिषी अवस्था अथवा ज्योति के अभिमानी देव को प्राप्त करते हैं, इससे (आर्चिषी से) वे आहिक को अर्थात् दिन के अभिमानी देवता को प्राप्त करते हैं, आहिक से शुक्लपक्ष को, शुक्लपक्ष से उत्तरायण वाले छः महीनों को, षण्मासों से देवलोक को, देवलोक से आदित्य को, आदित्य से वैद्युत (विद्युत् सम्बन्धी देवता) को, वैद्युत से एक मानस पुरुष इन्हें ब्रह्मलोक में ले जाता है । वे उस ब्रह्मलोक में दीर्घकाल तक निवास करते हैं । उनका पुनरावर्त्तन (अर्थात् पुनर्जन्म) नहीं होता ॥ १५ ॥